प्रतापरुद्रयशोभूषण का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

इरा मालवीय

निर्देशक

डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय
प्रोफेसर संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९१

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

—

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध मेरे श्रम एवं उत्साह का प्रतिफल है । आरम्भ से ही साहित्यिक अभिरुचि होने के कारण स्नातकोत्तर उत्तरार्द्ध में मैंने साहित्य-श्री का विशिष्ट विषय के रूप में चयन किया । साहित्य के साथ-साथ मेरी साहित्य-शास्त्र में भी रुचि थी । अत: यही कारण है कि मुझे 'प्रतापरुद्र-यशोभूषण का समीक्षात्मक अध्ययन' मनोनुकूल विषय पर शोध-कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

प्रतापरुद्रयशोभूषण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ के नाम यथा प्रतापरुद्रयशोभूषण अथवा प्रतापरुद्रीयम् से यह ज्ञात नहीं हो पाता कि यह ग्रन्थ किस प्रकृति का है । प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य विद्यानाथ ने काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्र द्वितीय का गुणगान किया है । लौकिक संस्कृत साहित्य में प्रारम्भिक युग से ही हमें कुछ कवियों के द्वारा रचित काव्य में अपने आश्रयदाताओं का गुणगान दृष्टिगत होता है । हर्षचरित आदि ग्रन्थ इसी कोटि के हैं । सम्भवत: इन्हीं ग्रन्थों से प्रभावित होकर काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यशोभूषण परम्परा का आविर्भाव हुआ और काव्य-शास्त्रियों ने काव्यशास्त्रीय तत्वों के उदाहरण में अपने आश्रयदाताओं के प्रशंसापरक पद्यों का निर्माण किया ।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विद्याधर कृत एकावलि (१४ वीं शताब्दी) यशोभूषण शैली पर लिखा गया प्रथम ग्रन्थ है । इसके अनन्तर विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषण ग्रन्थ की रचना की जिसमें ग्रन्थ का अभिधान भी अपने आश्रयदाता के नाम के आधार पर रखा । आधुनिक युग में विशेषत: संस्कृत काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में यशोभूषण ग्रन्थों की बहुलता दृष्टिगत होती है । इस काल में अन्य भारतीय भाषाओं जैसे हिन्दी इत्यादि में भी शिवराजभूषण आदि यशोभूषण ग्रन्थों की रचना हुई । इस काल के संस्कृत काव्यशास्त्रीय यशोभूषण ग्रन्थों को चार भागों में बांटा जा सकता है -- १- कुछ आचार्यों ने अपने

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के नाम आश्रयदाताओं के नाम पर रखे हैं और समस्त उदाहरणों में अपने आश्रयदाताओं के ही गुणों की प्रशंसा की है जैसे -- विद्यानाथ विरचित प्रतापरुद्रयशोभूषण, नरसिंह विरचित नञ्जराजयशोभूषण आदि । २- कुछ आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के समस्त उदाहरणों में अपने आश्रयदाताओं की गुणप्रशंसा तो की, किन्तु ग्रन्थ का नाम सामान्य ही रखा जैसे - देवशंकरपुरोहित का अलंकारमञ्जूषा, कल्याण सुब्रह्मण्य कृत अलंकार कौस्तुभ आदि । ३- कुछ आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के मात्र कुछ उदाहरणों में ही अपने आश्रयदाताओं का गुणगान किया है जैसे - विश्वेश्वर पाण्डेय कृत अलंकारमुक्तावली आदि । ४- कुछ आचार्यों ने उदाहरणों में अपने आराध्य देव अथवा गुरू की स्तुति की है ।

प्रतापरुद्रयशोभूषण में विद्यानाथ ने त्रिलिङ्ग (वर्तमान तेलंगाना) के काकतीय महाराज प्रतापरुद्रदेव द्वितीय, जो कि उनके आश्रयदाता थे, की गौरवगाथा का वर्णन किया है । इस ग्रन्थ में कुल ६ अध्याय हैं जिन्हें प्रकरण कहा गया है । इन प्रकरणों में काव्य के विभिन्न अंगों, जिनमें नाट्य भी सम्मिलित हैं, के विषय में लिखा है । विद्यानाथ की कृति के मुख्य आधार काव्य-प्रकाश, अलङ्कारसर्वस्व, नाट्यशास्त्र, दशरूपक तथा सरस्वतीकंठाभरण हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेखनीय पक्ष यह है कि तीसरे प्रकरण में रूपक के भेदों की चर्चा करते समय उदाहरण के रूप में प्रतापरुद्रकल्याण नामक पंचांकीय नाटक प्रस्तुत किया गया है । जिससे ग्रन्थकार के आश्रयदाता के बारे में बहुत सारी सूचनाएं मिल जाती हैं ।

'प्रतापरुद्रयशोभूषण का समीक्षात्मक अध्ययन' इस शोधप्रबन्ध के अन्तर्गत प्रतापरुद्रयशोभूषण ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास किया गया है । ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग पूर्वाचार्यों का आधार लिया है जैसे कि गुणों के बारे में भोज का, अलंकारों के बारे में रुय्यक का अथवा नाट्यसिद्धान्तों के बारे में धनिक-धनंजय का । अत: शोधप्रबन्ध में इन पूर्वाचार्यों के भी सिद्धान्तों को दिखाने का प्रयास

किया गया है, इन आचार्यों के अतिरिक्त जहां आवश्यकता हुई है वहां अन्य आचार्यों के मत का भी उल्लेख किया गया है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध मेरे सीमित ज्ञान एवं सामर्थ्यानुसार विवेचित है । इसके सम्पन्न होने में समय-समय पर अपने गुरुजनों का मार्गदर्शन तथा शुभेच्छुओं का सहयोग मिलता रहा है । इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम मैं अपने गुरुवर डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूं, जिनकी प्रेरणा से ही इस विषय में मेरी रुचि जागृत हुई तथा जिनके निर्देशन में ही यह कार्य सम्पन्न हो सका । अपने परमपूज्य श्री भइया जी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करती हूं जिनके आशीर्वाद से मैं यह कार्य पूर्ण कर पाई हूं । मैं डा० आनन्द कुमार श्रीवास्तव के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूं जिन्होंने समय-समय पर अपने अमूल्य परामर्श से मुझे कृतार्थ किया । इनके अतिरिक्त अपने समस्त विभागीय गुरुजनों, परिवारीजनों, समस्त स्निग्ध सहयोगियों एवं सुहृदों, जिनके आशीर्वादों, शुभकामनाओं एवं प्रेरणाओं का सम्बल इस काल में मुझे मिलता रहा है, उन सबकी मैं हृदय से आभारी हूं और उनके प्रति मैं हार्दिक नमन करती हूं । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के लिखने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद एवं भारती भवन/इलाहाबाद आदि पुस्तकालयों तथा उनके अधिकारियों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूं, जिनके सहयोग से मुझे अनेकशः विभिन्न ग्रन्थों की उपलब्धि होती रही है ।

इस शोधप्रबन्ध के कुशल टंकण हेतु श्री श्यामलाल तिवारी जी को भी मैं धन्यवाद देती हूं जिन्होंने सावधानी के साथ दत्तचित्त होकर शोध-प्रबन्ध के टंकण का कार्य किया, किन्तु फिर भी टाइप प्रक्रिया में यन्त्रगत विवशता के कारण जो कुछ अशुद्धियां रह गई हों उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूं । शोध-प्रबन्ध सम्बन्धी आन्तर या बाह्य उभयविध त्रुटियों के लिए मैं विनम्र भाव से क्षमा प्रार्थी हूं ।

मुझे यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण करने में कुछ अपरिहार्य कारणों से विलम्ब हुआ । फिर भी यदि इसमें विद्वद् वर्ग को मेरा श्रम सार्थक प्रतीत हुआ तो मैं समझूंगी कि मेरा प्रयास वास्तव में सफल रहा । इन शब्दों के साथ प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मैं अपने माता-पिता को समर्पित करती हूं ।

इरा मालवीय

(इरा मालवीय)

मार्च, १९९१

प्रथम अध्याय

-o-

काव्यशास्त्र की परम्परा

काव्यशास्त्र की परम्परा

प्रारम्भ के लगभग १४०० वर्षों तक साहित्यशास्त्र का केन्द्र कश्मीर राज्य था। इसके पश्चात् गुजरात का अनहिलपट्टन राज्य और पूर्व का बङ्ग राज्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के केन्द्र बने। किन्तु १३ वीं-१४ वीं शताब्दी तक साहित्यिक प्रवृत्तियों का केन्द्र दक्षिण भारत में पहुंच गया। दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रदेश में अलङ्कार सम्बन्धी जो साहित्य प्रकाश में आया है उसमें विद्यानाथ के `प्रतापरुद्रयशोभूषण` ग्रन्थ का नाम सर्वोपरि है।

विद्यानाथ का समय -

`प्रतापरुद्रयशोभूषण` ग्रन्थ के प्रणेता विद्यानाथ वारंगल के राजा प्रतापरुद्रदेव द्वितीय के आश्रय में थे। विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ में इन्हीं प्रतापरुद्र की प्रशस्ति में उदाहरण दिये हैं।

प्रतापरुद्रदेव एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं। अत: इनके राज्यकाल को निर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं है। राजा प्रतापरुद्र के पिता का नाम महादेव तथा माता का नाम मुम्मुडी अथवा मुम्मडंबा था। प्रतापरुद्र काकतीय वंश के राजा थे। काकति देवी का भक्त होने के कारण इस वंश को काकतीय कहते थे। त्रिलिंग अथवा आन्ध्र प्रदेश के अन्तर्गत एकशिला उनकी राजधानी थी[1]। प्रतापरुद्र द्वितीय १२९५ ई० में अपनी नानी रुद्राम्बा के बाद सिंहासनारूढ़ हुए थे। प्रतापरुद्र की नानी रुद्राम्बा को उनके पिता गणपति ने अपनी उत्तराधिकारिणी नियुक्त किया था तथा उन्हें पुरुष जैसा नाम रुद्रदेव भी दिया था। काकतीयों के यादवों तथा अन्य राजकुलों से जो युद्धादि होते रहे हैं उनके लिखित वर्णन से प्रतापरुद्र का राज्यकाल १२९० से १३२६ अथवा १२९१ से १३२३ ई० निर्धारित होता है। इनके शिलालेखों की

१- दक्षिणभारत का इतिहास - डा० के० ए० नीलकंठशास्त्री, पृ० २२०

तिथि १२६३ तथा १३१७ ई० के मध्य है । एगलिंग ने १२६८-१३१६ तिथियां दी हैं । सेवेल ने इसे १२६५-१३२३ के मध्य तथा शेषागिरि शास्त्री ने १२६८-१३१६ ई० के मध्य स्थिर किया है ।[1]

प्रतापरुद्र द्वितीय काकतीय वंश के बहुत ही प्रतापी राजा थे उन्होंने यादववंशीय राजाओं को पराजित किया था तथा १३०३-४ और १३२१ ई० में प्रतापरुद्र द्वितीय ने मुस्लिम आक्रमणों को भी विफल किया था । १३१७ ई० में काञ्ची पर आधिपत्य स्थापित किया । प्रसिद्ध विजयनगर राज्य के संस्थापक हरिहर और बुक्का प्रतापरुद्र द्वितीय की सेवा में थे जो कि १३२३ ई० में मुसलमानों द्वारा वारंगल जीत लिये जाने पर कम्पिली चले आये ।[2]

वारंगल के काकतीय संस्कृत तथा विभिन्न विधाओं में रचित संस्कृत साहित्य के बहुत बड़े पोषक थे । राजनैतिक उथल-पुथल ने काकतीय वंश के राजाओं द्वारा साहित्य को जो संरक्षण मिलता था उस पर कोई प्रभाव नहीं डाला । काकतीयों ने संस्कृत एवं तेलुगु साहित्य के उत्कर्ष में बहुत सहायता दी । प्रतापरुद्र द्वितीय स्वयं अच्छे लेखक थे । उन्होंने एक नीति-पुस्तिका की रचना की थी । जिसके उद्धरण सूर्यरचित संग्रह 'सूक्तिरत्नाकर' में मिलते हैं । इसी नीति-पुस्तिका पर तेलुगु की 'बद्दन नीति' आधारित है । साहित्य[3] के पोषक होने से कवियों और लेखकों को भी प्रतापरुद्र का आश्रय प्राप्त हुआ । विद्यानाथ और अगस्त्य पंडित जैसी विभूतियां प्रतापरुद्र के दरबार में थीं । अगस्त्य पंडित चौहत्तर काव्यों के सुप्रसिद्ध लेखक हैं जिनमें बालभरत, कृष्णचरित और नलकीर्तिकौमुदी आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । कई स्थानों पर ऐसा भी कहा

१- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (।)- डा० एस० के० डे, पृ० १६२

२- दक्षिण भारत का इतिहास - डा० के० ए० नीलकंठशास्त्री

३- वही - ,, ,, पृ०३५७

गया है कि विद्यानाथ और अगस्त्य पंडित एक व्यक्ति का नाम है । विद्यानाथ का ही वास्तविक नाम अगस्त्य पंडित था और विद्यानाथ उनकी उपाधि थी । जिसका आधार 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के काव्यप्रकरण का एक श्लोक है । किन्तु डा० वी. राघवन् ने अगस्त्य पंडित और विद्यानाथ को अलग-अलग कवि माना है । उनके अनुसार उक्त श्लोक में जिन अगस्त्य का उल्लेख हुआ है वह पौराणिक ऋषि के सम्बन्ध में है । चाहे जितनी भी काव्यात्मक कल्पना का सहारा क्यों न लिया जाए यहां ऐतिहासिक अगस्त्य पंडित के साथ कोई श्लेष नहीं है[1] । विद्यानाथ की केवल एक ही रचना है - 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' । जिसमें विद्यानाथ ने अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्र के गुणगान के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।

यद्यपि विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ का लक्ष्य ऐतिहासिक वर्णन नहीं रखा है किन्तु फिर भी यदि कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन को (जो कि इस प्रकार के ग्रन्थ के लिए स्वाभाविक है) छोड़ दें तो कई स्थानों पर हमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से संगत हैं ।

विद्यानाथ ने प्रतापरुद्र की पश्चिम, उत्तर-पश्चिम, उत्तर,

---

1. A needless confusion, which had sometime back gained some vogue, took Vidyānātha as a title of Agastya Paṇḍita, another Court. Poet of Pratāparudra and a prolific writer. The view was sought to be supported by verse 60, Aunnatyam yadi Vaṃnyate etc. It is now accepted that the reference to Agastya here is only to the mythica Ṛṣi of that name and beyond a poetic fancy, there is no Śleṣa here with the historical Agastya Paṇḍita.

- प्रतापरुद्रीय - डा० वी० राघवन् की भूमिका, पृ० ७

उत्तरपूर्व, दक्षिण, तथा दक्षिण-पश्चिम के राज्यों यथा गुर्जर, कोंकण, नर्मदा, मालवा, काम्बोज, कश्मीर, पांचाल, कीकत, अंग, गंग, बंग, कलिङ्ग तथा सिंहल आदि की विजय यात्राओं का वर्णन किया है । इनमें से कुछ को संगत माना जा सकता है । क्योंकि प्रतापरुद्र के पूर्वजों ने इनमें से कुछ राज्यों को पराभूत किया था जैसा कि शिलालेखों से स्पष्ट है । जहां तक प्रतापरुद्र का सम्बन्ध है, ग्रन्थ में आये हुए केरल, पांड्य, चोल, हूण, और सेवन कुछ ऐसे नाम हैं जिन पर प्रतापरुद्र ने विजय प्राप्त की[1]।

काकतीय राजशक्ति तमिल प्रदेश में फैली थी और उसका उल्लेख श्रीरंगम् में १३१६ ई० के प्रतापरुद्र के शिलालेख से स्पष्ट होता है । इसी प्रकार कांची का शासक एक काकतीय सामन्त था । पांड्यों ने १३११ ई० में कांची पर आक्रमण कर उसे मार भगाया था । तब प्रतापरुद्र ने तत्काल अपने दो सेनानायकों

१- अनन्तरं यवराजाज्ञया-

वृत्रारातिदिगन्तरालविजयप्रख्यातविक्रान्तय: - - - दिशं दक्षिणाम्

अनन्तरं पाण्ड्यप्रमुखान् दाक्षिणात्यान् क्षितीश्वरान् - - - तै: सह

प्रतीचीं दिशं प्रचलित: ।

पाश्चात्यानां ध्वजेषु - - - - - - कण्डूविडम्ब: ।।

तत्राङ्गवङ्गकलिङ्गमालवप्रभृतय: सर्वेभूपाला मिलित्वा युद्धाय बद्धादरा: पुरत: प्रादुरभवन् ।

रे रे घूर्जर जर्जरोऽसि - - - वयमित्यरीनभिभवन्त्यन्क्रमाभृद्भटा: ।।

अङ्गा: संगरमीरव: समभवंचोला: पलायाकुला:---पुलाश्च नीरहस: ।।

काम्भोजा: दालकुम्भिनीपरिचया: ---कर्णाटा: परिपूर्णवेपथुमत-स्तन्द्रालवो मालवा: ।।

भोजा व्यर्थभुजायुधा: - - - - कलिङ्गा अपि ।।

नाटक प्र०, तृतीय अंक, श्लोक १०,-१८, पृ० २१७-२२२

कालिङ्गात्र निषादि - - - - - - सर्वान् क्रमादीक्षते ।।

नाटक प्र०, पंचम अंक, श्लोक १६, पृ० २४८

रे रे सेवण - - - - - - महाभूतग्रहोच्चाटनी ।।

रस प्रकरण, पृ० २७१-७२

को वहां भेजकर पांड्यों को हराकर पुन: कांची पर अधिकार किया । इसी प्रकार १३१४ ई० में केरल के रविवर्मन् ने कांची पर आक्रमण करके पांड्यों तथा काकतीय सामन्त को हराया तब प्रतापरुद्र की सेना ने केरल की सेना को हराकर एक तेलुगु चोल सरदार को अपना सामन्त नियुक्त किया । अधिक महत्वपूर्ण उल्लेख हूणों, सेवण तथा यादवों का है । हूण (मुसलमान), सेवण तथा देवगिरि के यादव प्रतापरुद्र के मुख्य शत्रु थे । विद्यानाथ ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि सेवण गोदावरी पार करके काकतीय राज्य में घुस आये थे और उन्हें भगाया गया था । दिल्ली के सुल्तान मलिक काफूर ने देवगिरि के यादवों को अपने वश में किया था । चूंकि यादव काकतीयों से शत्रुता रखते थे अत: उन्होंने मुसलमानों की सहायता की । यादवों की सहायता से मलिक काफूर द्वारा किये गये पहले आक्रमण को प्रतापरुद्र ने विफल कर दिया । डा० एम० रामाराव तथा डा० एन० वेंकटरामणैया जैसे इतिहासविदों के अनुसार यादवों तथा मुसलमानों ने दूसरी बार भी आक्रमण किया और प्रतापरुद्र ने उन्हें पराजित कर दिया[१] ।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त प्रतापरुद्र में कुछ और भी ऐतिहासिक सन्दर्भ दिये गये हैं जिनमें कोई मतभेद नहीं है । ग्रन्थ के नाटक प्रकरण में उदाहरण के रूप में दिये गये नाटक `प्रतापरुद्रकल्याण` में काकतीय शब्द का उद्भव देते हुए उन्होंने काकतीयों की कुलदेवी दुर्गा का नामोल्लेख नाटक प्रकरण में दिया है[२] । वे (काकतीय) अपने संरक्षक देवता शिव को, जिनका मन्दिर उनकी राजधानी में था, स्वयंभू देव कहते थे[३] । उनकी राजधानी औरुगल्ल

१- प्रतापरुद्रीय - डा० वी० राघवन् भूमिका, पृ० २

दक्षिणभारत का इतिहास - डा० के० ए० नीलकण्ठशास्त्री, पृ० २१६

२- काकतीयकुलदुर्गादेवीसमाराधनेन - प्रताप, नाटक प्र०, पृ० ११२

३- सोमार्कोभिजनं तयन्न जयति श्रीकाकतीयान्वय: - - - - - -

यत्कर्तव्यमुपादिशत् कुलपतिर्देव: स्वयंभू: स्वयम् ।। २२ ।।

- नाटक प्र०, प्रताप०, पृ० १८१

(वारंगल) अथवा एकशिला से हनुमत्कोंडा तक फैली हुई थी[1]। राजधानी को एकशिला इसलिए कहते थे क्योंकि किले में एक चट्टान खड़ी थी जो पूरे वातावरण पर छाई थी। प्रतापरुद्र के पिता का नाम महादेव था और माता का नाम मुम्मडाम्बा तृतीय था[2]। नाटक प्रकरण के एक श्लोक में यह उल्लेख किया गया है कि कैलास के भगवान रुद्र काकतीयों के परिवार में स्त्री-रूप में अर्थात् रुद्राम्बा के रूप में स्थित हैं। उसके बाद एक गद्यांश में राजा गणपति ने अपनी पत्नी सोमा के साथ वार्तालाप करते समय अपनी पुत्री का पुरुषोचित नाम रुद्र रखा और उसे अपने पुत्रों के समान मानकर सारी शासकीय शक्तियां दी हैं[3]। प्राय: यही तथ्य अनेक इतिहासकारों ने भी दिये हैं। प्रारम्भिक अंक में जितने भी पुरुषोचित सन्दर्भ यथा - राजा, महाराजा या रुद्रदेव आदि का उल्लेख हुआ है वे सभी इन्हीं महिला रुद्राम्बा के लिये प्रयुक्त हुआ है। विद्यानाथ ने यह भी बताया कि प्रतापरुद्र रुद्राम्बा के दौहित्र थे। कुछ इतिहासकारों ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि प्रतापरुद्र

१- काकतीयकुलदुर्गादेवीसमाराधनेन विजयप्रस्थानमङ्गलं कृत्वा तत्र हनुमदचल-पर्यन्तबहिरुद्याने निवेशितस्कन्धावार: अमात्यपरिवृतो युवराजस्तिष्ठति।

- नाटक प्र०, प्रताप०, पृ० १६२

२- मुरारेर्यः पूर्वं जलनिधिसुतायामुदभव-
न्महादेवाज्जात: स पुनरवनीभृद्दुहितरि। - - -

नायक प्र०, पृ० १५

मुम्मुत्सुलामहादेवी पितरौ यस्य विश्रुतौ - - -। नाटक प्र०, पृ० १६५
महिता मुम्मडाम्बा तृतीया। नायक प्र०, पृ० १६

३- अन्यथा कथमीश्वरप्रसादादृते निरंकुश स्त्रीव्यक्तिविशेषस्य लोकाधिपत्यम्। एवं मानुषशंभुना गणपतिमहाराजेनाभ्यन्तरस्यानुभवमहिम्न: सदृशमत्र पुत्र इति व्यवहार: कृत:। तदनुगुणा च रुद्र इत्याख्या।

- नाटक प्र०, पृ० १८२

रुद्राम्बा की बड़ी लड़की के पुत्र थे[1]। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ग्रन्थ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि रुद्राम्बा (राजा रुद्रदेव) ने अपने दौहित्र प्रतापरुद्र को अपना दत्तक पुत्र माना और भगवान स्वयंभुदेव ने उन्हें स्वप्न में यह सलाह दी कि वे प्रतापरुद्र को युवराज घोषित करें और अन्तत: उन्हें अपना उत्तराधिकारी मानकर राजतिलक करें[2]। प्रतापरुद्र ने अपने पूर्वगामी गणपति की भांति `बलमर्तिगण्ड ` की उपाधि धारण की थी तथा अपने कुल की पताका पर वाराह का प्रतिस्थापन किया था। ग्रन्थ के अन्तिम अंक के लगभग अन्त में ब्राह्मणगण प्रतापरुद्र के राज्याभिषेक के पूर्व शिव के उन विभिन्न स्वरूपों का आह्वान करते हैं जिनका काकतीय कुल पूजन करता रहा है। विशेषतया वह रूप जिसके कारण आन्ध्र प्रदेश का नाम त्रिलिङ्ग हुआ। स्वयंभु देव के अतिरिक्त गणपेश्वर नाम का भी उल्लेख है यह नाम उस शिवलिङ्ग का है जो गणपति ने अग्रहार में स्थापित किया। बाद में तीन शिवलिङ्गों श्रीशैल, कालेश्वर एवं द्राक्षाराम का भी उल्लेख है[3]।

१- दक्षिणभारत का इतिहास - नीलकंठशास्त्री, पृ० २१६

२- स्वीकृते पुत्रभावेन दौहित्रे प्राङ्ममाज्ञया।
अस्मिन्निधेहि धौरेय गुर्वीमुर्वीधुरामिति ।। नाटक प्र० प्रताप०, पृ० १८५

३- सर्वाशी: फलविश्रमैकवसते: किं वा तवाशास्महे,
यद्वा विश्वविभौ स्वयंभुवि शिवे नस्तन्वतामाशिष:।
किं चित्रं स विभुर्भवानपि समो गौरीश्रियोर्वल्लभा
वाचन्द्रार्कमिमां क्षमां कृतयशोरक्षां युवां रक्षताम् ।। २०।।
यस्त्वद्गोत्रमहत्तरस्य जगतां त्रातु: स्वयंभुविभो-
स्तत्पादुकवरिताद्भुतैर्मिहिमभि: स्वीयैर्द्वितीयोऽभवत्।
देवोऽसौ गणपेश्वर: प्रतिकलं स्फारप्रसादोन्मुखो
नप्तुस्ते कुलमण्डनस्य महतीं पुष्णातु राज्यश्रियम् ।। २१ ।।
यैर्देशस्त्रिभिरेष याति महतीं ख्यातिं त्रिलिङ्गाख्यया
येषां काकतिराजकीर्तिविभवै: कैलाशशैला: कृता:।
ते देवा: प्रसरत्प्रसादमधुरा: श्रीशैलकालेश्वर-
द्राक्षारामनिवासिन: प्रतिदिनं त्वच्छ्रेयसे जाग्रतु ।। २२ ।।

- नाटकप्रकरण, प्रतापरुद्रयशो, पृ० २५१-५२

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ग्रन्थ के नायक प्रतापरुद्र द्वितीय के शासनकाल में काकतीयों का गौरव चरमोत्कर्ष पर था और १३२१ ई० तक यह वैभव अटूट चला। प्रतापरुद्र एक मात्र ऐसे राजा थे जो मुसलमानों से लोहा लेते रहे। १३२१ ई० में तुगलक शाहजादे उलगा खां ने प्रतापरुद्र के राज्य पर आक्रमण किया और अपने मित्रों में फूट हो जाने के कारण प्रतापरुद्र पकड़े गये। जब वे दिल्ली ले जाये जा रहे थे तो रास्ते में उन्होंने आत्महत्या कर ली[१]।

विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ में प्रतापरुद्र की जिन विजयगाथाओं का उल्लेख किया है वे १३०४ से १३०६ ई० तक लिखी गयी हैं। किन्तु कांची में पांड्यों और केरलियों के विरुद्ध प्रतापरुद्र ने १३११-१३१४ ई० में युद्ध जीते थे। इससे दो बातें सामने आती हैं या तो विद्यानाथ ने अपने नायक की यशोगाथा में मलिक काफूर के तीसरे आक्रमण, जिसमें प्रतापरुद्र की हार हुई थी, का उल्लेख जानबूझकर नहीं किया। अथवा यह कि पांड्यों और केरलियों पर विजय कपोल कल्पना मात्र है ऐतिहासिक घटनाओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु ऐतिहासिक स्रोतों से यह स्पष्ट है कि प्रतापरुद्र ने १३१६ में दिल्ली की दासता उतार फेंकी थी और अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की थी। अत: हम यही कह सकते हैं कि विद्यानाथ ने ऐतिहासिक दस्तावेज लिखने का संकल्प नहीं लिया था। उन्होंने तो अपने ग्रन्थ में अपने नायक का यशोगान किया। इसलिये उनकी पराजय का वर्णन करना उचित न था। इस प्रकार ग्रन्थ के अन्त:साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ निश्चित रूप से १३१६ ई० के बाद ही लिखा गया होगा, जिसमें कांची की सफलताओं का भी उल्लेख है।

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में अन्य साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों की भांति

१- दक्षिणभारत का इतिहास - डा० के० ए० नीलकंठशास्त्री

कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण ये तीन भाग हैं । आचार्य विद्यानाथ ने इस ग्रन्थ के सारे उदाहरण अपने आश्रयदाता राजा प्रतापरुद्रदेव की स्तुति में स्वयं लिखे हैं । नायक प्रकरण में कहा है कि किसी साहित्यिक कृति का महत्व तब बढ़ जाता है जब उनका नायक कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है,[1] इस प्रकार उन्होंने अपने संरक्षक के गुणगान को संगत कहा है । यहाँ तक कि नाटक प्रकरण में नाटक के लक्षणों के उदाहरणार्थ प्रतापरुद्रदेव के नाम पर रचित 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक नाटक का प्रवेश कराया गया है । यदि एक ही राजा के अतिशय तथा निरन्तर यशगान के कारण उत्पन्न एकरसता पर ध्यान न दिया जाये तो विद्यानाथ एक समर्थ और जाज्वल्यमान सहज कवि के रूप में सामने आते हैं । एक ही विषय पर इतने सारे श्लोक सुन्दर ढंग से रचे गये हैं साथ ही काव्यालंकार एवं नाट्यशास्त्र के बृहत्क्षेत्र के प्रत्येक तकनीकी शब्दों का सोदाहरण वर्णन वास्तव में एक कठिन कार्य है, और विद्यानाथ की प्रतिभा का परिचायक भी । उनके श्लोकों में एक सहजता और प्रवाह है, सभी दृष्टियों से यथा छन्द, भावोद्गार शब्दचयन, शब्दालंकार एवं अन्तर्निहित भावनाओं की प्रस्तुति में एक सिद्धहस्त ग्रन्थकार का शिल्प दृष्टिगोचर होता है ।

विद्यानाथ रचित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ग्रन्थ के उपलब्ध संस्करण

१- चिरेणचरितार्थोऽभूत् काव्यालंकारसंग्रह: ।
प्रतापरुद्रदेवस्य कीर्तियेन प्रकाश्यते ।। ३ ।।
पुण्यश्लोकस्य चरितमुदाहरणमर्हति । - - - - ।। ६ ।।
प्रबन्धानां प्रबन्धॄणामपि कीर्तिप्रतिष्ठयो: ।
मूलं विषयभूतस्य नेतुर्गुणनिरूपणम् ।। ७ ।।

- नायकप्रकरण, प्रताप०, पृ० ७

निम्नलिखित हैं --

१- के० पी० त्रिवेदी द्वारा, बम्बई सीरीज़ ६५,१६०६ ई० ।
इसमें कुमारस्वामी की `रत्नापण` `रत्नशाण` टीकाएं टिप्पणी तथा भूमिका भी समाविष्ट हैं ।

२- पोथी आकार का लिथो संस्करण, पूना १८४६ ई० ।

३- सरस्वती-तिरुवेंकडाचार्य तथा कांचीपुरम् रामकृष्णमाचार्य द्वारा, तेलुगु लिपि में `रत्नापण` टीका सहित, मद्रास १८६८, १८६६, १८७१, १८८८ ।

४- एस० चन्द्रशेखरशास्त्रीगल द्वारा `रत्नापण` टीका सहित, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास १६१४[१] ।

५- डा० वी० राघवन् द्वारा `रत्नापण` टीका सहित, संस्कृत विद्यासमिति, मद्रास १६६५, १६७६ ।

६- आचार्य मधुसूदनशास्त्री द्वारा हिन्दी व्याख्या, `रत्नापण` टीका सहित, कृष्णदास संस्कृत सीरीज़ ११, १६८१ ।

प्रतिपाद्य विषय -

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' का मूल विषय काव्यालङ्कार और नाट्यशास्त्र है । परवर्ती काल में विद्यानाथ ऐसे लेखक हैं जिनकी रचना काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में आलोचनात्मक विवेचन तथा तत्संबंधित परिपक्व सिद्धान्तों को परिलक्षित करती हैं । इसका विषयक्षेत्र व्यापक है । इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं -- नायकप्रकरण, काव्यप्रकरण, नाटक प्रकरण, रस प्रकरण, दोष प्रकरण, गुण प्रकरण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, मिश्रालंकार । विद्यानाथ ने सर्वप्रथम नायक प्रकरण में अपने ग्रन्थ की रचना

१- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास I - एस० के० डे, पृ० १६३

की आवश्यकता के विषय में कहा है कि यद्यपि प्राचीन लेखकों ने इस विषय के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है तथापि उनमें से किसी ने भी नायक का वर्णन अलग से नहीं किया है, क्योंकि किसी निबन्ध का महत्व उसके नायक के गुणों के चित्रण पर आश्रित रहता है । अतएव उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में ही नायक तथा नायिका के गुणों तथा उनके सहायकों का वर्णन किया है ।

काव्य प्रकरण इस ग्रन्थ का दूसरा प्रकरण है । इसमें विद्यानाथ ने काव्य-लक्षण, काव्याङ्गों, रसोपकारक वृत्तियों तथा रीतियों, शय्या, पाक तथा काव्य के भेदों का सामान्य विवेचन किया है ।

नाटक प्रकरण नामक तीसरे अध्याय में रूपकों पर विचार किया गया है । इस प्रकरण में नाटक को रूपक का सबसे महत्वपूर्ण भेद मानते हुए उसकी कथावस्तु का पांच सन्धियों में विश्लेषण किया है । यह अध्याय इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसमें विद्यानाथ ने रूपक के लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप राजा प्रतापरुद्र की प्रशस्ति में एक आदर्श रूपक दिया है ।

रस प्रकरण में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव की परिभाषा देने के पश्चात् चार स्तरों यथा शान्ति, उदय, सन्धि, शबलता का उल्लेख किया है । रस के स्वरूप का उल्लेख करते हुए रस के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन किया है ।

रस प्रकरण के पश्चात् विद्यानाथ ने दोष प्रकरण रखा है । इस प्रकरण में उन्होंने भोज का आश्रय लिया है और पददोषों तथा वाक्यदोषों का वर्णन किया है ।

गुण प्रकरण में भी विद्यानाथ ने भोज के मत का अनुसरण किया है । किन्तु उन्होंने केवल २४ शब्दगुण ही माने हैं अर्थ गुणों का वर्णन नहीं किया है । यद्यपि विद्यानाथ रस ध्वनि सिद्धान्त की मुख्य धारा के पोषक हैं फिर भी वे यह नहीं मानते कि गुण रसधर्म है और केवल तीन हैं ।

अंतिम दो अध्यायों में शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालंकार का विवेचन है। शब्दालङ्कार, प्रकरण में अलङ्कारों का भेद करते हुए विद्यानाथ ने शब्द, अर्थ और उभयगत अलङ्कारों का वर्णन किया है। इसी प्रकरण में उन्होंने अर्थालङ्कारों का वर्गीकरण किया है।

पूर्वाचार्यों का प्रभाव -

विद्यानाथ के समय तक संस्कृत अलङ्कारशास्त्र की प्राय: सभी नवीन विचारधाराओं का प्रारम्भ हो चुका था। इस काल में जितने भी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ वे पूर्ववर्ती आचार्यों की विचारधाराओं से सर्वथा प्रभावित रहे। विद्यानाथ के ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रीय' पर भी पूर्वाचार्यों का प्रभाव रहा। विद्यानाथ अपने भिन्न-भिन्न विषयों में अलग-अलग आचार्यों से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मुख्यरूप से मम्मट, भोज, धनिक, धनंजय, रुय्यक और रुद्रभट्ट की विचारधाराओं को आधार बनाया।

आचार्य मम्मट -

'प्रतापरुद्रीय' अपने विषय में एक तरह से 'काव्य-प्रकाश' की मुख्य विवेचना का निचोड़ है। काव्य प्रकरण पूर्णरूपेण 'काव्य प्रकाश' पर ही आधारित है। काव्य और वेद-पुराणों में जो अन्तर है और जहां तक इनकी वर्णन शैली, उपदेश (प्रभु-मित्र-कान्तासम्मित) का सम्बन्ध है वे सब 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में उसी प्रकार दिये गये हैं जैसे मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' के गद्य में वृत्ति का अवतरण किया है[1]। काव्य के प्रयोजन में भी विद्यानाथ ने

१- यद्वेदात्प्रभुसम्मितादधिगतं शब्दप्रधानाच्चिरं
यच्चार्थप्रवणात् पुराणवचनादिष्टं सुहृत्संमितात्।
कान्तासम्मितया यया सरसतामापाद्य काव्यश्रिया
कर्तव्ये कुतुकी बुधो विरचितस्तस्यै स्पृहां कुर्महे ।। ८।।
तत: काव्यं दृष्टादृष्टफलजनकतया बहुप्रयुक्तम्।
तच्चोक्तं काव्यप्रकाशे —

मम्मट के काव्य प्रयोजन को उद्धृत किया है । काव्य की परिभाषा का आलेख मम्मट के 'तददोषौ - - - - -' पर आधारित है[1]। इसके बाद विद्यानाथ ने शब्दवृत्ति एवं विविध अभिधा, लक्षणा वृत्तियों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जो कि 'काव्य-प्रकाश' के द्वितीय उल्लास में व्यक्त विशद् अध्ययन पर आधारित है । अभिधा, लक्षणा की परिभाषा, लक्षणा के दो रूप आरोप तथा अध्यवसाय का आधार 'काव्य-प्रकाश' की वृत्ति है । व्यंजना का विवेचन भी 'काव्यप्रकाश' के विवेचन से प्रभावित है । व्यंजना सम्बन्धी 'काव्य-प्रकाश' के विवेचन को श्लेष अलंकार के अन्तर्गत पुन: उद्धृत किया गया है । काव्य का तीन वर्गों में विभाजन, शब्दशक्तिमूलध्वनि की परिभाषा, रसादिध्वनि की परिभाषा आदि काव्य प्रकाश के समान है । यद्यपि रसादिध्वनि की परिभाषा को विद्यानाथ ने गलती से 'शृङ्गारतिलक' का कहा है । गुणीभूत व्यंग्य के सम्बन्ध में भी विद्यानाथ ने काव्यप्रकाश से ही उदाहरण दिया है ।

रसप्रकरण में विद्यानाथ ने काव्य-प्रकाश के चतुर्थ उल्लास के १३वें श्लोक का उद्धरण देते हुए शान्ति, उदय, संधि, शबलता आदि चार स्तरों का उल्लेख किया है[2]। (यद्यपि विद्यानाथ अपने आधे श्लोक को दशरूपक का मानते हैं) विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव की परिभाषा भी विद्यानाथ ने काव्य-प्रकाश से ली है ।

दोषप्रकरण में १७ पद दोषों में 'अविमृष्टविधेयांश' नामक दोष काव्य-प्रकाश से लिया गया है और उसका सही नाम 'विरुद्धमतिकृत्' भी काव्यप्रकाश से ही उद्धृत है । वाक्यदोषों में, जिनकी संख्या २४ बताई गयी है, विसर्गलुप्त आदि ८ वाक्य दोष काव्यप्रकाश से उद्धृत हैं । इसी

१- गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदु: ।। १।।
-काव्यप्रकरण, प्रताप०, पृ० ५३

२- तथा चोक्तं दशरूपके - 'भावस्य शान्तिरुदय: संधि: शबलता तथा ' इति ।
- रसप्रकरण, पृ० २६८

प्रकार १८ वाक्यार्थ दोषों में से २ वाक्यार्थ दोष हेतुशून्य (निर्हेतु) तथा सहचरच्युत (भ्रष्ट या भिन्न) काव्यप्रकाश के अर्थदोष से लिये गये हैं । रस एवं भाव के दोष के रूप में 'स्व' शब्द-वाच्यत्व काव्यप्रकाश से ग्रहण किया गया है ।

प्रतापरुद्रयशोभूषण का अलङ्कार प्रकरण काव्यप्रकाश के आठवें उल्लास में दी गयी अलङ्कार की परिभाषा एवं स्वभाव से ही प्रारम्भ होता है । अलङ्कार प्रकरण में दिये गये उपमा के २५ प्रकारों का विवेचन भी थोड़े बहुत बदलाव के साथ काव्य प्रकाश से ही ग्रहण किया गया है ।

दशरूपक का प्रभाव -

आचार्य मम्मट के पश्चात् 'दशरूपक' एवं 'अवलोक' ही सर्वाधिक प्रामाणिक मानक ग्रन्थ हैं जिनका अनुसरण परवर्ती आचार्यों ने किया है । विद्यानाथ ने नाटक प्रकरण में दशरूपक एवं अवलोक का आधार लिया है । नाटक प्रकरण के आरम्भ से लेकर लगभग सभी परिभाषाएं तथा मुख्य सिद्धान्त दशरूपक से लिये गये हैं । यथा - नाट्य की परिभाषा । नाट्य के दो रूप नृत्य और नृत्त । तांडव लास्य में अन्तर, रूपक के दस प्रकार, उनमें भिन्नताएं, कथावस्तु के तीन वर्ग, पंच संधियां, पांच अर्थ प्रकृतियां, एवं पांच अवस्थाएं, पांचों सन्धियों का समवेत विवरण, संधि-संध्यङ्ग के प्रयोजन एवं प्रयोग । कथावस्तु में सूच्य-असूच्य तथा दृश्य-श्रव्य के विभाग एवं सूच्य (विष्कम्भक) आदि की परिभाषाएं, अंक की परिभाषा, प्रस्तावना तथा विभिन्न भाग वीथ्यङ्ग आदि पूर्णरूपेण शब्दशः दशरूपक से लिये गये हैं । कुछ स्थानों पर पाठ्यन्तर है तथा कुछ स्थानों में दशरूपक की कारिका के स्थान पर विद्यानाथ ने संक्षिप्त गद्य में वृत्ति का उपयोग किया है ।

इसी प्रकार विद्यानाथ ने नाटक की परिभाषा और प्रहसन, प्रकरण, डिम एवं व्यायोग को पूर्णतया दशरूपक से लिया है । इस प्रकरण में बहुत ही कम ऐसे स्थान हैं जहां उन्होंने अन्य ग्रन्थों का सहारा लिया है ।

विद्यानाथ ने स्पष्ट लिखा है --'एषा प्रक्रिया दशरूपकोक्तरीत्यनुसारेण '।[1]

भोज का प्रभाव -

विद्यानाथ ने मम्मट के बाद सर्वाधिक सहारा भोज का लिया है। भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' के आधार पर उन्होंने दोष एवं गुण का विवेचन किया है। नायक प्रकरण में नायक के महत्व का वर्णन करते समय विद्यानाथ ने एक स्थान पर भोज का नामोल्लेख किया है, किन्तु यह भोज का उदाहरण नहीं है[2]। दोष और गुण प्रकरणों में यद्यपि विद्यानाथ ने भोज का नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु इन दोनों पर भोज का प्रभाव स्पष्ट रूप से भासित होता है।

दोष प्रकरण में विद्यानाथ ने जिन १७ पद दोषों का उल्लेख किया है उनमें से 'अविमृष्टविधेयांश' को छोड़कर सभी सोलह पद दोष सरस्वती के प्रथम अध्याय से लिये गये हैं। दोषों की परिभाषाएं भी कहीं पूर्णरूपेण कहीं अधिकांश रूप में भोज से ली गयी हैं। २४ वाक्यदोषों में से १६ वाक्यदोष एवं उनकी परिभाषाएं सरस्वती से ली गयी हैं। १८ अर्थ दोषों में से 'हेतुशून्य' एवं 'सहचरच्युत' को छोड़कर १६ अर्थदोष और उनकी परिभाषाएं सरस्वती से उद्धृत हैं। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं विद्यानाथ ने भोज द्वारा दिये गये नामों को बदल दिया है। यथा- पददोषों में देश्य का नाम बदलकर ग्राम्य, कष्ट का परुष और ग्राम्य को अश्लील कहा है।

१- प्रतापरुद्रीय, नाटक प्रकरण, पृ० १६२

२- निरूपितं च भोजराजेन --

'कवेरल्पाऽपि वाग्वृत्तिर्विद्वत्कर्णावतंसति।

नायकोयदि वर्ण्येत लोकोत्तरगुणोत्तरः॥' इति।

नायक प्रकरण, प्रताप०, पृ० १३

अर्थदोषों में भोज के भिन्न को भिन्न नाम दिया गया है और उसकी विवेचना भी भिन्न से हटकर की गयी है ।

विद्यानाथ ने गुण के सम्बन्ध में भी भोज का ही आश्रय लिया है। विद्यानाथ ने भोज के २४ शब्द गुणों को थोड़े बहुत बदलाव के साथ और कहीं पूर्णतया उसी रूप में सरस्वती से लिया है ।

रुय्यक का प्रभाव -

काव्यप्रकाश की जो स्थिति काव्य प्रकरण के क्षेत्र में है वैसी ही अर्थालङ्कार के क्षेत्र में रुय्यक के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ `अलङ्कारसर्वस्व` की है । अतः स्वाभाविक है कि जहां अलङ्कारों की चर्चा होती है `अलङ्कारसर्वस्व` मानक ग्रन्थ के रूप में उपस्थित होता है । विद्यानाथ ने कुछ स्थानों को छोड़कर अलङ्कार प्रकरण में रुय्यक के ग्रन्थ का आधार लिया है । `प्रतापरुद्रयशोभूषण` के अन्तिम प्रकरण तथा `अलङ्कारसर्वस्व` का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो कुछ परिवर्तनों को छोड़कर ये प्रकरण पूर्णतया `अलङ्कार-सर्वस्व` पर आधारित हैं । भ्रान्तिमान अलङ्कार तक पूरी समानता है उसके बाद कुछ परिवर्तनों को छोड़कर अनेक बार `अलङ्कार सर्वस्व` का आश्रय लिया गया है । अधिकांश परिभाषाएं शब्दशः अलङ्कारसर्वस्व से ली गयी हैं । कहीं-कहीं कुछ परिभाषाओं को उन्होंने `अलङ्कारसर्वस्व` की परिभाषा से विशद बनाया है ।

रूपक अलङ्कार और उत्प्रेक्षा अलङ्कार में विद्यानाथ `अलङ्कार-सर्वस्व` के बहुत पास हैं । विद्यानाथ ने रुय्यक द्वारा दी गयी रूपक कोटि को उसी प्रकार ग्रहण किया है । यद्यपि ये विचार काव्यप्रकाश में भी दृष्टिगोचर होते हैं । इसके अतिरिक्त विद्यानाथ ने रुय्यक की उत्प्रेक्षा की विभिन्न कोटियों को कम करके ग्रहण किया है । विद्यानाथ ने अलङ्कारसर्वस्व का दो स्थानों पर नामोल्लेख किया है पहली बार रस के आधार पर अलङ्कारों का

निरूपण जैसे रसवत् में[1] तथा दूसरी बार गुण और अलङ्कार के अन्तर को धर्म में संघटन एवं शब्दार्थ के सम्बन्ध में किया गया है[2]।

शब्दालङ्कारों की परिभाषाएं एवं संख्या रुय्यक की भांति हैं। `अलङ्कारसर्वस्व` में उल्लिखित ७ शब्दालंकार पूर्णरूपेण `प्रतापरुद्र-यशोभूषण` में उद्धृत हैं। यद्यपि उनके क्रम में अन्तर है। अलङ्कारों को शब्द एवं अर्थ में विभाजित करने में विद्यानाथ ने रुय्यक के आश्रयाश्रयी भाव को माना है न कि मम्मट के अन्वयव्यतिरेक के सिद्धान्त को।

रुद्रभट्ट का प्रभाव -

विद्यानाथ के समय में रुद्रभट्ट की प्रसिद्धि दक्षिणभारत में अत्यधिक थी। अत: विद्यानाथ ने `प्रतापरुद्रयशोभूषण` के प्रणयन के समय रुद्रभट्ट प्रणीत 'शृङ्गारतिलक' व 'रसकलिका' से बहुत कुछ प्राप्त किया। ऐसे चार स्थल हैं जहां विद्यानाथ ने शृङ्गारतिलक का नामोल्लेख किया है[3]।

१- एतदलङ्कारसर्वस्वे प्रपञ्चेनोक्तम् -- `रसभावतदाभासतत्प्रशमननिबन्धने रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि। भावोदयभावसंधिभावशबलताश्च पृथग-लंकारा:।` इति। रस प्र०, प्रताप०, पृ० ३३३

२- प्राचामाचार्याणां मतेन संघटनाश्रयत्वमेव गुणानाम्। तदुक्तमलङ्कार-सर्वस्वे --`संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन च गुणालङ्काराणां व्यवस्थानम्` इति।

गुण प्र०, प्रताप०, पृ० ३६०

३- (अ) तथा चोक्तं शृङ्गारतिलके --

`आलम्बनगुणश्चैव - - - - - - - परिकीर्तिता: ।।`

रस प्र०, प्रताप०, पृ० २६१-६२

(ब) `संयुक्तयोस्तु संभोगो विप्रलम्भो: `वियुक्तयो इति शृङ्गार-तिलके। रस प्र०, प्रताप०, पृ० ३१७

(शेष पादटिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें). ...

काव्य प्रकरण में काव्य-प्रकाश के स्थान पर गलती से शृङ्गारतिलक का नाम दिया है[1]। इसी प्रकार काव्य प्रकरण में ही शृङ्गारतिलक के स्थान पर दशरूपक का उल्लेख हुआ है[2]। किन्तु किसी भी स्थल पर शृङ्गारतिलक के ग्रन्थकार रुद्रभट्ट का उल्लेख नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त नायक, गुण प्रकरणों में दो स्थानों पर विद्यानाथ ने रुद्रभट्ट का नाम लिया है किन्तु ये उद्धरण शृङ्गारतिलक में नहीं है[3]।

(पिछले पृष्ठ का शेष)..

(स) विरोधक्रम: शृङ्गारतिलके कथित: --

`शृङ्गारबीभत्सरसौ - - - - - वैरिणौ मिथ: ।।` इति ।।

रसाद्रसोत्पत्तिरपि मता । तथा चोक्तं शृङ्गारतिलके --

`हास्यो भवति - - - - - - भयानक: ।।

व्यभिचारिभावानां तत्तद्रसानुगुण्यमेवं प्रतिपादितं शृङ्गारतिलके । तथाहि-

`शङ्कासूया भयं - - - - - - - वीरे भवन्त्यमी ।।` इति ।

रस प्रकरण, प्रताप०, पृ० ३३२

१- असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गयो रसादिध्वनि: । तथा चोक्तं शृङ्गारतिलके --

`रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम: ।

भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थिति: ।।` इति ।।

काव्यप्र०, प्रताप०, पृ० ११०

यह कारिका काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रसों के निरूपण के आरम्भ में है। ४। २६, पृ० ६४

२- तथा चोक्तं दशरूपके --

`कैशिक्यारभटी चैव सात्वती भारती तथा ।

चतस्रो वृत्तयो ज्ञेया रसावस्थानसूचका: ।।` इति ।

३- प्रताप०, नायक प्र०, पृ० १३

प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३६०-६१

रुद्रभट्ट के एक अन्य दुर्लभ ग्रन्थ रसकलिका से रस-सम्बन्धी अनेक श्लोक एवं श्लोकांश विद्यानाथ ने उद्धृत किये हैं । नायक एवं नायिका सम्बन्धी दस अंशों, स्थायी, विभाव सम्बन्धी पांच स्थानों, चार उद्दीपन विभावों में से एक, तीन प्रकार के रसाभास में से एक, छह सात्विक विभाव, सात व्यभिचारी, मन्मथावस्था से सम्बन्धित ११ उक्तियां, शृङ्गार चेष्टाएं, दो प्रेम की अवस्थाएं और एक रस संकर ये ऐसे स्थल हैं जहां रसकलिका का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

इन पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य भरत, दण्डी, भामह और वामन ऐसे आचार्य हैं जिनके उद्धरण विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं । आचार्य भरत के ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' का उल्लेख रस प्रकरण में रस संकर के सम्बन्ध में हुआ है[१]। नायक प्रकरण में नायक की महत्ता के उल्लेख में श्लोकांश भामह के 'काव्यालङ्कार' से उद्धृत है[२]। नायक प्रकरण में ही 'काव्यादर्श' (दण्डी) का उद्धरण दिया गया है[३]। इसी प्रकार विद्यानाथ ने रीतियों के उल्लेख में आचार्य वामन का आधार लिया है ।

आचार्य विद्यानाथ की यह कमज़ोरी रही है कि उन्होंने उद्धरणों

१- `रस: सर्वोऽपि सम्पूर्णास्तिरोधत्ते रसान्तरम् ।।` इति भारतीयोक्त-
प्रक्रियया यद्यप्येक एव रस: तथापि महाकविसिद्धया रससंकर: स्वीक्रियते ।। रस प्र०, प्रताप०, पृ० ३३२
किन्तु यह श्लोकांश भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं है ।

२- तदुक्तं प्राचा भामहेन - `उपश्लोक्यस्य माहात्म्यादुज्ज्वला: काव्यसम्पद: ।` इति ।
नायक प्र०, प्रताप०, पृ० १२

३- तदुक्तं दण्डिना --
`आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ।।` इति ।
नायक प्र०, प्रताप०, पृ० १२

के स्रोत का कई स्थानों पर गलत उल्लेख किया है । जैसे - काव्यप्रकरण में (पृ० ११०) `काव्य प्रकाश` के श्लोक को `शृङ्गारतिलक` का बताया है । रस प्रकरण में (पृ० २६८) अर्धश्लोक को `दशरूपक` का बताया है जबकि वह `काव्यप्रकाश` का है । इसी प्रकार नाटक प्रकरण की सूची में (पृ०१२२) जिन ६ उदाहरणों का उल्लेख है वह गलत है । नायक प्रकरण (पृ० १३) में भोज के नामोल्लेख के साथ दिया गया उदाहरण भोज का नहीं है । इसके अतिरिक्त विद्यानाथ ने दो स्थानों पर नायक प्रकरण (पृ० १३) और गुण प्रकरण (पृ० २६०) में `शृङ्गारतिलक` के रचयिता `रुद्रभट्ट` का उल्लेख किया है किन्तु ये दोनों ही उदाहरण शृङ्गारतिलक में नहीं प्राप्त होते । आचार्य भरत के ग्रन्थ का उल्लेख केवल रसप्रकरण (पृ० ३३२) में हुआ है किन्तु यह उदाहरण नाट्यशास्त्र का न होकर रुद्रभट्ट के दुर्लभ ग्रन्थ रसकलिका (पृ० ४६) का है । इसी प्रकार नायक प्रकरण (पृ० १३) में एक उदाहरण को उद्भट का माना गया है जो कि उद्भट के ग्रन्थ में नहीं मिलता है ।

परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

विद्यानाथ के ग्रन्थ प्रतापरुद्रयशोभूषण का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर लक्षित होता है क्योंकि यह ऐसा ग्रन्थ है जिसमें काव्यालङ्कार तथा नाट्यशास्त्र दोनों ही विषयों का विवेचन हुआ है । यदि इस ग्रन्थ की बराबरी पर कोई ग्रन्थ माना जा सकता है तो वह है विश्वनाथ का `साहित्यदर्पण `।

परवर्ती साहित्यकारों में अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थों 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द' में `प्रतापरुद्रयशोभूषण` के उद्धरण दिए हैं । यद्यपि उन्होंने ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया है । पांच स्थानों पर `प्रतापरुद्रयशोभूषण ` में दी गयी परिभाषाओं को ज्यों का त्यों मान लिया गया है । `चित्र-मीमांसा ` में उद्धरण तथा आलोचना सम्मिलित की गयी है जिसका आधार विद्यानाथ की उपमा अलङ्कार की परिभाषा है । यह विवेचन, जिसमें कि आरम्भ और अन्त दोनों स्थानों पर विद्यानाथ का उल्लेख किया गया है, सर्वाधिक लम्बा है । `चित्रमीमांसा` में जो दूसरा उद्धरण विद्यानाथ के

नामोल्लेख के साथ दिया गया है वह है परिणाम अलंकार की परिभाषा। जिसमें अप्पय दीक्षित ने परिभाषा के एक तत्व को और अधिक निखारने का प्रयास किया है। इसी अलङ्कार के अधीन अप्पय दीक्षित ने एक उदाहरणात्मक श्लोक को उद्धृत किया है और उसके प्रणेता विद्यानाथ का उल्लेख भी किया है। किन्तु यह श्लोक 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में नहीं है। उत्प्रेक्षा तथा उसके प्रकारों के सम्बन्ध में दीक्षित ने विद्यानाथ द्वारा व्यक्त तथ्यों एवं विचारों को एक स्था पर छोड़कर अन्य को सही माना है। इसके अतिरिक्त 'चित्रमीमांसा' में कई स्थानों पर विद्यानाथ का उद्धरण दिया गया है। अलंकारों से सम्बन्धित विद्यानाथ की परिभाषा को ज्यों का त्यों मान लिया गया है। कुछ स्थलों पर उन्होंने विद्यानाथ के उदाहरण श्लोक भी दिए हैं और कुछ स्थलों पर यथा- अनन्वय, रूपक, भ्रान्तिमान्, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति अलङ्कारों की परिभाषा 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' से ग्रहण की है।

अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में अतिशयोक्ति सम्बन्धी उदाहरणात्मक श्लोक 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' से लिए हैं[१]। इनमें से पहला श्लोक प्रतापरुद्रयशोभूषण में नहीं मिलता और दूसरा श्लोक इस ग्रन्थ का न होकर विद्याधर की 'एकावली' का है और उसका पाठ इस प्रकार प्रारम्भ होता है 'वीरभक्त: - - - - - - -।' तीसरा उदाहरण समासोक्ति की परिभाषा के सम्बन्ध में है किन्तु यहां पर विद्यानाथ का नाम नहीं दिया गया है[२]।

१- यथा वा - कतिपयदिवसै: - - - - - वीररुद्रदेवे।

कुवलयानन्द, पृ० ५०

यथा वा - कवीन्द्राणामासन् - - - -क्षीरोदप्रसरद्रुरुवीचीसहचरा: ।।

कुवलयानन्द, पृ० ५४

२- 'विशेषणानां - - - - -- - - - समासोक्तिरिष्यते।'

कुवलयानन्द पृ० ६१। प्रताप० पृ० ४८६

विधानाथ के ग्रन्थ की ख्याति केवल दक्षिण भारत में ही नहीं रह गई वरन् उत्तर के अल्मोड़ा के आचार्य विश्वेश्वर ने `अलङ्कारकौस्तुभ` नामक अपने ग्रन्थ में `प्रतापरुद्रयशोभूषण` के उदाहरण दिये हैं। उपमा अलङ्कार पर `विधानाथ` द्वारा व्यक्त विचारों को अप्पयदीक्षित की आलोचना के बावजूद सही माना है और उनकी आलोचना का समुचित उत्तर दिया है[1]।

विधानाथ ऐसे पहले ग्रन्थकार थे जिन्होंने केवल अपने आश्रयदाता को केन्द्र में रखकर रचना की और अपने रचित श्लोकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि विधानाथ के समकालीन विद्याधर ने भी अपने ग्रन्थ 'एकावली' में अपने आश्रयदाता राजा का गुणगान किया है, किन्तु उन्होंने अन्य ग्रन्थों से भी उदाहरण लिये हैं। अत: इस नयी शैली का प्रारम्भ हम विधानाथ द्वारा ही मानते हैं। इस शैली का प्रभाव विधानाथ के परवर्ती साहित्य पर भी पड़ा।

विधानाथ के तत्काल बाद वेलम दरबार के रचकोंडा के आश्रित विश्वेश्वर ने `चमत्कारचन्द्रिका` में आश्रयदाता `सिंहभूपाल` के गुण गाये हैं। इस सम्बन्ध में `प्रतापरुद्रयशोभूषण` का प्रभाव आन्ध्र के बाहर भी फैला। महाराष्ट्र में पेशवा माधवराव प्रथम रघुनाथराव (१७६१- १७६८ई०) का गुणगान देवशंकर पुरोहित ने `अलङ्कारमञ्जूषा` में किया। इसी प्रकार मैसूर में नरसिंह ने `नञ्जराजयशोभूषण` नामक ग्रन्थ में मैसूर के मंत्री नञ्जराज की प्रशंसा की है। `प्रतापरुद्रयशोभूषण` के सर्वाधिक निकट इसी ग्रन्थ को माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में पूरे २७४ पृष्ठ `प्रतापरुद्रयशोभूषण` से

१- एतेन -- `स्वत: सिद्धेन - - - - - - - - - - इति विधानाथी-
यो पमालक्षणमनुच `स्वत: सिद्धेन` इत्यनेनोत्प्रेक्षायां
व्यभिचारवारणम्।

-- अलंकारकौस्तुभ, पृ० १२

लिये गये हैं[1]। १७ वीं शताब्दी का `रघुनाथभूपालीय' नामक ग्रन्थ भी `प्रतापरुद्रीय' को मानक मानकर लिखा गया है। इसके रचयिता कृष्णयज्वन् हैं और इसमें तंजौर के राजा रघुनाथ नायक का यशोगान किया गया है। इसी प्रकार केरल में वड्डकुमकुर के गौडवर्मा (१५५०- १६५० ई०). पर अरुणागिरि ने `गौडवर्मायशोभूषण' ग्रन्थ की रचना की। बाद में ऐसे ही एक ग्रन्थ का उदाहरण हिन्दी में भूषण कवि के `शिवराजभूषण' ग्रन्थ के रूप में मिलता है।

१- (अ) अन्वितेषु पदार्थेषु - - - - - - - - - - - - - मुख्यत्वेन।

नञ्जराज०, द्वितीय विलास पृ० १६। प्रताप० काव्य प्र०, पृ० ६८

(ब) एवं रसान्तरेषु - - - - - - - - - - ईषत्प्रौढत्वम्।

नञ्जराज० द्वितीय विलास, पृ० १७-१८। प्रताप० काव्य प्र०, पृ० ८१।

(स) अथमहाकाव्यादयः - - - - - - विस्तरभयादिह नोक्तानि।

नञ्जराज, तृतीय विलास, पृ० ३५-३६। प्रताप०, काव्य प्र०, पृ० ११६-१२०।

(द) भावस्य स्थायित्वं - - - - - - - - शबलता तथे'ति।

नञ्जराज०, चतुर्थ वि०, पृ० ३७-३८। प्रताप०, रस प्र०, पृ० २५६-२६८

(य) यथाकरचरणाद्यवयव - - - - काव्येऽपि सम्मतः।

नञ्जराज, सप्तम वि०, पृ० १५४। प्रताप, शब्दालंकार प्र०, पृ० ३६८

(र) अर्थालंकाराणां चातुर्विध्यम् - - - - तत्रच्छेकानुप्रासः।

नञ्जराज, सप्तम वि०, पृ० १५४-१५६। प्रताप, शब्दालंकार प्र०, पृ० ३६८-४०४

इसके अतिरिक्त नञ्जराजयशोभूषण में २६६ स्थान ऐसे हैं जहाँ प्रतापरुद्रीय से उद्धरण उद्धृत किये गये हैं। द्रष्टव्य - नञ्जराजयशोभूषण के अन्त में ई० कृष्णमाचार्य द्वारा दी गयी अनुक्रमणिका पृ० २४६-२६१।

प्रतापरुद्रयशोभूषण के टीकाकार कुमारस्वामी

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' पर 'कुमारस्वामी' की 'रत्नापण' नामक टीका है। रत्नापण का अर्थ है बाज़ार। जहाँ नायक के गुण रूपी सान पर परिष्कृत तथा विद्यानाथ द्वारा एकत्रित काव्यरत्नों का पणन है।[1] कुमारस्वामी ने स्वयं को प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ का पुत्र बताया है। प्रतापरुद्रयशोभूषण पर अपनी टिप्पणी के आरम्भिक श्लोकों में कुमारस्वामी ने अपनी वंशावली का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि मल्लिनाथ के बड़े पुत्र जिनका नाम पेद्दयार्य था जो विद्वत्ता में अपने पिता के समान थे, वे कुमारस्वामी के गुरु थे।[2]

कुमारस्वामी ने ८६ ग्रन्थकारों के नाम और ८६ ग्रन्थों के नाम गिनाए हैं जिससे स्पष्ट होता है कि कुमारस्वामी किसी भी दशा में अपने पिता से कम विद्वान टिप्पणीकार नहीं थे। कुमारस्वामी की विद्वत्ता काव्य-प्रकरण में मीमांसा के प्राकर सिद्धान्त के विवेचन से और अधिक स्पष्ट होती है। प्रतापरुद्रयशोभूषण में दिये गये विचारों की विवेचना के लिये कुमार-स्वामी ने अनेक ग्रन्थकारों और काव्यशास्त्रों का उल्लेख किया है यथा - भरत,

---

१- पुण्यश्लोकगुणोक्तिशाणकषणादुत्तेजनां लम्भितं
संगृह्य रसादिरत्ननिचयं विद्याधिनाथः पुरा।
सोऽहं तद्व्यवहारहेतुमधुना कंचित् करोम्यापणं
तत्रानुग्रहमूल्यतोऽभिलषितं क्रीणन्तु धन्या जनाः ।। ७ ।।

प्रताप०, कुमारस्वामी की टीका, पृ० २

२- त्रिस्कन्धशास्त्रजलधिं चुलुकीकुरुते स्म यः ।
तस्य श्रीमल्लिनाथस्य तनयोऽजनि तादृशः ।। ४।।
कोलाचलपेद्दयार्यः प्रमाणपदवाक्यपारदृश्वा यः ।
व्याख्यातनिखिलशास्त्रः प्रबन्धकर्ता च सर्वविद्यासु ।। ५ ।।
तस्यानुजन्मा तदनुग्रहात्तविद्योऽनवद्यो विनयावनम्रः ।
स्वामी विपश्चिद्वितनोति टीकां प्रतापरुद्रीयरहस्यमेत्त्रीम् ।। ६ ।।

प्रताप०, नायक प्रकरण, पृ० १-२

भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, भोज, शारदातनय, धनञ्जय और धनिक, मम्मट, रुय्यक, शार्ङ्गदेव तथा हेमचन्द्र। इन प्राचीन ग्रन्थकारों के अतिरिक्त कुमारस्वामी ने अर्वाचीन ग्रन्थकारों का भी सन्दर्भ दिया है जैसे - विद्याधर, विद्याचक्रवर्ती, सिंहभूपाल, वेमभूपाल, सायण आदि।

कुमारस्वामी ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के सन्दर्भ विशेषरूप से अधिक दिये हैं। ध्वनि और रससम्बन्धी अपनी टिप्पणियों को सुस्पष्ट करने में इनका आधार लिया है। इसके अतिरिक्त काव्य-प्रयोजन, तात्पर्य, वृत्ति एवं संघटना, लक्षणा और व्यंजना, शब्द-शक्तिमूलध्वनि एवं श्लेष, अर्थशक्तिमूलध्वनि हेतु संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के श्लोक का उद्धरण, अनुमान सिद्धान्त की आलोचना, आदि आनन्दवर्धन के आधार पर की गयी है। इसी प्रकार अभिनवगुप्त के आधार पर रस, नवरसों की गणना, शान्तरस, रससंकर, रस का आश्रय तथा ध्वन्यालोक के आधार पर रसवद् अलङ्कार का उल्लेख है।

कुमारस्वामी ने भोज के शृङ्गारप्रकाश का दो स्थानों पर उल्लेख किया है। मम्मट के `काव्यप्रकाश` तथा रुय्यक के `अलङ्कारसर्वस्व` का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। अलङ्कार पर विद्याचक्रवर्ती की टिप्पणी का नौ स्थानों पर उल्लेख है। उनकी कारिकाओं का भी कई स्थानों पर उल्लेख है किन्तु उन स्थानों पर उनका नाम नहीं दिया गया है।

आन्ध्र में प्रकाशित अलङ्कारसम्बन्धी ग्रन्थों में से कुमारस्वामी ने सायण के `अलङ्काररससुधानिधि`, वेमभूपाल के `साहित्यचिन्तामणि`, तथा सिंहभूपाल के `रसार्णवसुधाकर` को भी उल्लिखित किया है।

नाटक प्रकरण के सन्दर्भ में कुमारस्वामी ने अनेक स्थानों पर भरत के `नाट्यशास्त्र` एवं `दशरूपक` को सन्दर्भित किया है। शारदातनय के `भावप्रकाश` का भी बार-बार उल्लेख किया है। नाट्य रस भाव आदि के सन्दर्भ में शार्ङ्गदेव के `संगीतरत्नाकर` को उद्धृत किया है तथा प्रताप-चक्रवर्ती के `संगीतचूड़ामणि` से भी कुछ अंश लिये गये हैं।

कुमारस्वामी ने रसाभास, भय की क्रमागत श्रेणियों, वात्सल्य रस, रसाश्रय, आदि विषयों पर बहुत ही विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या दी है।

प्रतापरुद्रयशोभूषण पर कुमारस्वामी की रत्नापण टीका के अतिरिक्त रत्नशाण नामक एक अन्य अपूर्ण टीका का भी उल्लेख एस० के० डे ने किया है, किन्तु यह टीका अप्राप्य है। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति के पुष्पिका लेख से ऐसा सूचित होता है कि इसे शुक्वट कुलोत्पन्न रामानुजाचार्य के पुत्र तथा वात्स्य रामानुजाचार्य के शिष्य तिरुमलाचार्य ने लिखा था। उनका निवास स्थान गोदावरी जिले के अन्तर्गत कोरिपल्ली के समीप रामतीर्थ था[१]।

-o-

१- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - एस० के० डे, पृ० १९३

द्वितीय अध्याय

-०-

विद्यानाथ की दृष्टि से काव्य का स्वरूप, प्रयोजन, हेतु

काव्य का स्वरूप

विद्यानाथ के ग्रन्थ `प्रतापरुद्रीय` को प्रतिनिधि कृति कहा जा सकता है। अलङ्कारशास्त्र में इसका स्थान एक आधारभूत ग्रन्थ के रूप में सर्वमान्य है। यद्यपि विद्यानाथ ने विषयों के निर्धारण के लिये विभिन्न स्रोतों का सहारा लिया है किन्तु ऐसा नहीं है कि जिन स्रोतों से उन्होंने सामग्री ली उन्हें ज्यों-का-त्यों रख दिया हो। विद्यानाथ ने उन पर कुछ न कुछ आलोचनात्मक टिप्पणी अवश्य की है। यद्यपि इसका स्वरूप विशद् विवेचन के रूप में नहीं है फिर भी उनके विचार सुस्पष्ट हो जाते हैं।

विद्यानाथ ने द्वितीय प्रकरण में काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों को एक विशिष्ट रूप से व्यवस्थित किया है। मानव व्यक्तित्व के समरूप प्रत्येक सिद्धान्त को उसके उपयुक्त स्थान पर रखा है। विद्यानाथ के पूर्ववर्ती साहित्यकार भी काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों प्रत्यंगों को इसी प्रकार सजाने का प्रयास करते रहे हैं।

काव्य का लक्षण -

विद्यानाथ ने काव्य प्रकरण में काव्य के लक्षण को परिभाषित किया है जोकि निम्नलिखित है --

`गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।`[१]

अर्थात् दोष रहित, गुण सहित एवं अलङ्कारयुक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं।`

विद्यानाथ शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानते हैं।

१- प्रतापरुद्रीय, काव्य प्रकरण, पृ० ५३

अकेला शब्द या अकेला अर्थ इनमें से कोई भी काव्य नहीं है । शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य का शरीर अथवा मूर्ति है[1] । ध्वनि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने भी शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है[2] । यद्यपि यहां पर विद्यानाथ ने आनन्दवर्धन का नामोल्लेख नहीं किया है तथापि वह उनका ही अनुसरण करते हुए दिखाई देते हैं । आचार्य आनन्दवर्धन ने अलग से काव्य का लक्षण नहीं किया है किन्तु प्रसंगवश उन्होंने शब्दार्थ युगल को काव्य का शरीर माना है । अभिनवगुप्त ने इसकी टीका लिखते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं इस विषय में किसी को भी विरोध नहीं है[3] ।

अधिकतर विद्वानों ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा है । शब्द और अर्थ के इस साहित्य में शब्द काव्य का रूप और अर्थ या भाव काव्य का तत्व है । काव्य में शब्द और अर्थ की अनन्यभाव से समष्टि होती है । अत: काव्य में केवल शब्दमय रूप के साथ नहीं वरन् रूप अतिशय के साथ भाव अथवा अर्थ का साहित्य होता है । शब्द और अर्थ का सम-प्राधान्येन उपयोग देखकर ही आचार्यों ने शब्दार्थयुगल को काव्य माना है ।

१- शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ ।

- प्रताप०, काव्य प्र०, पृ० ५४

२- शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम् ।

- ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ० २६

३- शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना । तावद्ग्रहणेन न कस्याप्यत्र विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति ।

- ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० २७

आचार्य भामह, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ने[1] शब्दार्थयुगल को ही काव्य माना है। कुछ आचार्यों ने केवल शब्द को ही काव्य माना है। शब्दमात्र को काव्य स्वीकार करने वाले आचार्यों का मत है कि मधुरकान्तकोमल पदावलि को पढ़कर या सुनकर बिना अर्थ समझे भी लोग यह मान लेते हैं कि यह काव्य है। किन्तु साथ ही यह भी आवश्यक है कि अर्थोपस्कृत ही शब्द काव्य होंगे। परन्तु लक्षण में अर्थपद का समावेश अनावश्यक मानते हैं। इस सम्बन्ध में 'पण्डितराजजगन्नाथ' प्रमुख आचार्य हैं जिन्होंने केवल शब्द को ही काव्य माना[2]। किन्तु उनका खण्डन उनके ही टीकाकार नागेश भट्ट ने किया है[3]।

१- भामह - शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।

काव्यालङ्कार, १। १६, पृ० ६

रुद्रट - शब्दार्थौ काव्यम् - -।

काव्यालङ्कार, २।१, पृ० १७

वामन - काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.१.१ पृ० ५

२- यत्तु प्राञ्चः (काव्यप्रकाशकारादयः) शब्दार्थौ काव्यमित्याहुः तत्र विचार्यते .... अपि च काव्य पद प्रवृत्ति-निमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं (व्यासज्य वृत्ति) प्रत्येक पर्याप्तं वा ? नाद्यः एको न द्वौ इति....। तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।

रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० १४, १७,१६

३- आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविरोधात् चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशोक्तलक्ष्यतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितं श्रुतं, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अतएव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' ४,२,५६ इति सूत्रस्थो भगवान् पतंजलिः संगच्छते। लक्षणायान्यतरस्मिन्नपि तत्वात्, 'एको न द्वौ' इतिवत् न तदापत्तिः। तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।'

आचार्य विश्वेश्वर की काव्यप्रकाश की हिन्दी टीका से उद्धृत, पृ० २४।

काव्य लक्षण के सन्दर्भ में शब्द अर्थ और इनके परस्पर संयोग की महत्वपूर्ण स्थिति है। वस्तुत: भाषा के ही प्रसंग में शब्द और अर्थ का पारस्परिक संयोग एक अनिवार्य तत्व है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का 'सिद्धे शब्दार्थ संबंधे' इसी तत्व का सूचक है। अर्थहीन शब्द को काव्य नाम से तो क्या साधारण वार्ता भी नहीं कह सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के लक्षण के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों में परस्पर बहुत बड़ा मौलिक मतभेद है। कुछ लोग जितनी दृढ़ता के साथ शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं, कुछ अन्य उतनी ही दृढ़ता से शब्दमात्र को काव्य स्वीकार करते हैं। किन्तु शब्द मात्र को काव्य मानने वाले आचार्य भी यह आवश्यक मानते हैं कि अर्थोपस्कृत शब्द ही काव्य होंगे। निरर्थक शब्दों को काव्य नहीं माना जा सकता है। अत: विद्यानाथ ने भी पूर्ववर्ती आचार्यों भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि का अनुसरण करते हुए शब्दार्थ युगल को ही काव्य माना है न कि केवल शब्द मात्र को।

विद्यानाथ ने शब्दार्थौ' पद के तीन विशेषण दिये हैं। 'गुणालङ्कारसहितौ' और 'दोषवर्जितौ'। अर्थात् शब्द और अर्थ गुणसहित, अलङ्कारसहित और दोष रहित होने चाहिए।

विद्यानाथ के अनुसार पहली विशेषता है कि शब्द और अर्थ दोनों को गुण युक्त होना चाहिए। विद्यानाथ ने गुणों को अलंकारों के ही समान काव्य शोभा का हेतु माना है[१]। इसके लिये उन्होंने रुद्रभट्ट का उदाहरण दिया है और गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना है न कि रस का[२]। इस

१- यो हेतु: काव्यशोभाया: सोऽलंकार: प्रकीर्त्यते। गुणोऽपि तादृशो ज्ञेयो दोष: स्यात्तद्विपर्यय:॥ - प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३९१

२- संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन च गुणालङ्काराणां व्यवस्थानम्' इति।
-प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३९०

विषय में विद्यानाथ का मत मम्मट से भिन्न है । यद्यपि मम्मट ने[1] काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' कह कर गौणी वृत्ति से शब्द और अर्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध दर्शाया है किन्तु प्रत्यक्षतया वह गुण को रस का ही धर्म मानते हैं । विद्यानाथ गुणों को अभिधा से शब्द और अर्थ का धर्म मानते हैं । वह भोज का अनुसरण करते हुए गुणों का आश्रय शब्द और अर्थ को मानते हैं । इसलिए काव्य के लक्षण में उन्होंने कहा कि काव्य के शब्दार्थ शरीर को 'काव्यशोभाहेतु' गुण से युक्त होना चाहिए ।

काव्यलक्षण का दूसरा विशेषण है - 'अलङ्कारसहितौ' । इस पद से विद्यानाथ ने यह स्पष्ट किया है कि शब्द और अर्थ को अलङ्कार युक्त होना चाहिए । उन्होंने अलङ्कारों को शब्दार्थ शरीर रूपी काव्य में हारादि की भांति अलङ्कार माना है[2] । आचार्य मम्मट ने भी यह माना है कि शब्द और अर्थ को साधारणतः अलङ्कार सहित होना चाहिए । जहां कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो वहां अलङ्कार विहीन होने पर भी काम चल सकता है[3] । प्रायः यही अभिप्राय विद्यानाथ का भी प्रतीत होता है । क्योंकि उन्होंने भी अलङ्कारों को काव्य शरीर में हारादि अलङ्कारों के समान माना है जो कि सौन्दर्य-वृद्धि के लिये होते हैं । जहां काव्य अपना उद्देश्य (रसादि की प्रतीति) पूरा करने में सफल हो वहां पर अलङ्कारों के बिना भी काम चल सकता है । आचार्य वामन ने भी अलंकार सौन्दर्य को काव्य माना है । उन्होंने सौन्दर्य के कारण को बताते हुए कहा है कि दोषों के त्याग और गुण तथा अलंकारों के ग्रहण करने से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है तथा यह काव्य शब्द गुण तथा अलङ्कारों से सुसंस्कृत शब्दार्थ

१- काव्य प्रकाश, ८।७१ पृष्ठ ३९०

२- हारादिवदलङ्कारा: । प्रताप०, काव्य प्र०, पृष्ठ ५४

३- क्वापीत्यनेन तदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानि: ।

- काव्यप्रकाश, पृ० १९

युगल का वाचक है[1]।

काव्य लक्षण के तीसरे विशेषण 'दोषवर्जितौ' पद के द्वारा विद्यानाथ ने संकेत किया है कि शब्द और अर्थ को दोष रहित होना चाहिए। यद्यपि विद्यानाथ ने 'दोषवर्जितौ' पद को बाद में रखा है किन्तु विद्यानाथ के टीकाकार कुमारस्वामी ने दोष की व्याख्या पहले की है। उनका आशय है 'दुर्जनं प्रथमं वन्देत् सज्जनं तदनन्तरं'। कुमारस्वामी का मत है कि अल्प दोष होने पर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए[2]। आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' विशेषण दिया है। उनका अभिप्राय है कि काव्यत्व के विघटक जो 'च्युतसंस्कार' आदि प्रबल दोष हैं उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूपत: दोष नहीं होता अपितु जब वह रसानुभूति में बाधक होता है तभी दोष होता है।

विद्यानाथ ने वास्तव में मम्मट के ही काव्य लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि' का थोड़े शब्दों के हेरफेर के साथ अनुसरण किया है। विद्यानाथ ने काव्यलक्षण देने के पश्चात् काव्य सामान्य का लक्षण दिया है जो कि पूर्णतया मम्मट के काव्य-लक्षण पर ही आधारित है।

काव्य की परिभाषा देने के पश्चात् विद्यानाथ काव्यपुरुष का एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं जिसमें सारे तत्व अलग-अलग दिखायी देते हुए

१- 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' 'सौन्दर्यमलङ्‌कार:' स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्' 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्‌कारसंस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते।

-काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.१.१. पृ० ४-५-६

२- अत्र सूत्रे प्रथममनुपात्तस्यापि दोषवर्जनस्यादौ व्याख्यानमल्पोऽपि दोष: प्रमादादिनाप्युपेक्ष्य इति द्योतयितुम् तदुक्तं दण्डिना- तदल्पमपि नैपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।'

- प्रताप०, पृ० ५३

भी एक दूसरे के पूरक सम्पूरक हैं । यथा - शब्द और अर्थ से काव्य-पुरुष का शरीर बनता है । अर्थ सम्पन्नता से शरीर में जीवन आता है । उपमा तथा अन्य अलंकार कंठहार आदि अलंकारों के समान ही काव्य शरीर को अलंकृत करते हैं । श्लेष एवं अन्य उक्तियां मानों उसमें नायकत्व एवं अन्य गुणों का समावेश करते हैं । रीतियों से उसे स्वभाव प्राप्त होता है जिसके आधार पर उसे अन्य से विशिष्टता प्राप्त होती है । वृत्तियों से उसमें आकर्षण उत्पन्न होता है और उसके व्यवहार को दिशा मिलती है । शय्या पर पूरा प्रबन्ध (काव्यशरीर) उसी प्रकार रखा हुआ है जैसे शरीर बिस्तर पर आराम करता है । `पाक` विभिन्न प्रकार के व्यंजन हैं जो रस को तथा स्वाद की उत्पत्ति करते हैं[१]। इस प्रकार विद्यानाथ ने काव्य सम्बन्धी सामग्री ऐसे सजाई है मानो वह भौतिक सामग्री का अनुरूप हो ।

काव्यप्रयोजन

विद्यानाथ ने स्पष्ट रूप से काव्य का प्रयोजन नहीं कहा है । प्रथम, नायक प्रकरण में उन्होंने काव्य में नायक की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए प्रसंगवश काव्य के कुछ प्रयोजनों का उल्लेख किया है । उनके अनुसार काव्य के सृजन से कीर्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है[२]। यह काव्य का प्रथम प्रयोजन

१- शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम् ।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादय: ।। २
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिता: ।
आत्मोत्कर्षावहास्तत्र स्वभावा इव रीतय: ।। ३
शोभामाधिक्यिकीं प्राप्ता वृत्तयो [वृत्तयो] यथा ।
पदानुगुण्यविश्रान्ति: शय्या शय्येव संमता ।।४।।
रसास्वादप्रभेदा: स्यु: पाका: पाका इव स्थिता: ।
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसंपद: ।। ५ ।।
- प्रताप०, काव्य प्र०, पृ० ५४

२- प्रबन्धानां प्रबन्धृणामपि कीर्तिप्रतिष्ठयो: ।
मूलं विषयभूतस्य नेतुर्गुणनिरूपणम् ।।
- प्रताप०, नायक प्र०, पृ० ७

है । कीर्ति और प्रतिष्ठा प्रयोजन का निरूपण करते हुए उनका यह भी आग्रह है कि प्रबन्ध अथवा प्रबन्ध के निर्माता, नेता के गुण निरूपण द्वारा ही कीर्ति और प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकते हैं ।

प्राय: सभी प्राचीन आचार्यों भरत, भामह, वामन, मम्मट आदि ने काव्य प्रयोजन में यश या कीर्ति का उल्लेख किया है । सर्वप्रथम आचार्य भरत ने काव्य से यश की प्राप्ति का उल्लेख किया है[1] । उनके अनुसार मनुष्यों के लिए काव्य अथवा नाट्य हितोपदेशक, क्रीडास्वरूप और सुख देने वाला है । यह धर्म, यश, हित और बुद्धि का वर्धक तथा लौकिक उपदेश का जनक है ।

आचार्य भामह के अनुसार उत्तम काव्य की रचना धर्मार्थकाममोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती है[2] । कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन बताते हुए भामह ने उसका विस्तृत विवेचन किया है । उनके अनुसार उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवंगत हो जाने पर भी उनका सुन्दर काव्यशरीर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अक्षुण्ण बना रहता है । और जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भूमण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तब तक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते हैं । इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रहने वाली कीर्ति के चाहने वाले कवि को उसके उपयोगी

१- उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृति क्रीडा सुखादिकृत् ।।
दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
- अभि० भारती १।११३-११५, पृ० २०४

२- धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।
- काव्यालङ्कार १, २, पृ० १

समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य की रचना के लिये प्रयत्न करना चाहिए[1]।

आचार्य वामन ने भी काव्य के केवल दो प्रयोजन बताए हैं - एक कीर्ति दूसरा प्रीति[2]। इनमें कीर्ति को काव्य का अदृष्ट प्रयोजन माना है। तथा इस पर विशेष बल दिया है। 'काव्य रचना की प्रतिष्ठा यश की प्राप्ति का मार्ग कही जाती है। इसी प्रकार कुकवित्व की विडम्बना को अकीर्ति का मार्ग कहा जाता है। विद्वान लोग कीर्ति को जब तक संसार रहे तब तक रहने वाली तथा स्वर्ग रूप फल को देने वाली कहते हैं और अकीर्ति को आलोकहीन नरक स्थान की दूती कहते हैं। इसलिए कीर्ति को प्राप्त करने के लिए और अकीर्ति के विनाश के लिए श्रेष्ठ कवियों को 'काव्यालङ्कारसूत्र' के अर्थ को भलीभांति हृदयंगम करना चाहिए[3]।

१- उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ।।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी ।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ।।
अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ।।

- काव्यालङ्कार १-६,७,८, पृ० १,४

२- काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात् ।

- काव्या० सू० वृ० १.१.५, पृ० ७

३- प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्व विडम्बनाम् ।।१।।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः ।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ।।२।।
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च निबर्हितुम् ।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः ।। ३ ।।

- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, प्र० अधिकरण,
प्रथम अध्याय, पृ० ७८

मम्मट ने 'काव्यं यशसे' कहकर काव्य के प्रयोजन में यश या कीर्ति का उल्लेख किया है। विद्यानाथ ने भी पूर्वाचार्यों की ही भांति काव्य को कवि की महाप्रतिष्ठा का कारण माना है। विद्यानाथ का यह भी मानना है कि कवि की प्रतिष्ठा का कारण या प्रबन्ध की श्रेयस्करी स्थिति महापुरुषों के गुणों के वर्णन से ही होती है, जैसे श्रीरामचन्द्र के गुणवर्णन से ही रामायण की स्थिति श्रेयस्कर है और महाकवि वाल्मीकि की प्रतिष्ठा का कारण है।[१]

काव्य का दूसरा प्रयोजन हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति बताया है। जिस प्रकार वेदशास्त्र पुराणादि के अध्ययन से हित की प्राप्ति होती है और अहित का नाश होता है, उसी प्रकार उत्तम पुरुषों का आश्रय करने वाले काव्य से भी हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति होती है।[२] उत्तम पुरुषों का आश्रय करने से तात्पर्य है कि काव्य में सत्पक्ष अथवा लोक-हितकारी चरित का वर्णन होना चाहिए, जिससे सत्पथ पर चलने का ज्ञान और हित की प्राप्ति होती है और महापुरुषों के वर्णन के साथ वर्णित लोकव्यवहार आदि का भी ज्ञान होता जाता है। इस प्रकार मम्मट के प्रयोजन 'व्यवहार विदे' के ही समान लोकव्यवहार की शिक्षा भी इसमें अन्तर्निहित है। काव्य में वर्णित अकरणीय के वर्जन से अहित की निवृत्ति भी होती है। मम्मट ने अहित की निवृत्ति के लिये 'शिवेतरक्षतये' कहा है। भरतमुनि ने भी काव्य द्वारा हित की प्राप्ति बताई है। विद्यानाथ ने मम्मट के 'व्यवहारविदे' और 'शिवेतरक्षतये' दोनों प्रयोजनों को एक साथ ही कह दिया है।

विद्यानाथ ने काव्य का तीसरा प्रयोजन बताते हुए कहा है कि

१- यथा रामगुणवर्णनं रामायणवाल्मीकिजन्मनोर्महाप्रतिष्ठाकारणं,
तथा महापुरुषवर्णनेन हि श्रेयस्करी प्रबन्धस्थितिः ।
- प्रताप० नायक प्र०, पृ० ८

२- यथा वेदशास्त्रपुराणादेर्हितप्राप्तिरहितनिवृत्तिश्च, तथा सदाश्रयात् काव्यादपि ।
- प्रताप, नायक प्र०, पृ० ८

काव्य के द्वारा सरस रूप में कर्तव्य का ज्ञान होता है[1]। कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करना वह भी सरस शैली में यह केवल काव्य द्वारा ही सम्भव है। वेदशास्त्र इतिहास पुराणादि की रचना भी मनुष्यों को शुभकर्मों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ कर्मों से निवृत्त करने के लिये ही की गयी है। परन्तु काव्य की उपदेश शैली उन सबसे विलक्षण है। शब्दप्रधान, अर्थप्रधान और रसप्रधान तीन तरह की उपदेश शैलियों की कल्पना की गयी है, जिन्हें क्रमश: प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित तथा कान्तासम्मित पदों से निर्दिष्ट किया गया है। काव्य की इन तीनों उपदेश शैलियों को सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में प्रस्तुत किया है[2]। तत्पश्चात् मम्मट ने उनका अनुकरण करके विस्तारपूर्वक इसका वर्णन किया है[3]। विद्यानाथ ने मम्मट का अनुसरण करते हुये इसका उल्लेख किया है और मम्मट का उदाहरण भी दिया है।

१- इयान् विशेष:- काव्यात् कर्तव्यताधी: सरसा अन्यत्र न तथा।

- प्रताप०, नायक प्र०, पृ० ८

२- तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्य: कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्त:।

-ध्वन्यालोक, लोचन टीका, प्रथम उद्योत, पृ० ६१

३- प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्य: सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवे: सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।

- काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, पृ० ११

४- यद्वेदात्प्रभुसंमितादधिगतं शब्दप्रधानाच्चिरं
यच्चार्थप्रवणात् पुराणवचनादिष्टं सुहृत्संमितात्।
कान्तासंमितया यया सरसतामापाद्य काव्यश्रिया
कर्तव्ये कुतुकी बुधो विरचितस्तस्यै स्पृहां कुर्महे ।।

- प्रताप, नायक प्र०, पृ० ८-९

वेदादिशास्त्र की शैली `प्रभुसम्मित` या शब्दप्रधान शैली है। राजाज्ञाएं तथा राजकीय विधान सदा शब्दप्रधान होते हैं। उसका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है। विद्यानाथ ने शब्दप्रधान प्रभुसम्मित उपदेश के लिये कहा है कि प्रभुसम्मित उपदेश शैली द्वारा इष्ट की प्राप्ति चिरकाल में होती है।

दूसरी उपदेशशैली इतिहास पुराणादि की है। इनमें वेद के समान शब्दों की प्रधानता नहीं होती अपितु अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है, इसलिए उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता बल्कि उनके अभिप्राय का अनुसरण होता है। मित्र अपने मित्र को उचित कार्य के अनुष्ठान करने तथा अनुचित कार्य के परित्याग का उपदेश करता है। परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञा के समान शब्द प्रधान नहीं होता। इसे `सुहृत्सम्मित` उपदेश कहते हैं। किन्तु अर्थ में प्रवण अतएव सुहृत् तुल्य पुराणों के वाक्यों से भी इष्ट चिरकाल में प्राप्त होता है।

तीसरी काव्य की उपदेश शैली इन दोनों से भिन्न होती है। उसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की। वहां शब्द और अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर रस की प्रधानता होती है। स्त्री जब किसी कार्य में पुरुष को प्रवृत्त या किसी कार्य से निवृत्त करती है तो वह अपने सारे सामर्थ्य से उसको सरस बनाकर ही उस प्रकार की प्रेरणा करती है। काव्य भी भी शब्दप्रधान और अर्थप्रधान से विलक्षण सहृदयाह्लादकारी व्यञ्जना-व्यापार से रामादि के समान व्यवहार करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं इस प्रकार से पुरुष को कर्तव्य में प्रवृत्त और अकर्तव्य से निवृत्त करती है। जो इष्ट प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेश शैलियों से चिरकाल में प्राप्त होता है वही इन दोनों की अपेक्षा सरसता के साथ कान्ता के उपदेश के सदृश काव्य के द्वारा शीघ्र मिलता है जिससे समझदार व्यक्ति अपने कर्तव्य में `कुतुकी` बन जाता है। उस काव्य के विषय में हम लोग स्पृहा करते हैं। आचार्य मम्मट का भी यही मत है। काव्य के रसास्वादन के साथ-साथ कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भी मनुष्य को होता जाता है। अतः सरसता के कारण यह उपदेश शैली अधिक उपादेय है।

विद्या(नाथ)ने मम्मट के काव्य प्रयोजन का अनुसरण किया है[1]। काव्य प्रयोजन को निरूपित करते समय विद्यानाथ ने मम्मट द्वारा प्रतिपादित छः प्रयोजनों में से तीन का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम काव्य द्वारा प्रतिष्ठा की प्राप्ति बताई है जिसे मम्मट ने `काव्यं यशसे` कहा है। तत्पश्चात् विद्यानाथ ने काव्य द्वारा हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति का उल्लेख किया है, इस दूसरे प्रयोजन के अन्तर्गत ही मम्मट के `शिवेतरक्षतये` तथा `व्यवहारविदे` इन दो प्रयोजनों का समावेश कर दिया है। तीसरा प्रयोजन काव्य की कान्ता के समान सरस उपदेश शैली है जिसे मम्मट ने भी `कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे` कह कर स्वीकार किया है। इस प्रकार विद्यानाथ ने कवि की दृष्टि से प्रतिष्ठा की प्राप्ति और पाठक की दृष्टि से `हितप्राप्तिरहितनिवृत्ति` तथा `कर्तव्याकर्तव्यधी:` ये प्रयोजन प्रस्तुत किये हैं। इसके अतिरिक्त विद्यानाथ ने धर्मार्थकाममोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय का स्पष्ट उल्लेख काव्य प्रयोजन में नहीं किया है। फिर भी अदृष्टफलजनक के कथन से मोक्षप्राप्ति का आभास मिलता है। काव्य से पुरुषार्थ चतुष्टय का उल्लेख आचार्य भामह तथा कुन्तक ने अपने काव्य प्रयोजनों में किया है[2]।

विद्यानाथ ने मम्मट के `अर्थकृते` प्रयोजन को स्वीकार नहीं किया है। सम्भवत: विद्यानाथ की दृष्टि भौतिक नहीं है। क्योंकि काव्य से धन

१- काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।
-काव्यप्रकाश १।२, पृ० १०

२- भामह - धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
- काव्यालङ्कार १.२, पृ० १

कुन्तक - धर्मादिसाधनोपाय: सुकुमारक्रमोदित:।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारक: ।।
- वक्रोक्तिजीवितम् १।३, पृ० १०

प्राप्ति का संकेत उन्होंने कहीं नहीं किया है । इसी प्रकार मम्मट के `सद्य: परनिर्वृतये` प्रयोजन का भी उल्लेख नहीं किया है जिसे कि मम्मट ने `सकल-प्रयोजनमौलिभूतम्` कहा है ।

काव्य हेतु

विद्यानाथ ने काव्य के प्रयोजन की ही भांति काव्य के हेतु का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के अन्तिम दो पदों में उन्होंने काव्य हेतु पर संकेत किया है ।[1] इस स्थान पर काव्य एवं नाट्य के प्रधान बीवातु `सारस्वत प्रक्रिया` का उल्लेख किया है । सरस्वती सम्बन्धी प्रक्रियाओं (विद्या) के बीजों के निमित्त शक्ति अथवा प्रतिभा हैं ।[2] जैसा कि टीकाकार कुमारस्वामी ने स्पष्ट किया है ।

केवल विद्या होने से ही `कवित्व` कार्यकर नहीं हुआ करता, वरन् `कवित्व` अथवा सारस्वत प्रक्रिया के लिये बीजरूप शक्ति अथवा प्रतिभा का होना भी आवश्यक है । यह कवित्व-शक्ति काव्य की उत्पत्ति का बीज है । विद्यानाथ ने इसी कवित्व बीजभूत शक्ति अथवा प्रतिभा को काव्य निर्माण का हेतु माना है । वस्तुत: इसी दृढ़ धारणा से उन्होंने काव्य-हेतु का अलग से कोई विचार नहीं किया है । हृदय में काव्य तत्त्वों के अवधान के लिये ही वाग्देवी की वन्दना का भी यही संकेत है । क्योंकि वाग्देवी ही कवित्व शक्ति प्रदान करने वाली अधिष्ठात्री देवी हैं ।

काव्य हेतु के विषय में प्रधानतया विद्वानों के दो मत हैं ।

१- यत्पादानमस्क्रिया: सुकृतिनां सारस्वतप्रक्रिया ।
बीजन्यास भुवो भवन्ति कवितानाट्यैकबीवातव: ।।
- प्रताप०, नायक प्र०, पृ० २

२- सारस्वतप्रक्रिया: काव्यनाटकादिवाङ्मयविशेषा: तासां
बीजं कारणभूत: शक्तिप्रतिभापरपर्याय: संस्कारविशेष:
- प्रताप०, कुमारस्वामी, पृ० ४

आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुद्रट, वामन, विश्वनाथ और विद्यानाथ आदि आचार्य केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं जबकि मम्मट, दण्डी आदि आचार्य प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण बतलाते हैं।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने 'प्रतिभाविशेष' को ही काव्य का हेतु माना है उनके अनुसार 'आस्वाद-परिपूर्ण उसी अर्थवस्तु को प्रकट करने वाली महाकवियों की भगवती भारती देवी चारों ओर स्फुरित होने वाली प्रतिभा की ऐसी विशेषता को अभिव्यक्त किया करती है जिसकी समानता लोक में कहीं नहीं है।'[2] सामान्य जगत की अपेक्षा कवियों को विशेष प्रकार की प्रतिभा प्रकट होती है। इसके लिये कवियों को भी उद्योग नहीं करना पड़ता अपितु वह प्रतिभा स्वयं स्फुरित होती है।

आचार्य अभिनवगुप्त[3] ने भी लोचन टीका में प्रतिभा को ही वाणी की प्रवृत्ति का व्यापार माना है। उनके अनुसार 'प्रतिभा का अर्थ है अपूर्व वस्तु

१- दण्डी -

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।।

-काव्यादर्श १।१०३, पृ० ६८

मम्मट -

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

- काव्यप्रकाश १।३, पृ० १७

२- सरस्वतीस्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।

- ध्वन्यालोक १।६ पृष्ठ ९२

३- वाग्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारा इति वा।

- ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० ४१

के निर्माण में क्षम प्रज्ञा। उसकी विशेषता है रस के साक्षात्कार के लिये उपयुक्त निर्मलता के द्वारा सौन्दर्यमय काव्यनिर्माण करने की शक्ति । काव्य परिशीलकों के लिये भी रसास्वादन के निमित्त प्रतिभा की आवश्यकता है । इसीलिए भरतमुनि ने भाव की परिभाषा करते हुए लिखा है --`कवि के अन्तर्गत भाव को जो भावित करता है उसे ही भाव कहते हैं[1]।

रुद्रट भी केवल शक्ति (प्रतिभा) को ही काव्य का कारण मानते हैं । उन्होंने शक्ति का विवेचन इस प्रकार किया है - `जिसकी प्राप्ति होने पर समाधिस्थ मन में अनेक प्रकार के अर्थ स्फुरित होते हैं और कोमल-कान्तपदावलि दृष्टिगोचर होने लगती है उसे शक्ति कहते हैं[2]।`

वामन ने भी प्रतिभा को ही काव्य का कारण कहा है । उनका कथन है कि कवित्व का बीज प्रतिभा है जिसके[3] अभाव में काव्य नहीं होता और यदि होता भी है तो उपहसनीय होता है ।

विद्यानाथ उन्हीं आचार्यों का अनुसरण करते हैं जिन्होंने काव्य का हेतु प्रतिभा अथवा शक्ति को माना है । विद्यानाथ के बाद विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य का कारण प्रतिभा को ही माना है । साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में कवि और काव्य रसिक कोई एक जन्म में नहीं

१- अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा । तस्या: विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह मुनि:- `कवेरन्तर्गतं भावम्` इति । येनेति । अभिव्यंजकेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत् ।
- ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० १५६

२- मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति: ।।
- काव्यालङ्कार १।१५, पृ० ११

३- कवित्व बीजं प्रतिभानम् यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात् ।
- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.३.१६, पृ० ५२

बनता। कविता जन्म-जन्मान्तरों से आने वाली ईश्वरीय देन है। इस मान्यता की पुष्टि के लिये विश्वनाथ ने अग्निपुराण की सूक्ति उद्धृत की है जिसका अभिप्राय है - कई जन्मों में कोई प्राणी मानव शरीर धारण कर पाता है, मानव होने पर भी विद्या दुर्लभ है, कई जन्मों में कोई विद्वान कविता कर पाता है, यह कविता करने के लिये शक्ति बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होती है[१]।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी काव्य का कारण प्रतिभा को ही माना है। उस प्रतिभा के अदृष्ट तथा कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति-अभ्यास ये दो भेद होते हैं[२]।

आचार्य दण्डी और मम्मट आदि जिन आचार्यों ने शक्ति के अतिरिक्त अभ्यास और व्युत्पत्ति को भी काव्य का कारण बताया है उन विद्वानों ने भी काव्य के हेतु में प्रतिभा को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है।

इस प्रकार विद्यानाथ ने काव्य के लक्षण, प्रयोजनों और हेतु के बारे में अपने मत को प्रकट किया है। काव्य के लक्षण और प्रयोजन में यदि उन्होंने आचार्य मम्मट का अनुसरण किया है तो हेतु के सम्बन्ध में वे आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का आश्रय लेते हैं। यद्यपि विद्यानाथ ने पूर्वाचार्यों के मत का अनुसरण किया है किन्तु फिर भी ऐसा नहीं है कि जिन स्रोतों से उन्होंने सामग्री ग्रहण की है उसे ज्यों-का-त्यों रख दिया हो।

-०-

१- नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।।
- साहित्यदर्पण, प्र० परिच्छेद, पृ० ४

२- तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।
- रसगंगाधर, पृ० २३

तृतीय अध्याय

-0-

काव्य विशेष विवेचन

काव्य-विशेष विवेचन

विद्यानाथ ने काव्य सामान्य का चित्रीकरण करने के तत्काल बाद काव्यवृत्तियों एवं शब्द-वृत्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के बारे में बताया है। इस प्रकरण में विद्यानाथ ने शब्दवृत्ति अभिधा आदि पर जो विचार व्यक्त किये हैं वह काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में वर्णित विशद् अध्ययन पर आधारित हैं।

काव्य के शब्दार्थ शरीर का स्वरूप बताते हुए विद्यानाथ ने तीन प्रकार के शब्द बताए हैं -- वाचक, लक्षक तथा व्यंजक[1]। इसमें वाचक शब्द मुख्यार्थ का बोधक है। लाक्षणिक शब्द वाचक शब्द पर आश्रित रहता है तथा व्यञ्जक शब्द इन दोनों की अपेक्षा करता है। अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य, तथा व्यंग्य तीन प्रकार के होते हैं[2]।

तात्पर्यार्थ —

विद्यानाथ ने तात्पर्यार्थ का व्यंग्यार्थ में ही अन्तर्भाव माना है[3]। अत: तात्पर्यार्थ भी व्यंग्यार्थ ही है, उससे पृथक् नहीं। ध्वन्यालोक एवं लोचन में अन्य सन्दर्भों में मीमांसकों की तात्पर्यशक्ति का खण्डन किया गया है और व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ अथवा अभिधीयमानार्थ से अलग माना गया है। विद्यानाथ के टीकाकार कुमारस्वामी ने इस स्थल की बहुत विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है -- यहां तात्पर्यार्थ शब्द में तत् शब्द रसादि का बोधक है। अत: वक्ता की बुद्धि में स्थित वाक्यागम्य वाक्यार्थ जो रसादि रूप हैं उसी को तत् शब्द कहता है। इसीलिए उसमें आसक्त जो विषय हैं वे तत्पर कहलाते हैं। उनका

१- वाचकलक्षकव्यंजकत्वेन त्रिविधं शब्दजातम्।
- प्रतापरुद्रीय, काव्य० प्र०, पृ० ५५

२- वाच्यलक्ष्यव्यंग्यत्वेनार्थजातमपि त्रिविधम्।
- प्रताप०, पृ० ५५

३- तात्पर्यार्थोऽपि व्यंग्यार्थ एव, न पुन: पृथग्भूत:।
- प्रताप०, पृ० ५५

भाव तात्पर्य है[१]। टीकाकार कुमारस्वामी ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए मीमांसकों के मत का उल्लेख किया है। जिनके अनुसार अभिधा द्वारा पदों से उपस्थापित अर्थों की शक्ति ही तात्पर्य है। तब इस विशिष्ट अर्थ का व्यंग्य में अन्तर्भाव कैसा ? इसका उत्तर देते हैं - केवल उतने ही अर्थ को कहने में कवि के उद्योग की समाप्ति नहीं हो जाती क्योंकि शब्दों का अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का विषय इन अर्थों को दबाकर प्रतीत होने वाला रसादि ही बन सकता है। अत: वह रस ही तात्पर्यार्थ है और उसको प्रतीत करा देने वाली पदों अथवा अर्थों की शक्ति ही कवियों के सिद्धान्त में तात्पर्य है। वह तात्पर्य शक्ति अभिधा नहीं है क्योंकि उस अर्थ में संकेत का अभाव है। लक्षणा भी नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ बाध आदि का अभाव है। अत: व्यंजना से प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है[२]।

अभिधा पदों की शक्ति है वाक्य की नहीं। अभिधा शक्ति

१- अत्र वक्तृबुद्धिसन्निधापितो वाक्याकाम्यो वाक्यार्थो रसादिरूपस्तच्छ -ब्देनोच्यते। तस्मिन् परास्तत्परास्तदासक्तास्तद्विषया इत्यर्थ:। तेषां भावस्तात्पर्यम्।

- प्रताप०, काव्य प्रकरण, रत्नापण टीका, पृ० ५५

२- नन्वभिहितानां पदार्थानामर्थाभिधायिनां वा पदानां विशिष्टार्थप्रत्यायन-शक्तिस्तात्पर्यमिति मतभेदेन मीमांसका वर्णयन्ति। - - - - कथमस्य व्यंग्येऽन्तर्भाव इति चेत् सत्यम्। न हि तावन्मात्रे कविसंरम्भविश्रान्ति:। काव्यशब्दानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूतस्य प्रधानस्य प्रयोजनान्तरस्यासंभवात्। किं तु तदर्थन्यक्कारेण प्रतीयमाने सामाजिका-नन्दास्वादफले रसादावर्थान्तरे। अत: स एव तात्पर्यार्थ:। तत्प्रत्यायक-पदार्थशक्तिरेव तात्पर्यं कविसमये तच्च नाभिधा, स्वार्थे संकेताभावात्। नापि लक्षणा, मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। अतो वक्ष्यमाणलक्षणस्य व्यंजन-स्यैवेदं नामान्तरकरणमिति तदर्थस्य व्यंग्यार्थत्वमेवेति भाव:।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ५६

द्वारा पदार्थोपस्थिति होती है। तदनन्तर वाक्यगत व्यस्त पदार्थों का अन्वय होता है, इस अन्वय के प्रयोजक हैं— आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि, जो कि पदार्थों के धर्म हैं। पदार्थों में अन्वय करने वाली शक्ति ही तात्पर्य शक्ति है। तात्पर्यशक्ति द्वारा प्रकाशित पदार्थों के अन्वित अर्थ को ही वाक्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ कहते हैं।[1] तात्पर्यवृत्ति अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा अपनाई गयी है। अभिहितान्वयवादी के अनुसार अभिहित अर्थात् अभिधावृत्ति द्वारा बोधित पदार्थों के बोध के अनन्तर अन्वय होता है।[2] इसके विपरीत प्राभाकर मीमांसक अन्वित पदार्थों में ही शक्ति मानने के कारण अन्वय को प्रकाशिका तात्पर्यशक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार[3] पूरा वाक्यार्थ अभिधा द्वारा ही निष्पन्न होने के कारण वाच्यार्थ ही है। आलङ्कारिक इस विषय में अभिहितान्वयवादी के ही अनुयायी हैं। क्योंकि वे भी पदार्थान्वय के लिए तात्पर्यशक्ति को स्वीकार करते हैं। विद्यानाथ और कुमारस्वामी ने तात्पर्य और ध्वनि दोनों को एक ही माना है। किन्तु यह तात्पर्य मीमांसकों का तात्पर्य नहीं अपितु ध्वनि का दूसरा नाम है। कुमारस्वामी ने तात्पर्य शब्द का सामान्य अर्थ तत्परत्व अर्थात् रसादिपरत्व या व्यंग्यपरत्व माना है। ध्वन्यालोक में तत्परत्व का प्रयोग इसी सामान्य अर्थ में मिलता है।[4] कुमारस्वामी ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत

१- आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् - - - - - - अभिहितान्वयवादिनां मतम्।

- काव्यप्रकाश, पृ० २६

२- अभिहितानां स्वरूपतः पदैरुपस्थितानामर्थानामन्वय इति वादिनां भाट्ट मीमांसकानाम्।

- बालबोधिनी, पृ० २६

३- वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।

- काव्यप्रकाश, द्वि० उ०, पृ० ३७

४- तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रतिष्ठितौ।

- ध्वन्यालोक, प्र० उ०, पृ० १३६

तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यंग्यप्राधान्ये स ध्वनिः।

- ध्वन्या०, प्र० उ०, पृ० १४६

से आनन्दवर्धन के तर्कों के अन्तिम भाग को उद्धृत किया है जिससे यह पता चलता है कि मीमांसकों को भी यदि वे पौरुषेय या अपौरुषेय का अन्तर स्पष्ट करना चाहें तो ध्वनि या व्यंजना को स्वीकार करना पड़ेगा । धनिक ने भी व्यंग्यार्थ और तात्पर्यार्थ में अभेद माना है[1]। विद्यानाथ ने काव्यप्रकरण में अभिधा लक्षणा और व्यंजना के नामोल्लेख के बाद ही तात्पर्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अभेद माना है । और शब्दों की तीन वृत्तियां मानी ।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना ये तीनों शब्दों की वृत्तियां हैं[2]। इन्हीं तीनों को व्यापार अथवा शक्ति भी कहा जाता है ।

१- अभिधावृत्ति -

संकेतित अर्थ को विषय करने वाला शब्द का व्यापार अभिधा है[3]। यहां संकेतित में संकेत शब्द का अर्थ है शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का अवधारण[4]। अभिधाशक्ति द्वारा शब्द केवल अपने संकेतित अर्थ को बताता है । अत: अभिधा शब्द की शक्ति है । इसी को मुख्यावृत्ति भी कहते हैं । शब्द को सुनकर जिस अर्थ की अव्यवहित रूप से नियमत: प्रतीति होती है उस अर्थ में उस पद का संकेत माना जाता है । मम्मट के अनुसार, 'वह साक्षात् संकेतित अर्थ मुख्य अर्थ कहलाता है और उसका बोधन कराने में शब्द का जो व्यापार होता है वह अभिधा कहलाता है[5]।'

१- तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनि: ।
- दशरूपक, च० प्र०, पृ० ३३७

२- अभिधालक्षणाव्यञ्जनाख्यास्तिस्र: शब्दवृत्तय: ।
- प्रताप०, पृ० ५५

३- तत्र संकेतितार्थगोचर: शब्दव्यापारोऽभिधा । - प्रताप०, पृ० ६२

४- संकेत: शब्दार्थयो: सम्बन्धावधारणं स कृतो यस्य स संकेतित: ।
- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ६३

५- स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।
- काव्यप्रकाश, २।८, पृ० ५०

विद्यानाथ ने अभिधा के दो भेद किये हैं — १- रूढ़िपूर्विका, २-योगपूर्विका[1]।

२- लक्षणावृत्ति -

मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर उसके सम्बन्धी अर्थ में आरोपित शब्द-व्यापार लक्षणा है[2]। मम्मट के अनुसार - मुख्यार्थबाध, लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध, रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर, यही तीनों लक्षणा शक्ति के व्यापार के लिए आवश्यक हैं[3]। विद्यानाथ ने सम्बन्ध और अनुपपत्ति को लक्षणा का मूल माना है[4]। सम्बन्ध का अर्थ है मुख्यार्थ योग तथा अनुपपत्ति है मुख्यार्थबाध[5]। उन्होंने रूढ़ि या प्रयोजन को लक्षणा के लक्षण में नहीं रखा है।

मुख्यार्थ बाध यह लक्षणा की पहली शर्त है। अर्थात् जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनका अभिधेयार्थ संगत न होने के कारण बाधित हो जाए। जैसे `गंगायां घोष:` यहां गंगा शब्द का अर्थ है प्रवाह या धारा। गंगा की धारा में अहीर का घर बन ही नहीं सकता। अत: इन दोनों शब्दों में मिलने की योग्यता नहीं है। इस प्रकार `गंगा में घर` का अर्थ बाधित हो जाता है। यही अनुपपत्ति (मुख्यार्थ बाध)

१- सा द्विविधा - रूढ़िपूर्विका योगपूर्विका चेति।

- प्रताप० का० प्र०, पृ० ६२

२- वाच्यार्थानुपपत्त्या तत्संबन्धिन्यारोपित: शब्दव्यापारो लक्षणा।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६४

३- मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।

- काव्यप्रकाश २।६, पृ० ५१

४- - - - - - सम्बन्धानुपपत्तिमूलकत्वात्।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ५६

५- मुख्यार्थयोग: सम्बन्ध:। तद्बाधोऽनुपपत्ति:।

- रत्नापण टीका, पृ० ५८

लक्षणा का निमित्त है जिससे मुख्यार्थ का परित्यागकर अमुख्य अर्थ लिया जाता है ।

`सम्बन्ध` लक्षणा की दूसरी शर्त है । अर्थात् मुख्यार्थ से भिन्न किसी ऐसे अर्थ का लिया जाना जो मुख्यार्थ से सम्बद्ध हो और अर्थ के ले लिए जाने से मुख्यार्थ सम्बन्धी उक्त बाधा दूर हो सके । जैसे - `गंगायां घोषः` इस वाक्यांश में गंगा शब्द के मुख्यार्थ `प्रवाह` को छोड़कर गंगातट और शैत्य, पावनत्व अर्थ ले लिया जाता है । जो प्रवाह से सम्बद्ध है और यह अर्थ उक्त बाधा को भी दूर कर देता है । अर्थात् लक्ष्यार्थ सर्वदा मुख्यार्थ से सम्बद्ध ही होता है ।

विद्यानाथ ने लक्षणा की परिभाषा में मम्मट द्वारा प्रतिपादित `रूढितोऽथ प्रयोजनात्` का प्रयोग नहीं किया है । लक्षणा के सादृश्य-निबन्धना तथा सम्बन्धनिबन्धना ये दो मुख्य भेद किये हैं[१] ।

लक्षणा के भेद

१- सादृश्यनिबन्धना -

सादृश्यनिबन्धना लक्षणा मम्मट के अनुसार गौणी लक्षणा है । जैसे -`अग्निर्माणवकः` में सादृश्यातिशय के कारण सादृश्य-निबन्धना लक्षणा है । यहां अग्नि लक्षित तापकत्वादि गुण सादृश्य का सम्बन्ध है[२] । मम्मट के अनुसार अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति का न होना `उपचार` कहलाता है ।

१- अतएव सादृश्यनिबन्धना सम्बन्धनिबन्धना चेति द्विविधा लक्षणा ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ५८

२- यथाग्निर्माणवक इत्यत्राग्निसादृश्यविशिष्टमाणवकप्रतिपत्तिर्विवक्षिता ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ५६

उपचार से युक्त लक्षणा 'गौणी लक्षणा' कहलाती है। उपचार शब्द का अर्थ विश्वनाथ ने इस प्रकार दिया है - जो दो पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हों किन्तु, उनमें सादृश्य की अधिकता हो तो उस सादृश्य के आधार पर भेद प्रतीति को स्थगित कर देना उपचार कहलाता है[१]। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सादृश्य सम्बन्ध से किसी एक शब्द का दूसरे के साथ समानाधिकरण्य रूप में या उसके स्थान पर प्रयोग करना उपचार कहलाता है। जैसे- अग्निर्माणवक: में अग्नि लक्षित तापकत्वादि गुण सादृश्य के आधार पर ही सामान्याधिकरण्य रूप में प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार गौर्वाहीक: में वाहीक और बैल में जड़ता और मन्दता को समानता के आधार पर प्रयोग है। यह उपचार का मिश्रण है। विद्यानाथ ने सादृश्यनिबन्धना लक्षणा के दो भेद किए हैं --

(अ) सारोपालक्षणा, (ब) साध्यवसाय लक्षणा[२]।

(अ) सारोपालक्षणा -

जहाँ अभिहित अनपह्नुत विषय प्रस्तुत प्रकृत उपमेय एवं विषयी अप्रस्तुत अप्रकृत उपमान को समान रूप से कह दिया जाये वह आरोप है[३]। उससे युक्त लक्षणा सारोपा लक्षणा है।

सारोपा लक्षणा में एक वस्तु का दूसरे पर आरोप किया जाता है। अर्थात् यह लक्षणा रूपक अलङ्कार का मूल है। इसमें दो

१- उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयो: शब्दयो: सादृश्यातिशयमहिम्ना भेद प्रतीतिस्थगनमात्रम्।
- साहि० द०, द्वि० परिच्छेद, पृ० ६६

२- सादृश्यनिबन्धना सारोपा साध्यवसाया चेति द्विविधा।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ५८

३- विषयविषयिणोरभिहितयोरभेदप्रतिपत्तिरारोप:।
- प्रताप०, पृ० ६७

विषयी अप्रकृतो वह्नयादि: ।तयोरभिहितयोरनपह्नुतभेदतया सामानाधिकरण्येनोक्तयोरित्यर्थ:।
- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ६७

तत्व होते हैं ।(१)जिसका आरोप किया जाता है वह आरोप का विषयी कहलाता है ।(२)जिस वस्तु पर आरोप किया जाता है उसे आरोप का विषय कहा जाता है । इस लक्षणा में विषय और विषयी का भेद नहीं छिपाया जाता है, किन्तु दोनों शब्दों का प्रयोगकर उन्हें और अधिक स्पष्ट कर दिया जाता है । मम्मट ने इस लक्षणा की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'जहां आरोप्यमाण उपमान तथा आरोप विषय उपमेय दोनों शब्दत: कथित होते हैं वह सारोपा लक्षणा है'[१]। विद्यानाथ ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है --

> मन्थानाचलमूलमेचकशिलासंघट्टनश्यामिका-
>
> कारं यत्तुहिनद्युतौ स्फुरति तत सारङ्गमाचक्षते ।
>
> मन्ये नन्विह वीररुद्रनृपते: कीर्तिश्रिया निर्जित-
>
> स्तन्मुद्राङ्कवराहमिन्दुरुरसा बिभ्रत् समुज्जृम्भते ।।

यहां चन्द्राङ्कभूत कुरङ्ग में वराहत्व का आरोप होने के कारण सारोपा लक्षणा है ।

(ब) साध्यवसाय लक्षणा -

विषय के निगरण से अर्थात् प्रकृत प्रस्तुत उपमेय को न कहकर भी अप्रकृत अप्रस्तुत उपमान विषयी के साथ अभेद ज्ञान अध्यवसाय है[२]। उससे युक्त लक्षणा साध्यवसाय लक्षणा है । इस प्रकार अध्यवसाय शब्द का अर्थ है दो वस्तुओं का एकीकृत रूप में ऐसा परिचय जिसमें एक वस्तु दूसरे में सर्वथा तिरोहित हो जाये । इस प्रकार साध्यवसाना लक्षणा में विषय को विषयी सर्वथा आत्मसात् कर लेता है । आशय यह है कि सारोपा का प्रतीयमान भेद जब प्रतीतिगोचर नहीं होता तब वहां पर साध्यवसाना

१- सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा । सूत्र १४

- काव्यप्रकाश, द्वि० उल्लास, पृ० ६१

२- विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय: ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६७

लक्षणा होती है । अर्थात् केवल एक शब्द का प्रयोग कर उससे दोनों का अर्थ समझा जाय अर्थात् उनमें इतनी एकता स्थापित कर दी जाय मानों वे दोनों एक ही हों । इसमें केवल विषयी का उल्लेख होता है विषय का नहीं । मम्मट के अनुसार विषयी अर्थात् आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा दूसरे अर्थात् आरोप विषय रूप उपमेय का अपने में अन्तर्भाव कर लिए जाने पर साध्यवसानिका लक्षणा होती है[1] । विद्यानाथ ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है --

काकतीयकुलाम्भोधि: प्रभवत्येष चन्द्रमा: ।
कृत: कुवलयोल्लासो येनोदयमुपेयुषा ।।

यहां प्रतापरुद्र का चन्द्रत्व रूप से अध्यवसाय किया है और काकतीय कुल में अम्भोधि का आरोप है । अत: यहां साध्यवसाय लक्षणा है ।

२- सम्बन्धनिबन्धना लक्षणा -

विद्यानाथ ने लक्षणा का दूसरा भेद सम्बन्धनिबन्धना लक्षणा माना है । सादृश्येतर सम्बन्धनिबन्धना ही आचार्य मम्मट के अनुसार शुद्धा लक्षणा है । मम्मट ने उपचार से रहित लक्षणा को शुद्धा लक्षणा कहा है[2] । जहां सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त सामीप्य आदि रूप कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक होता है वहां शुद्धा लक्षणा होती है । जैसे - गङ्गायां घोष: में गंगा सामीप्य आदि अन्य सम्बन्ध है । विद्यानाथ ने सम्बन्धनिबन्धना के जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा नामक दो भेद किये हैं[3] ।

(अ) जहल्लक्षणा -

जहल्लक्षणा को आचार्य मम्मट ने लक्षणा-

१- विषय्यन्त:कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ।
-काव्यप्रकाश, २।११, पृ० ६१

२- उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रितत्वात् ।
- काव्यप्रकाश, द्वि० उ०, पृ० ५७

३- सम्बन्धनिबन्धना जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा चेति द्विविधा ।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ५८

लक्षणा कहा है । इस लक्षणा में लक्षक पद दूसरे पदों के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है[1]। जहद्वाच्या लक्षणा को ही वेदान्तशास्त्र में 'जहत्स्वार्था' लक्षणा कहा गया है जिसे मम्मट ने लक्षण - लक्षणा कहा है ।

मुख्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ का लिया जाना ही लक्षणा है । किन्तु कहीं-कहीं मुख्यार्थ अतिरिक्त अर्थ (लक्ष्यार्थ) को लक्षित कराकर स्वयं सर्वथा विरत हो जाता है । वहां पर शब्द का उपादान केवल स्वभिन्न अर्थ को लक्षित कराना ही होता है । इस भेद को स्पष्ट प्रतीति जहत्स्वार्था शब्द से विशेष-रूप में होती है । जहत्स्वार्था का शाब्दिक अर्थ है, जहत् अर्थात् छोड़ दिया गया है अपना अर्थ जिसमें । इसमें शब्द अपने अर्थ को सर्वथा खो देता है और अपना पूर्ण समर्पण दूसरे अर्थ के लिए कर देता है । विद्यानाथ ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है --

जेतुः ककुभिभूमर्तुराकर्ण्य पटहध्वनिम् ।
सामन्तनगराण्युच्चैराक्रोशन्ति समन्ततः ।।

यहां 'नगराण्युच्चैराक्रोशन्ति' में नगर पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर 'नगरवासी' इस अर्थ का बोध करा रहा है । मम्मट ने इसका उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया है । इसमें गङ्गा शब्द अपने जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है ।

(ब) <u>अजहद्वाच्या लक्षणा-</u>

अजहद्वाच्या लक्षणा के अन्तर्गत वाक्य में प्रयुक्त किसी पद का अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है । अर्थात् इसमें स्वार्थ के साथ अन्य अर्थ भी लक्षित होता है । अजहद्वाच्या लक्षणा ही मम्मट की उपादान लक्षणा है । जब किसी शब्द का अर्थबाधित हो जाता है तब उस बाधा को दूर करने और अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए

१- स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ।।
- काव्यप्रकाश, २।१०, पृ० ५३

जब शब्द का मुख्यार्थ अपने साथ नये अर्थ का आक्षेप कर लेता है तो इस नये अर्थ के उपादान के कारण उसे उपादान लक्षणा कहा जाता है । उपादान लक्षणा में शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों मिलकर तात्पर्य की पूर्ति करते हैं । इसमें एक अतिरिक्त अर्थ का उपादान कर लेता है । उपादान लक्षणा को [illegible] ही न्यायशास्त्र में अजहत्स्वार्था लक्षणा कहा जाता है क्योंकि इसमें अर्थ का सर्वथा हनन नहीं होता, जो नया अर्थ लिया जाता है उसके साथ मूल अर्थ का भी क्रिया के साथ अन्वय बना रहता है । इसका उदाहरण विद्यानाथ ने इस प्रकार दिया है --

> प्रत्युः काकतिनाथस्य पादपीठमनारतम् ।
> स्फुरद्रत्नप्रभाजालैरलंकुर्वन्ति मौलयः ।।

यहां अलङ्कार की सिद्धि के लिए अर्थात् किरीट राजाओं का शिरोभूषण है इस तथ्य को प्रकट करने के लिए मौलि शब्द से स्वाश्रयीभूत नृपति लक्षित होते हैं । अतः मौलि का अर्थ है मौलि सहित राजा । इस प्रकार स्वार्थ विशिष्ट अन्यार्थ की प्रतीति हो रही है । मम्मट ने 'कुन्ताः प्रविशन्ति' यह उदाहरण दिया है । यहां कुन्त आदि पद के द्वारा अपने अचेतन रूप में प्रवेश क्रिया की सिद्धि के लिए कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप द्वारा बोध कराया जाता है । इसलिए स्वार्थ का परित्याग किये बिना अन्यार्थ के ग्रहण रूप उपादान से यह लक्षणा है ।

मम्मट ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' कहकर लक्षणा के ६ भेद माने हैं । किन्तु, विद्यानाथ ने लक्षणा के चार भेद ही माने हैं --सादृश्य-निबन्धना के सारोपा तथा साध्यवसाया और सम्बन्धनिबन्धना के जहद्वाच्या और अजहद्वाच्या[१] । आचार्य हेमचन्द्र ने भी लक्षणा के चार भेद माने हैं[२] ।

१- अतएव सादृश्यनिबन्धना सम्बन्धनिबन्धना चेति द्विविधा लक्षणा । सम्बन्धनिबन्धना जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति द्विविधा । सादृश्य-निबन्धना सारोपा साध्यवसाया चेति द्विविधा । एवं लक्षणा चतुर्विधा।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ०५८

२- काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय, पृ० २४-२५
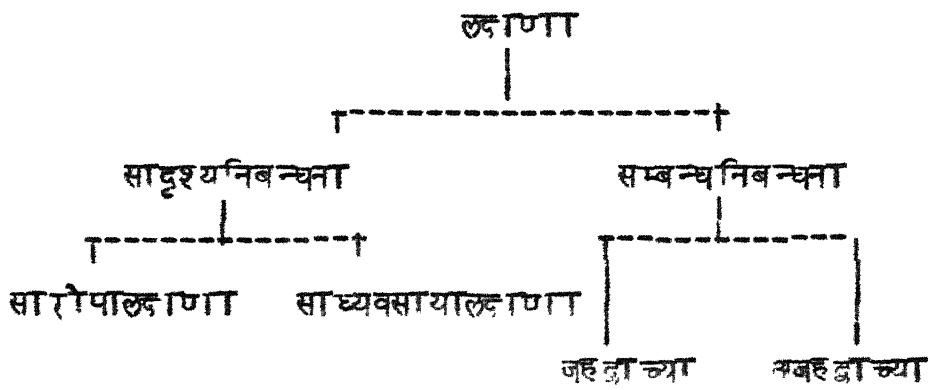
३- व्यञ्जना -

विद्यानाथ ने अभिधा और लक्षणा के बाद शब्द की तीसरी वृत्ति व्यञ्जना का उल्लेख किया है। पदार्थों में अन्वय हो जाने के बाद वाक्यार्थ के उपस्कार के लिए अर्थान्तर विषयक जो शब्द-व्यापार है वह व्यञ्जना वृत्ति है[1]। पदार्थों में अन्वय होने का अर्थ है पदों के द्वारा अभिधा से कहे हुए अर्थ पदार्थ आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति के वश परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) होने पर। अर्थात् समन्वय शक्ति से वाक्यार्थ के प्रतीत होने पर अथवा अर्थ एवं प्रकरणादिकों के द्वारा प्राकरणिक अर्थ के पर्यवसित होने पर। इससे यह सूचित होता है कि अभिधा और समन्वयशक्ति के सम्भव होने पर लक्षणा के भी अनन्तर व्यञ्जना वृत्ति होती है।

व्यञ्जना व्यापार ध्वनि सिद्धान्त का प्राण तत्व है। इसी की प्रतिष्ठा करना ध्वनिवादियों का प्रधान लक्ष्य रहा है। जिस प्रकार अभिधादि शक्तियों की भावात्मक परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं उस प्रकार व्यञ्जना की परिभाषा नहीं मिलती है। अभिधादि वृत्तियों का तो अन्य शास्त्रों में भी स्थान है, किन्तु व्यंजना वृत्ति वस्तुत: साहित्यिकों की ही वृत्ति है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में व्यंजकत्व का वाचकत्वादि से भेद दिखाकर व्यंजना की पूर्ण

१- अन्वितेषु पदार्थेषु वाक्यार्थोपस्कारार्थमर्थान्तरविषय: शब्दव्यापारो व्यञ्जना वृत्ति:।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६८

प्रतिष्ठा करने के लिए व्यंजना का विशद् एवं विस्तृत विवेचन तो किया गया है किन्तु व्यंजना की स्पष्ट रूप से एक भी परिभाषा नहीं दी गयी है । आनन्दवर्धन ने वस्तु व्यंग्य के प्रसंग में व्यंग्य अर्थ की स्पष्ट परिभाषा दी है।[1] इसी के आधार पर व्यंजना की परिभाषा बना सकते हैं, क्योंकि[2] व्यंजना की सिद्धि व्यंग्य के अधीन तथा व्यंग्य की सिद्धि व्यंजना के अधीन है। शब्द-प्रयोक्ता कभी वाच्य रूप से ही अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और[3] कभी प्रयोजन की अपेक्षा से अनभिधेय रूप से अर्थ प्रकाशन करना चाहता है। किन्तु प्रतिभाशाली वक्ता या कवि का जो पार्यन्तिक प्रयोजन होता है उसकी अवाप्ति वह श्रोता को अभिधेय रूप से कभी नहीं करना चाहता। प्रयोजन[4] को अभिधेय बनाकर तो सारा चमत्कार या वैचित्र्य ही नष्ट हो जाता है। फलत: वह उस प्रयोजन प्रतीति को रमणीय रूप देने के लिए अनभिधेय ही रखता है। ऐसी अवस्था में उसके उस 'अनभिधेय अभिप्राय' विशेष की रमणीय प्रत्यायना जिस शक्ति से होती है उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। आचार्य मम्मट ने भी व्यंजना की अलग से परिभाषा नहीं दी है। मम्मट ने लक्षणा के विवेचन के प्रसंग में सर्वप्रथम प्रयोजन की निष्पत्ति कराने वाली लक्षणामूला व्यंजना का लक्षण दिया है[5]। संकेत न होने के कारण जब अभिधा नामक शब्द व्यापार

१- वस्तु चारुत्व प्रतीतये - - - - - - - - शब्दानां प्रयोगदर्शनात् ।

- ध्वन्यालोक, तृ० उ०, पृ० ४६६-६७

२- व्यंजकसिद्ध्यधीनं - - - - - - - - - - व्यंग्यस्य सिद्धि: ।

- ध्वन्यालोक, तृ० उ०, पृ० ४५५

३- प्रयोक्ता हि कदाचित् - - - - - - - - - प्रयोजनापेक्षया ।

- ध्वन्या०, तृ० उ०, पृ० ४८६-८७

४- सारभूतो ह्यर्थ: - - - - - साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन ।

- ध्वन्या०, च० उ०, पृ० ५७६-७७

५- यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

- काव्यप्रकाश, द्वि० उ०, पृ० ७०

समर्थ नहीं रहता और प्रयोजन की प्रतीति में हेतु (मुख्यार्थयोग, रूढि तथा प्रयोजन) न रहने के कारण लक्षणा भी समर्थ नहीं रहती है तब व्यंजना के अतिरिक्त कोई शब्द व्यापार समर्थ नहीं है । विद्यानाथ ने व्यंजना की स्पष्ट रूप से परिभाषा दी है । 'पदार्थों में अन्वय हो जाने के बाद उपस्कार के लिए अर्थान्तर विषायक जो शब्द व्यापार है वह व्यंजना वृत्ति है ।'

साहित्यदर्पणकार ने व्यंजना की स्पष्ट और सरल व्याख्या की है-जब अभिधा और लक्षणा वृत्तियां विरत हो जाती हैं तो व्यंजना वृत्ति द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है[1]। प्रतापरुद्रीय में कुमारस्वामी ने टीका में अभिनवगुप्त के मत का उल्लेख करते हुए कहा है, 'लक्षणा तो समन्वय शक्ति से समर्पित किन्तु विघुरित अन्वय का घुरीकरण करने वाली है । अत: समन्वय-शक्ति के अनन्तर ही भाविनी है[2]।' व्यंग्यरहित काव्य आत्मरहित शरीर की तरह असुन्दर है अत: काव्य शरीरभूत वाक्यार्थ की सुन्दरता के लिए वाच्य एवं लक्ष्य से भिन्न व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्दव्यापार व्यंजना है । यहां शब्द अर्थ का भी उपलक्षण है क्योंकि अज्ञातार्थक शब्द और शब्द से अनभिधेय अर्थ दोनों व्यंजक नहीं हो सकते अत: यह व्यंजना वृत्ति दोनों में रहती है ।

व्यञ्जना के भेद -

विद्यानाथ[3] ने व्यञ्जना के तीन भेद माने हैं - शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और उभयशक्तिमूल ।

१- विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते पर: ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।
- साहित्यदर्पण, २।१२, पृ० ७५

२- लक्षणा तु समन्वयशक्तिसमर्पितान्वयविघुरीकरणघुरीणत्वादन्वय-शक्त्यनन्तरभाविन्येत्यवोचन्नभिनवगुप्ताचार्यपादा : ।
- प्रताप०, का० प्र०, रत्नापण, पृ० ४८

३- सा त्रिविधा शब्दार्थोभयशक्ति मूलत्वेन ।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ४८

शब्दशक्तिमूल व्यंजना में अर्थ सहकारी है और अर्थशक्तिमूल में शब्द सहकारी है, उभयशक्ति मूल में उस-उस अंश के लिए वह-वह अंश उत्तरदायी है ।

१- शब्दशक्तिमूला व्यंजना -

शब्दशक्तिमूल व्यंजना में अर्थ सहकारी होता है । अनेकार्थक शब्दस्थल में प्रकरणादि के द्वारा अप्रकृतार्थवाचकता का नियन्त्रण कर देने पर भी उस अप्रकृतार्थ की प्रतीति जिसके द्वारा होती है वह व्यंजना शब्दशक्ति मूल है[१] । मम्मट के अनुसार 'जहां पर किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसके कई सांकेतिक अर्थ हों वहां पर संयोग इत्यादि के द्वारा जब इस बात का निर्णय हो जाता है कि प्रकरणानुसार कौन सा अर्थ अभिप्रेत है तब कभी-कभी श्रोता के सूक्ष्म निरीक्षण के कारण और कभी-कभी वक्ता इत्यादि की विशेषताओं आदि के कारण उन्हीं शब्दों के द्वारा किसी अन्य अर्थ का प्रतिपादन होने लगता है । वहां उस दूसरे अर्थ के प्रत्यायन में अभिधा नहीं मानी जा सकती क्योंकि उसका तो नियमन हो चुका है । लक्षणा भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि मुख्यार्थ बाध इत्यादि तीनों हेतु उपस्थित नहीं होते । अतएव यहां पर व्यंजना व्यापार ही स्वीकार करना पड़ेगा ।'[२] विद्यानाथ ने इसका उदाहरण इस प्रकार से दिया है --

वाहिन्यः काकतीन्द्रस्य सर्वतोमुखसम्भ्रमाः ।
कुर्वन्त्युद्धकबन्धाढ्यं प्रतिपक्षबलार्णवम् ।।

यहां वाहिनी शब्द सैन्य अर्थ का, सर्वतोमुख सर्वव्यापित्व

१- अनेकार्थस्य शब्दस्यार्थप्रकरणादिभिरप्रकृतार्थवाचकत्वे निवारितेऽपि तत्प्रतीतिर्यत्प्रसादलब्धा सा शब्दशक्तिमूला ।
- प्रतापo, काo प्रo, रत्नापण, पृo ६८

२- इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाभावात् । अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः ।
- काव्यप्रकाश, द्वि0 उल्लास, पृo ८०

अर्थ का, कबन्ध शब्द कटे हुए मस्तक वाले देह का वाचक है। इनकी अर्थ एवं प्रकरणादि के द्वारा वाचकता को नियंत्रित कर देने पर भी जिससे नदी जल की प्रतिपत्ति होती है वह शक्ति व्यंजना है। प्राकरणिक अर्थ को बतलाकर पर्यवसित होने वाली अभिधा अप्राकरणिक अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में अशक्त है। अप्राकरणिक अर्थ भी वाक्यार्थ की शोभा के लिए वक्ता को बतलाना अभीष्ट है किन्तु, अन्य किसी प्रकार से वह अन्य अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता। अत: उसकी प्रतीति के लिए व्यापारान्तर की कल्पना करनी पड़ रही है। यहां लक्षणावृत्ति अन्यार्थ के बतलाने में समर्थ नहीं है क्योंकि वाच्यार्थ की अनुपपत्ति नहीं होती है। लौकिक वाक्य होने के कारण दो व्यापारों के द्वारा अर्थ के प्रतिपादन करने पर वाक्य भेद नामक दोष नहीं माना जायेगा।[1] विद्यानाथ ने मम्मट की भांति शाब्दी व्यंजना के अभिधामूला और लक्षणामूला ये दो अलग-अलग भेद नहीं किये हैं।

२- अर्थशक्तिमूला व्यंजना—

अर्थशक्तिमूल व्यंजना में शब्द सहकारी होते हैं। वक्तृ बोधव्यादि के वश से सहृदयों को जिससे अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य तीनों अर्थों में रहने वाला व्यापार अर्थशक्तिमूला व्यंजना है।[2] मम्मट ने भी आर्थी व्यंजना की यही परिभाषा दी है 'वक्ता तथा बोधव्यादि के वैलक्षण्य के कारण प्रतिभावान् सहृदय जनों को वाच्यार्थ

१- प्राकरणिकार्थपर्यवसिताभिधा न शक्नोत्यप्राकरणिकार्थप्रतिपत्तिं कर्तुम् प्राकरणिकार्थस्यापि वाक्यार्थशोभार्थं वक्तुर्विवक्षितत्वात् अन्यतस्तद-प्रतीतेर्व्यंजनाख्यं शब्दस्यैव व्यापारान्तरं कल्पयते। नात्र लक्षणावृत्ति: संभवति, वाच्यानुपपत्त्यभावात्। नात्रव्यापारद्वयेनार्थप्रतिपादने वाक्यभेद: प्रयोक्तृविवक्षापरतन्त्रत्वाल्लौकिकवाक्यानाम्।

— प्रता० य०, का० प्र०, पृ० ७०-७१

२- वक्तृबोधव्यादिवशात् सहृदयानामर्थान्तरप्रतीतिहेतुर्वाच्याद्यर्थव्यापारोऽर्थ-शक्तिमूला।

— प्रता० य०, का० प्र०, रत्नापण, पृ० ६८

से भिन्नार्थ की प्रतीति कराने वाले अर्थव्यापार को व्यंजना कहते हैं[१]।

मम्मट ने व्यंजना के दो मुख्य सहकारी तत्वों अथवा प्रयोजकों का स्पष्ट निर्देश दिया है। वे दो सहकारी हैं - विषय की दृष्टि से वक्ता आदि का वैशिष्ट्य तथा प्रतिपत्ता की दृष्टि से प्रतिभा की अपेक्षा। व्यंग्यार्थ की प्रतीति केवल प्रतिभावान् प्रतिपत्ता को ही होती है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि व्यंग्यार्थ तो केवल काव्य तत्वज्ञ द्वारा ही जाना जा सकता है[२]। अभिनवगुप्त के शब्दों में व्यंजना-शक्ति प्रतिपत्तृ प्रतिभा सहाया है[३]। वक्त्रादि की विलक्षणता का ज्ञान भी व्यंजना का मुख्य प्रयोजक है। मम्मट ने केवल आर्थी व्यंजना में ही वक्ता आदि वैशिष्ट्य को सहकारी माना है। विद्यानाथ ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है --

> श्रुत्वा काकतिभूभर्तुः क्षोणीपाणिग्रहोत्सवम्।
> अङ्गुष्ठेनालिखन्भूपाः पादपीठीं नताननाः॥

यहां राजाओं को विषाद हो रहा है यह अर्थशक्ति से व्यक्त हो रहा है। क्योंकि नताननत्व होने के कई कारणों से सम्भावना की जा सकती है। लज्जा से, भय से, दुःख से भी नताननत्व हो सकता है। किन्तु,

---

१- वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः॥ २१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ २२॥
- काव्यप्रकाश, ३।२१-२२, पृ० ८२

२- वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्।
- ध्वन्या०, १।७, पृ० ६४

३- तच्छक्त्युपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभा-सहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः। -लोचन, प्र० उ०, पृ० ६०-६१
प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्।
-लोचन, प्र०उ०, पृ० ६८

वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाप्रणीतो ध्वननव्यापारः।
- लोचन, प्र० उ०, पृ० ६८-६९

श्लोक सुनते ही सद्य: कारणविशेष की प्रतीति नहीं होने पर जो नताननत्व हो रहा है उसका कारण है कि भूमि पर रुद्रदेव का अधिकार कर लेना । अत: उसको जानकर राजाओं को विषाद हो रहा है । यहां संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य है ।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि अर्थशक्तिमूल ध्वनि स्थल में अनुमान किया जा सकता है अत: व्यंजना की आवश्यकता नहीं है । महिम भट्ट ने ध्वनि को अनुमिति मात्र मानते हुए व्यंजना का निषेध किया है और कहा कि अभिधा ही शब्द की एकमात्र शक्ति है, जिसे व्यंग्य कहा जाता है वह अनुमेय मात्र है तथा व्यंजना पूर्वसिद्ध अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । वे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में व्यंजक व्यंग्य सम्बन्ध न मानकर लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध ही मानते हैं ।

इसका खण्डन करते हुए विद्यानाथ कहते हैं, अनुमान के लिए अविनाभाव रूप व्याप्ति की आवश्यकता है । प्रकृत में व्यंग्य एवं व्यंजकों में अविनाभावरूप व्याप्ति नहीं है । यदि नताननत्व को और विषाद की नियति होती तो वैसा मान लिया जाता किन्तु नताननत्व के तो लज्जा,भय, दु:ख एवं विषादादि अनेक कारण हैं । अत: नताननत्व रूप काय हेतुओं के अनेकान्तिक होने से व्याप्ति नहीं बन रही है । जब नताननत्व के अनेक कारण हैं तब विषाद रूप नियत कारण की प्रतीति कैसे होती है ? रुद्रदेव के द्वारा भूभाग पर अधिकार कर लेने रूप सहकारी कारण के विवक्षाधीन शब्द के प्रयोग से ही विषाद रूप नियत कारण की प्रतीति होती है । विवक्षाधीन शब्द का प्रयोग ही ऐसा असाधारण कारण है कि जिससे एक ही व्यंजक शब्द से उस-उस भिन्न-भिन्न व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है । यह एक शब्द से अनेक अर्थ की प्रतीति होना अनुमान की परिपाटी के विरुद्ध है । अर्थात् अनुमान में एक हेतु से अनेकार्थक विषायक अनुमिति नहीं हो सकती और न होती है[१]।

१- न चार्थशक्तिमूले व्यंजनेऽनुमानशङ्का, व्यंग्यव्यंजकयोरविनाभावाभावात् । नम्राननत्वादिकार्यस्यानेककारणकत्वात् । नियतकारणप्रतीतिर्वक्तृविवक्षानुसारेण भवति, इयमनेकव्यंग्यार्थप्रतीतिरनुमानपरिपाटीविरुद्धा ।
- प्रताप०, काव्यप्रकरण, पृ० ७३-७४

मम्मट ने भी महिमभट्ट का खण्डन करते हुए कहा है कि सर्वत्र ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है । लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध निश्चयात्मक है । अर्थात् जहां लिङ्ग (साधन या हेतु) निश्चय रूप से वर्तमान होगा वहीं लिङ्गी का अनुमान किया जा सकता है । परन्तु ध्वनि प्रसंग में वाच्यार्थ सदा ही निश्चयात्मक हेतु नहीं हो सकता । वह प्राय: अनैकान्तिक होता है ऐसी स्थिति में उसे व्यंग्यार्थ रूप चमत्कार के अनुमान का हेतु कैसे माना जा सकता है ।

इसके पश्चात् विद्यानाथ मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं - मीमांसकों के मतानुसार प्रतीयमानार्थ की प्रतीति अभिधा से होती है, ठीक नहीं है । क्योंकि अभिधा भी व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ नहीं है । उसका कारण है कि अभिधा का संकेत विषयीभूत अर्थ के साथ परिचय है[1] । अर्थात् आनन्त्य और व्यभिचार दोषों के कारण प्रतिव्यक्ति में संकेत नहीं कर सकते अत: केवल जातिरूप सामान्यरूप पदार्थों में ही संकेत होता है । उसके बाद आकांक्षा आदि के बल से उन पदार्थों का परस्पर अन्वय होने पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ लक्षणा के द्वारा उल्लसित होता है । इस प्रकार इनके मत में भी जब स्वार्थ सन्निकृष्ट वाक्यार्थ को भी अभिधा नहीं बतला सकती तब अर्थान्तर होने से विप्रकृष्ट[2] व्यंग्य को कैसे बतला सकती है, इसलिए व्यञ्जना वृत्ति मानना आवश्यक है ।

१- न चाभिधावृत्ति:, संकेतितार्थ एव तस्या: परिचय इतीयती गमनिका ।
- प्रताप, काव्यप्रकरण, पृ० ७५

२- आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां प्रतिव्यक्ति संकेतानुपपत्ते: सामान्यरूपाणां केवलपदार्थानां संकेतगोचरत्वम् । ततस्तेषामाकांक्षादिवशात् मिथोऽन्वये तत्संसर्गरूपो वाक्यार्थो लक्ष्यमाण: समुल्लसतीति भाट्टा: । तदुक्तम्- तस्मात् पदैरभिहितै: पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थ: प्रतिपाद्यते इति । अतस्तन्मतेऽपि स्वार्थसंसर्गरूपतया सन्निकृष्टवाक्यार्थाभिधानेऽप्यसमर्थानां पदार्थानामर्थान्तरत्वेन विप्रकृष्टस्य व्यंग्यस्याभिधानं दूरापास्तमिति व्यंजनोपादानमेव समञ्जसमिति भाव: ।

३- उभयशक्तिमूला व्यञ्जना -

उभयशक्तिमूला व्यंजना उभय सम्बन्ध में होती है जैसे --

विजिता रिपुरी मूर्ती क्लिसत्सर्वमङ्गल: ।
राजमौलिरसौ भाति रुद्रदेवो जगत्पति: ।।

यहां 'विजितारिपुर:' में अर्थशक्ति से भगवान शिव ध्वनित होते हैं । अत: शब्दों का परिवर्तन हो सकता है । 'विजितशत्रुनगर:' भी कह सकते हैं । क्लिसत्सर्वमङ्गल: में शब्दशक्तिमूल है क्योंकि यहां सर्वमङ्गल: शब्द का परिवर्तन नहीं कर सकते हैं । इसी प्रकार राजमौलि में भी राज शब्द का परिवर्तन नहीं कर सकते । यह अनेक व्यंग्यमूत अर्थों की प्रतीति अनुमान की परिपाटी के विरुद्ध है अत: यह उभयशक्तिमूल व्यंजना है ।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के बाद विद्यानाथ ने काव्य के तीन प्रकारों का विवेचन किया है ।

काव्य के प्रकार

अधिकांश ध्वनिवादी आचार्यों के ही समान विद्यानाथ ने भी काव्य के व्यंग्य की प्रधानता एवं अस्फुटता के कारण तीन भेद किये हैं । उत्तम, मध्यम और अधम । व्यंग्य की प्रधानता में काव्य उत्तम है जिसको ध्वनि कहते हैं । उसकी अप्रधानता में वह काव्य मध्यम है जो गुणीभूतव्यंग्य कहलाता है और उसकी अस्फुटता में काव्य अधम होता है जिसे चित्रकाव्य कहते हैं[१] ।

१- व्यंग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्फुटत्वेन च त्रिविधं काव्यं व्यंग्यप्राधान्ये उत्तमं काव्यं ध्वनिरिति व्यपदिश्यते । अप्राधान्ये मध्यमं गुणीभूतव्यंग्यमिति गीयते । व्यंग्यस्यास्फुटत्वे अधमं काव्यं चित्रमिति गीयते ।

- प्रताप, काव्य प्रकरण, पृ० ८६

१- उत्तम काव्य -

विद्यानाथ के अनुसार व्यंग्य की प्रधानता में काव्य उत्तम है अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्य की प्रधानता रहती है वह काव्य उत्तम है उसी को ध्वनि कहते हैं । ध्वनिकार ने ध्वनि काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है -- जहां पर वाचक शब्द अपने अर्थ को तथा वाच्य अर्थ अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना करते हैं उस विशिष्ट काव्य को विद्वानों ने ध्वनि कहा है[१]। अभिनवगुप्त के अनुसार - सर्वत्र व्यंजना-व्यापार में शब्द और अर्थ दोनों की व्यंजकता रहती है । शाब्दी व्यंजना में शब्द प्रधानतया और अर्थ सहकारितया तथा आर्थी व्यंजना में अर्थ प्रधानतया तथा शब्द सहकारितया व्यंजक बनता है । वाच्यार्थ का गौण हो जाना व्यंग्य की प्रधान स्थिति को बताता है[२]। अत: जिस काव्य में चमत्कारी व्यंग्य प्रधान रूप से स्थित हो वही ध्वनि काव्य है ।

ध्वनि सिद्धान्त व्यंजना वृत्ति और व्यंग्यार्थ पर आधारित है । काव्य के विभिन्न प्रकार भी इसी व्यंग्यार्थ के तारतम्य पर आश्रित हैं । आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमानार्थ की सत्ता काव्य में सिद्ध की और उसे ही काव्य का आत्मभूत तत्व कहा । मम्मट ने तो इसकी शास्त्रीय व्यवस्था भी कर दी ।

१- यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित: ।
- ध्वन्यालोक, १।१३, पृ० १०२

२- यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यंजकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जक: स्यात् । विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्रशब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापार: ।

- ध्वन्या०, लोचन, पृ० १०३

उनका विचार है कि काव्य में, जहां व्यंग्यार्थ में, वाच्यार्थ की अपेक्षा अत्यधिक चमत्कार की प्रतीति होती है वहां ध्वनि काव्य होता है[1]। इसी बात को आनन्दवर्धन ने भी प्रकारान्तर से कहा था कि जहां अर्थ अपने को और शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर व्यंग्यार्थ को प्रकट करते हैं उस काव्य विशेष को ध्वनि की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ध्वनि शब्द अथवा अर्थ किसी से भी हो सकती है। जहां शब्द से ध्वनि होती है उसे ध्वनि कहते हैं और जहां अर्थ से ध्वनि होती है उसे भी ध्वनि कहते हैं। शब्द अथवा अर्थ से जो व्यंग्यार्थ निकलता है उसे भी ध्वनि कहते हैं। ध्वनि की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने कहा है, 'जहां विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचकरूप शब्द उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं वह काव्य विशेष ध्वनि कहलाता है[2]।' 'उस अर्थ' से तात्पर्य है उस प्रतीयमान स्वादु अर्थ का जो प्रतिभाजन्य है और जो महाकवियों की वाणी में वाच्याश्रित अलंकार आदि से भिन्न, स्त्रियों में अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भांति कुछ और ही वस्तु है। अतएव यह विशिष्ट अर्थ प्रतिभाजन्य है, स्वादु है, वाच्य से अतिरिक्त कुछ दूसरी ही वस्तु है और प्रतीयमान है[3]।

१- इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

- काव्यप्रकाश, १।४, पृ० २८

२- वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः स काव्य विशेषो ध्वनिरिति।

- ध्वन्या०, प्र० उ०, पृ० १०४

३- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।
सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनां।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।

- ध्वन्या० १।४,६, पृ० ४७, ६२

ध्वनि के भेद

सर्वप्रथम विद्यानाथ ने ध्वनि के लक्षणामूलक तथा अभिधामूलक दो भेद किये हैं । लक्षणामूलक ध्वनि को अविवक्षितवाच्य तथा अभिधामूलक को विवक्षितान्यपरवाच्य कहा है [1] ।

१- अविवक्षितवाच्यध्वनि-

अविवक्षितवाच्यध्वनि वह है जिसमें वाच्यार्थ सर्वथा अविवक्षित रहता है । अर्थात् अनुपयुक्त अथवा अन्वय के अयोग्य रहता है । अविवक्षित वाच्य के मूल में लक्षणा रहती है । लक्षणा के मूलत: दो भेद हैं— उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा । उपादान लक्षणा में लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ (स्वार्थ) भी जुड़ा रहता है । उसका स्वार्थ त्याग नहीं किया जाता, किन्तु लक्षण लक्षणा में स्वार्थ का सर्वथा त्यागकर लक्ष्यार्थ निकलता है । इसलिए उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था तथा लक्षण लक्षणा को जहत्स्वार्था भी कहा जाता है । इसी द्विविध लक्षणा के अनुसार लक्षणामूला ध्वनि अर्थात् अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद किये गये हैं -- (अ) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, (ब) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य [2] ।

१- अत्र ध्वनेर्लक्षणाभिधामूलत्वेनाविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्याख्यौ प्रथमं द्वौ भेदौ ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६३

२- अविवक्षितवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृत वाच्यतया द्विविधस्य वाक्यपदगतत्वेन द्वैविध्ये चातुर्विध्यम् ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६३

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्ये वाच्य स्योपपद्यमानत्वेऽपि तात्पर्यानुपयोगाद-जहल्लक्षणामूलत्वम् । अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ये वाच्यस्यानुपपन्नत्वात् जहल्लक्षणामूलत्वमिति विवेक: ।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ६४

(क) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य -

जहां वाच्यार्थ का सीधा वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वय नहीं बनता है वहां शब्द अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर स्वसम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ को बोधित करता है। वहां अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि होती है। जैसे --

> मूर्धानो यूयमास्माका: किमित्यौन्नत्यमिच्छथ ।
> इति प्रतापरुद्रस्य प्रणता: प्रतिपार्थिवा: ।।

यहां 'अस्माका:' अर्थात् हम और हमारे सब आपके हैं इससे दीनता प्रतीत होती है। अत: हम दोनों के आप हैं इस प्रकार अस्माकं पद अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य है।

(ख) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य -

जहां वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है उसे अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि कहते हैं। जैसे --

> विशदिमविलिप्तवियतो धवलिमपरिपूरिताखिलाशान्ता: ।
> विहरन्ति यश:पूरा गौरा: श्रीकाकतीन्द्रस्य ।।

यहां यश का वैशिष्ट्य लक्षित होता है। उससे जो लेपनीय नहीं है वह भी लिप्त हो गया, जो शून्य रूप है, भरा नहीं जा सकता वह भी भर गया इस तरह अर्थ यहां अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य है। लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दोनों भेदों के पदगत एवं वाक्यगत होने से चार भेद हैं।

२- विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि -

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि वह है जिसमें वाच्य विवक्षित अर्थात् अन्वययोग्य होता हुआ भी व्यंग्यपरतन्त्र होने से व्यंग्यार्थ प्रवण रहता है[१]। इस विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूल ध्वनि

१- यस्मिन् ध्वनौ वाच्यं वाच्योऽर्थ: विवक्षितं वाच्यतावच्छेदकरूपेण अन्वयबोधविषय: अन्यपरं व्यंग्योपसर्जनीभूत च स: विवक्षितान्यपरवाच्य: ।
-का० प्र० बालबोधिनी टीका. पृ० ८३

में वाच्य सर्वथा उपपन्न होने के कारण अपने वैशिष्ट्य से ही व्यंग्यार्थ पर्यन्त प्रतीति कराता है । वाच्य की व्यंग्यपरत्वेन ही विवक्षा होती है । अतः इसे अभिधामूल ध्वनि भी कहते हैं[1] । इसके दो भेद हैं -- १ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य, २- संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में वाच्य से व्यंग्य तक पहुंचने के क्रम की प्रतीति का प्रश्न है तो यद्यपि वाच्य के अनन्तर ही व्यंग्य मिलेगा, इसलिए क्रम तो अवश्य रहेगा, किन्तु कभी वह क्रम सम्यक् रूप से लक्षित होगा कभी अलक्षित । अतः जिसमें क्रम लक्षित होता है उसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य और जहां लक्षित नहीं होता उसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहते हैं ।

(क) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य -

जहां व्यंजक विभावादि का और व्यंग्य रस का क्रम रहता हुआ भी क्रम नहीं मालूम पड़ता वह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहलाता है[2] । इसके अन्तर्गत अंगिरूप से वर्तमान रसादि प्रपंच है । अर्थात् रसध्वनि को ही असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा गया है । रस निष्पत्ति में दो प्रकार के तत्व प्रयोजनीय होते हैं - वाच्य और व्यंग्य । वाच्य के अन्तर्गत विभाव और अनुभाव आते हैं तथा व्यंग्य के अन्तर्गत संचारी भाव और स्थायी भाव आते हैं । पहले विभाव, अनुभाव रूपवाच्यार्थ की प्रतीति होती है तब वह व्यंग्यार्थ संचारी और स्थायी

१- अन्यपरं व्यंग्यपरम् । - - - - राजपुरुषासेवनवद् व्यंग्यपरत्वेनैव विवक्षितान्यपरं तथाभूतं वाच्यं यत्र स विवक्षितान्यपरवाच्यः ।

- प्रताप०, का० प्र०, रत्नापण टीका, पृ० ९३

२- यत्र व्यंजकस्य विभावादेर्व्यंग्यस्य च रसादेः सन्नपि क्रमो निश्चितसूच्या शतपत्रवेधवदाशुभावित्वान्न लक्ष्यते । सोऽसंलक्ष्यक्रम व्यंग्यः ।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ९५

के माध्यम से रसानुभूति प्रवर्तक बनता है । इस प्रकार रसानुभूति में एक क्रम बन जाता है । पहले शब्द श्रवण, फिर विभावानुभावरूप वाच्यार्थ प्रतीति, उसके बाद व्यंग्य संचारी और स्थायी की प्रतीति और तब रसानुभूति । किन्तु यह सारी क्रिया इतनी क्षिप्र होती है कि क्रम होते हुए भी लक्षित नहीं किया जा सकता । इसीलिए इसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा गया है ।

रसादि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का उपलक्षण है । अभिनवगुप्त के अनुसार रसादि अर्थ सदैव अक्रम होता हो ऐसी बात नहीं है । कभी-कभी रसादि में विभावादि तथा रसादि के बीच क्रम भी परिलक्षित होता है । जब क्रम लक्षित होता है तो उन रसादि की गणना संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अर्थशक्तिमूल भेद के अन्तर्गत होगी[1]। रसादि ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद, पदैकदेश, रचना और वर्ण में रहने के कारण ६ प्रकार की है[2]।

(ख) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य -

जहां व्यंग्य एवं व्यंजक में क्रम[3] पूर्वापर की परिपाटी संलक्ष्य हो, स्फुट संवेद्य हो वहां संलक्ष्यक्रम व्यंग्य है । इसमें वाच्य और व्यंग्य का क्रम उसी प्रकार लक्षित होता है जिस प्रकार घण्टा के रणन के पश्चात्

१- यो रसादिरर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा न त्वक्रम एव सः । क्रमत्वमपि तस्य कदाचिद् भवति तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वानरूपोदता ।

- ध्वन्या०, लोचन द्वि० उ०, पृ० १८३-८४

२- असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यो रसादिध्वनिः प्रबन्धवाक्यपदपदैकदेशरचनावर्णगतत्वेन षाड्विधः ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६५

३- संलक्ष्यः स्फुटसंवेद्यः क्रमो व्यंग्यव्यंजकयोर्यत्र स संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः ।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ६४

होने वाला अनुरण (गूंज)[1]। इसीलिए संलक्ष्यक्रम व्यंग्य को ध्वनिकार 'अनुस्वानसन्निभ' कहते हैं[2]। विद्यानाथ ने इसके तीन भेद किये हैं --
१- शब्दशक्तिमूल, २- अर्थशक्तिमूल, ३- उभयशक्तिमूल ।

आचार्य मम्मट ने भी इसके तीन भेद किये हैं। किन्तु ध्वनिकार ने उभयशक्तिमूल ध्वनि की मान्यता प्रदान नहीं की है। उन्होंने[3] संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के केवल शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक दो भेद किये हैं।

अ- शब्दशक्तिमूलध्वनि -

शब्दगतत्व का प्रयोजक शब्द-पर्याय-असहत्व है। अर्थात् व्यंजक शब्द का पर्याय रख देने पर यदि ध्वनिता न रहे तो वह शब्द-शक्तिमूलध्वनि कही जायेगी। विद्यानाथ ने शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यंग्य, वस्तु एवं अलंकार रूप से, दो प्रकार का माना है। मम्मट भी शब्दशक्तिमूल के अन्तर्गत अलंकारध्वनि तथा वस्तु ध्वनि दोनों को मानते हैं। किन्तु, ध्वनिकार शब्दशक्तिमूल में केवल अलंकारध्वनि को ही मानते हैं। विद्यानाथ ने शब्दशक्तिमूल के वस्तु एवं अलंकार इन दोनों भेदों के पदगत एवं वाक्यगत दो-दो भेद माने हैं।[4]

१- घण्टादे: प्रथमस्वनान्तरभावी स्निग्ध: स्वनोनुरणनम्। तत्सादृश्यात् संलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्त्रिविधोऽप्यनुरणनध्वनिरुच्यते।
   - प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ६४

२- क्रमेण प्रतिभात्यात्मा यो स्यानुस्वानसन्निभ:।
   शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थित:॥
   - ध्वन्या०, २।२०, पृ० २५०

३- अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्थितिस्तु य:॥ शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनि:।
   - काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १४७

४- संलक्ष्यक्रमव्यंग्ये शब्दशक्तिमूले वस्त्वलंकाररूपतया द्वैविध्ये वाक्यपदगतत्वेन चातुर्विध्यम्।
   - प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६३

ब- अर्थशक्तिमूलध्वनि -

अर्थगतत्व का प्रयोजक शब्दपर्याय-सहत्व है। अर्थात् शब्द का पर्याय रख देने पर भी ध्वनिता पूर्ववत् बनी रहे तो वह अर्थशक्तिमूल ध्वनि कही जायेगी। अर्थशक्तिमूलध्वनि के भी दो उपभेद किये हैं - वस्तु एवं अलंकार। इस प्रकार जहां अर्थ-सामर्थ्य से अन्य वस्तु अथवा अलंकार व्यंग्य होता है और इस वस्तु तथा अलंकार का तात्पर्य से प्रकाशन होता है। अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक भेद से चार प्रकार का अर्थ स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध भेद से तीन प्रकार का होता है[1]। आनन्दवर्धन ने स्वतःसंभवी तथा कविनिबद्धप्रौढोक्ति दो ही भेद माने हैं[2]। किन्तु लोचनकार ने कविनिबद्धप्रौढोक्ति को कविप्रौढोक्ति का अवान्तर भेद स्वीकार करते हुए तीन भेद माना है[3]। इनमें प्रथम स्वतः सम्भवी तो केवल साहित्य और शास्त्र में ही नहीं अपितु लोक में भी औचित्य से सम्भावित है। जिसको कवि ने अपनी प्रौढोक्ति से ही सम्पादित किया है किन्तु, लोक में वैसा नहीं है वह कविप्रौढोक्तिसिद्ध है। जहां कवि ने अपने काव्य में रचना की सुविधा के लिये किसी वक्ता को निबद्ध

१- अर्थशक्तिमूले संलक्ष्यक्रमव्यंग्येऽर्थस्य स्वतःसम्भवित्वेन कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वेन कविनिबद्धोक्तिसिद्धत्वेन च त्रैविध्यम् ।

- प्रतापं०, का० प्र०, पृ० ६४

२- अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्ये ध्वनौ यो व्यंजकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौप्रकारौकवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः एकः, स्वतः सम्भवी च द्वितीयः ।

- ध्वन्या०, द्वितीय उल्लास, पृ० २७५

३- सोऽपि व्यंजकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपिशब्दस्यार्थः । प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह-कवेरिति । तेनैते त्रयो भेदाभवन्ति ।

-ध्वन्या० लोचन, द्वि० उ०, पृ० २७४-७५

किया है वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध है[1]। तीन प्रकार का यह वस्तु एवं अलंकार रूप से दो प्रकार का होने से ६ प्रकार का होता है। छ भेदों वाला यह व्यंग्य एवं व्यंजक के भेद से द्विगुणित १२ प्रकार का होता है। फिर यह बारह प्रकार का भी प्रबन्ध, वाक्य एवं पद में रहने के कारण १२ x ३ = ३६ प्रकार का होता है[2]।

स- उभयशक्तिमूलध्वनि-

जिस काव्य में शब्दपरिवृत्ति सहिष्णु तथा शब्दपरिवृत्ति असहिष्णु शब्दों की समानमात्रा हो वहां शब्दार्थोभयशक्तिमूलकता मानी जायेगी। ध्वन्यालोक में उभयशक्तिमूलक ध्वनि को नहीं माना गया है। किन्तु, आचार्य मम्मट का अनुसरण करते हुए बाद के विद्वानों ने उभयशक्तिमूल ध्वनि को मान्यता दी। कभी-कभी किसी पद्य में कतिपय शब्दों में शब्दश्लेष होता है और कतिपय शब्दों में अर्थश्लेष होता है। उसमें व्यंजना के चमत्कार में केवल शब्दश्लेष ही कारण नहीं होता, अर्थश्लेष भी कारण होता है। अतएव उभयशक्तिमूलक ध्वनि मानना उचित ही है। उभयशक्तिमूल में प्रकारों के वैचित्र्य की कल्पना कठिन है। अत: यह केवल वाक्य में रहने के कारण एक

१- यो न केवलं साहित्यमात्रासिद्ध: किंतु लोकेऽप्यौचित्येन संभाव्यते स स्वत: सम्भवी य: पुनरसन्नपि लोके कविना प्रतिभामात्रेण संभाव्य संपाद्यते स कविप्रौढोक्तिसिद्ध कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धस्तु कविनिबद्धोक्तिसिद्ध इति त्रयाणां विवेक:।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ६४

२- त्रिविधस्य वस्त्वलंकाररूपतया द्वैविध्ये षाड्विधत्वम्। षाड्विधस्यापि व्यंग्यव्यंजकतया द्वैविध्ये द्वादशविधत्वम्। द्वादशविधस्यापि प्रबन्धगतत्वेन वाक्यगतत्वेन पदगतत्वेन त्रैविध्ये षाट्त्रिंशत्प्रकारोऽर्थशक्तिमूलोऽनुरणनध्वनि:।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६४

ही प्रकार का है[1]।

ध्वनि के भेद—

इस प्रकार ध्वनि के अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्य-परवाच्य दो प्रमुख भेदों में से अविवक्षितवाच्य के अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य पदगत एवं वाक्यगत होने से ४ प्रकार के हुए। विवक्षितान्य-परवाच्य में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के ६ भेद तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में शब्दशक्तिमूल के ४, अर्थशक्तिमूल के ३६ तथा उभयशक्तिमूल का १ भेद मिला कर ४७ भेद हुए। अत: अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितान्य पर वाच्यध्वनि के कुल भेदों को मिलाने से ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद हुए। मम्मट ने भी ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद माने हैं[2]।

ध्वनि के सम्भावित प्रकारों की चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त ने उनकी संख्या शुद्ध रूप से ३५ बताई है। उनकी गणना इस प्रकार है - ध्वनि के मूल भेद लक्षणामूलक ४ भेद (पद और वाक्य प्रकाश्य, अत्यन्ततिरस्कृत और अर्थान्तरसंक्रमित) असंलक्ष्यक्रम के पद, वाक्य, वर्ण, संघटना और प्रबन्ध प्रकाश्य ५ भेद, शब्दमूलक पद और वाक्य प्रकाश्य २ भेद, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के २४ भेद (स्वत: सम्भवी, कविकल्पित और पात्रकल्पित तीन-तीन प्रकार के वस्तु और अलंकार इन ६ तत्वों से वस्तु और अलंकार इन दो-दो प्रकारों की व्यंजना, इस प्रकार १२ प्रकार के व्यंग्यार्थ के दो-दो व्यंजक पद और वाक्य, इस प्रकार अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि के कुल २४ भेद हो गये) सब मिलाकर अभिनव गुप्त के अनुसार

१- उभयशक्तिमूलो वाक्यगतत्वेनैकविध एव।

- प्रताप०, का० प्र०, पृष्ठ ४

२- भेदास्तदेकपञ्चाशत्।

- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १८६

४ + ५ + २ + २४ = ३५ मुल ध्वनि भेद हो जाते हैं[१]। उतने ही भेद गुणीभूत व्यंग्य के भी हो जाते हैं। एक भेद अलंकार का इस प्रकार ३५ + ३५ +१ =७१ भेद बन जाते हैं। इनकी एक प्रकार की संसृष्टि और ३ प्रकार का संकर इस भांति ४ प्रकारों के योग करने पर कुल भेद ७१ x ४ = २८४ इनको ३५ से गुणा करने पर २८४ x ३५ = ७४२० भेद हो जाते हैं। (यद्यपि २८४ में ३५ से गुणा करने पर ६६४० आता है।)

काव्यप्रकाश में, जिसे विद्यानाथ ने अपना मानक ग्रन्थ माना है, ध्वनियों के प्रकारों का विवरण और अधिक विशद रूप में दिया गया है। इनकी संख्या १०४०४ अथवा १०४५५ दिया है[२]। किन्तु विद्यानाथ ने इस संख्या में बड़ी कटौती की है और ५१ शुद्ध प्रकारों को सम्मिलित करते हुए ध्वनियों की संख्या ५३०४ रखी है और इस प्रकार बहुत सी अप्रयोज्य ध्वनियों के प्रकारों

१- अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ-अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ-अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः- शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविध-कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतः सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यंग्य-व्यंजकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादश-विधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाश्यत्वेन प्रत्येकं द्विविधाः-कथ्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदसंघटनाप्रबन्धप्रकाश्यत्वेन प्रत्येकं द्विविधाः कथ्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसंघटनाप्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्च त्रिंशद्भेदाः।

- ध्वन्यालोक, लोचन टीका, द्वि० उ० ३०३-४

२- न केवलं शुद्धा एकपंचाशद्भेदाः भवन्ति यावदेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकत्वेनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन संकरेण परस्परनिरपेक्षरूपैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः। शुद्ध भेदैः सह। शरेषुयुगखेन्दुवः।

- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० ४२२

को अलग कर दिया है[1]। इस सम्बन्ध में टीकाकार कुमारस्वामी की टीका भी द्रष्टव्य है। कुमारस्वामी ने इसे अधिक स्पष्ट किया है[2]।

२- गुणीभूतव्यंग्यकाव्य या मध्यम काव्य -

व्यंग्य की अप्रधानता में काव्य मध्यम है जो गुणीभूतव्यंग्य कहलाता है[3]। आनन्दवर्द्धन के अनुसार- जहां व्यंग्य के सम्बन्ध के कारण वाच्य की चारुता अधिक रहती है वहां गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य प्रकार होता है[4]। वाच्यार्थ के प्रधानरूप से चारु होने के कारण व्यंग्य अर्थ का गुणीभाव होने से ही इसे गुणीभूतव्यंग्य नाम दिया गया है। व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ से समप्राधान्य होने पर भी गुणीभूत व्यंग्य माना जायेगा। मम्मट ने इसे और अधिक स्पष्ट किया है।

१- शुद्धाश्चन्द्रशरा मिश्रा ऋतुनेत्रानलेन्दवः।
संसृष्टिसंकरायातास्त्वब्धिखाग्निशराभिधाः।।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ९७

२- शरः पञ्चतर्हि किंनिमित्तं काव्यप्रकाशकारोऽन्तमेव यातग्रामानपि कतिचन भेदान् संगृह्य चतुरग्रचतुः शत्युतायुत (१०४०४) संख्याकान् संसृष्टि-संकरायातभेदानजीगणत्। को वेद किं वा तत्र निमित्तं तत् पुनस्त एव तत्रभवन्तो विदांकुर्वन्तु। अस्माभिस्तु 'युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं न तु पुरुष गौरवात्' इति न्याय सरणिरनुसरणीयेति विद्यानाथहृदयम्।
- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ९६-९७

३- अप्राधान्ये मध्यमं गुणीभूतव्यंग्यमिति गीयते।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८९

४- प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्।।
- ध्वन्यालोक ३।३४, पृ० ४९२

उनके अनुसार वाच्य से व्यंग्य के अनतिशायी होने पर गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम् काव्य होता है[1]। व्यंग्य का वाच्य से न्यून होना अथवा तुल्य होना। इन दोनों ही अवस्थाओं में इसका गुणीभाव ही माना जायेगा। काव्यप्रकाश के समान विद्यानाथ ने भी गुणीभूतव्यंग्य काव्य के आठ भेद माने हैं --

१- अगूढ, २- अपराङ्ग, ३- वाच्यसिद्ध्यङ्ग, ४- अस्फुट, ५- संदिग्धप्राधान्य, ६- तुल्यप्राधान्य, ७- काक्वाक्षिप्त, ८- असुन्दर[2]।

१- <u>अगूढ</u> --

जहां व्यंग्य वाच्य के सदृश्य है वह अगूढ व्यंग्य है[3]। मम्मट के अनुसार कामिनी कुचकलश के समान गूढ ही चमत्कार करता है इसलिए अगूढ तो स्फुट होने के कारण वाच्य के समान होता है अत: गुणीभूत होता है[4]। व्यंग्यार्थ वहीं पर चमत्कार कारक होता है जहां पर वह न तो इतना गूढ ही हो कि उसको सहृदय लोग भी कठिनाई से समझ सकें और न इतना स्फुट ही हो कि उसको सामान्य सहृदय व्यक्ति भी सरलतापूर्वक समझ लें। यदि व्यंग्यार्थ सर्वजनसंवेद्य हो तो वह व्यंग्यार्थ ही है, किन्तु वाच्यार्थ के समान ही प्रतीतिगोचर होने से उसमें चमत्कार नहीं रहता। इसीलिए उस व्यंग्यार्थ को गुणीभूत

१- अतादृशी गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि।

- काव्यप्रकाश, प्रथमउल्लास, पृ० ३१

२- तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे -`अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्। संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।` इति।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० १११

३- कामिनीकुचकलशवद् गूढागूढस्यैव चमत्कारकारित्वादगूढव्यंग्यं मध्यमं काव्यम्।

- प्रताप०, का० प्र० पृ० १११

४- कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोतीति अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव।

- काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० ४३३

माना जाने लगता है । विद्यानाथ ने अगूढ गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण इस प्रकार से दिया है --

> औन्नत्यं यदि वर्ण्यते शिखरिण: कुप्यन्ति नीचै: कृता गाम्भीर्यं
> यदि कीर्त्यते जलधय: क्षुभ्यन्ति गाधीकृता: ।
> तत्वां वर्णयितुं बिभेमि यदि वा जातोऽस्म्यगस्त्य:स्थितस्त्वत्पार्श्वे
> गुणरत्नरोहणगिरे श्रीवीररुद्रप्रभो ।।

यहां 'अगस्त्य हूं अत: शैल समुद्रों से नहीं डरता' यह व्यंग्य अगूढ है ।

२- अपराङ्ग —

जहां एक रसादि अपर रसादि के अङ्ग हो जाते हैं वह अपराङ्ग नामक गुणीभूतव्यंग्य का भेद है[1] । अर्थात् जहां व्यंग्यार्थ किसी दूसरे तत्व के प्रति अङ्ग या अप्रधान बनकर आता है वहां अपराङ्ग गुणीभूत काव्य-भेद माना जाता है । यहां दो तत्वों पर ध्यान देना आवश्यक है --१- किस तत्व के प्रति गौणता है, २- कौन तत्व गौण हुआ है । जिस तत्व के प्रति गौणता होती है वही प्रधान तत्व कहा जाता है । वह प्रधान तत्व या तो रस इत्यादि हो सकता है या वाच्यार्थ । किन्तु ये दोनों तत्व तभी प्रधानता धारण करते हैं जबकि वाच्य के तात्पर्य का विषय हो । यहां पर रस पद उपलक्षण है । जिसमें असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता ये सभी तत्व आ जाते हैं । 'रसादि' में आदि शब्द के संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक सभी भेद आ जाते हैं । ये सब पोष्य तत्व हैं । इसके साथ ही वाच्यार्थ भी पोष्य तत्वों में निविष्ट किया जा सकता है । इन सबका पोषण जब रस इत्यादि तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के विभिन्न भेदों के साथ होता है तब उन्हें

१- अपरस्याङ्गं यत्र रसादे रसादिरङ्गं तदपि गुणीभूत व्यंग्यमेव ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११२

अपराङ्ग गुणीभूत कहा जाता है । आशय यह है कि जहां पर व्यंग्य रस या अन्य व्यंग्यार्थ किसी अन्य रस, अन्य व्यंग्यार्थ या वाच्यार्थ का अंग हो वहां अंगरूप में स्थित व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है और तब उसे गुणीभूत व्यंग्य कहने लगते हैं । विद्यानाथ ने मम्मट का अनुसरण करते हुए इसकी परिभाषा दी है[१] । इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है --

वीत व्रीडमपास्तमौनमुदयद्धैर्यभीमाकिमिव -
त्स्वेदं निर्भरगात्रवेपथु मिलन्मूर्च्छं गलद्बाष्पकम् ।
संजातप्रलयं च काकतिमहीनाथ स्मरोद्वेजिता
भूपाः शैलगुहासु यान्ति विजनं भीत्या समालिङ्गिताः ।।

यहां शृङ्गार रस भयानक रस का अंग है ।

३- वाच्यसिद्ध्यंग --

जहां व्यंग्य वाच्य की सिद्धि करता है वहां वाच्यसिद्ध्यङ्ग है । अर्थात् वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य ऐसे स्थान पर होता है जहां प्रतीयमान व्यंग्यार्थ केवल वाच्यार्थ को पूरा करने वाला हो और व्यंग्यार्थ के अभाव में वाच्यार्थ में कुछ न्यूनता बनी रहे । इसका उदाहरण इस प्रकार से दिया है --

करालः काकतीन्द्रस्य करवालनवाम्बुदः ।
धारया शमयत्युग्रं प्रतापज्वलनं द्विषाम् ।।

यहां जलधारा व्यंग्य है । वह भी करवाल रूपी नवाम्बुद इस वाच्यभूत रूपक की सिद्धि करता है अतः गुणीभूत है[२] ।

१- अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्य) अङ्गं रसादि अनुरणरूपं वा ।
- काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० ४३६

२- अत्र जलधारा व्यंग्या । सा च करवालनवाम्बुद इत्यस्य वाच्यभूतस्य रूपकस्य सिद्धिकृदिति गुणीभूतव्यंग्यम् ।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११३

४- अस्फुट --

जहां व्यंग्य अस्पष्ट रहता है वहां अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य होता है । अर्थात् जहां पर व्यंग्यार्थ ठीक रूप में सरलतापूर्वक हृदयंगम न किया जा सके तथा सहृदय लोग भी उसे कठिनता से समझ सकें वहां अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य होता है । जैसे -

वीरभद्रकृपाणस्य महिमा कोऽप्यनङ्कुशः ।
प्रसूते कीर्तिगंगां यः पीत्वा द्विषदसृङ्नदीम् ।।

यहां कृपाण का जन्हु से आधिक्य प्रतिपादन करने के कारण व्यतिरेक अलंकार है जो स्फुट प्रतीत नहीं हो रहा है ।

५- संदिग्धप्राधान्य -

जहां वाच्य प्रधान है अथवा व्यंग्य यह सन्देह रहता है[1] वहां संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य है । अर्थात् संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत-व्यंग्य वहां पर होता है जहां इस बात का ही निर्णय न किया जा सके कि प्राधान्य व्यंग्यार्थ का है या वाच्यार्थ का । जैसे --

काकतिन्मापतेद्दृष्टिरनुरागतरङ्गता ।
लग्ना कल्हारमालेव वध्वास्तुङ्गे कुचद्वये ।।

यहां आलिङ्गन की इच्छा में वाक्य की विश्रान्ति है या कुचद्वन्द्व के देखने में । यह सन्देह है अतः संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य है ।

१- - - - - - - - - - व्यंग्यस्य चमत्कारकारित्वात् प्राधान्यमुत वाच्यस्येति संदेहात् संदिग्धप्राधान्यमत्रेत्याशय ।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ११४

६- तुल्यप्राधान्य -

जहां वाच्य एवं व्यंग्य की समान प्रधानता होती है वहां तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यंग्य काव्य है[1]। जैसे --

कृपा प्रतापरुद्रस्य निषेवध्वं पदाम्बुजे ।
अन्यथास्य मनस्तादृक्प्रसादं कलुषायते ।।

यहां 'आप लोग यदि प्रतापरुद्रदेव की पाद सेवा को छोड़ देते हैं तब आप लोगों का नगरी में रहना भी दुर्लभ हो जायेगा।' इस तरह वाच्य एवं व्यंग्य की समान प्रधानता है ।

७- काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य -

जहां काकु से अर्थान्तर का आक्षेप किया जाता है वहां काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य काव्य है[2]। अर्थात् जहां पर काकु (कण्ठविकार) से व्यंजना प्रकट हो वहां पर काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है । कभी-कभी उच्चारण का ढंग ही कुछ ऐसा विलक्षण हो जाता है कि उससे शब्दार्थ से भिन्न एक व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने लगती है । यदि व्यंग्यार्थ की प्रतीति कुछ विलम्ब से हो तो वह व्यंजनालभ्य अर्थ ध्वनि की श्रेणी में आयेगा और यदि उच्चारण के साथ ही वाच्यार्थ बोध समकाल में ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाये तो वह गुणीभूतव्यंग्य ही कहा जायेगा । जैसे --

किमसहि कहेहि बहिरा सोणी लच्छी सरस्सई मज्झमा ।
जां बहु मण्णइ सोत्तं णारणाही गुणविसेसण्णो ।।

यहां लक्ष्मी मुझसे अधिक सुन्दरी है ऐसी काकु

१- अत्र तु वाच्यस्य व्यंग्येन सह समप्राधान्यसंपादनात् गुणीभाव इति भाव: ।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ११४

२- यत्र काक्वार्थान्तरमाक्षिप्यते तदपि गुणीभूत व्यङ्ग्यमेव ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११६

कल्पना द्वारा यह प्राप्त होता है कि वह मुझसे अधिक सुन्दरी नहीं है । यह वस्तु व्यक्त होती है ।

८- असुन्दर -

जहां व्यंग्यार्थ में चारुता नहीं रहती वहां असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है[1]। अर्थात् जहां पर व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक सुन्दर हो वहां असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य होता है । जैसे --

> खसिलामहिलाणं सोऊण णरिंददंसणामोअं ।
> गुरुअणणिअंतिआए बहुआए सामलं वअणं ।।

यहां नरेन्द्र के दर्शन करने के कारण होने वाले हर्ष की भावना करने वाली बहू का मुंह काला पड़ गया इस वाच्य में ही चारुता है । गुरुजनों के द्वारा रोक देने के कारण 'मैं नरेन्द्रदेव को देखने के लिए नहीं जा सकी' इस व्यंग्यार्थ में चारुता नहीं है ।

विद्यानाथ ने गुणीभूत व्यंग्य के भेद बताते समय मम्मट कृत गुणीभूत व्यंग्य के भेदों का अनुसरण किया है ।

३- चित्रकाव्य अथवा अधमकाव्य -

जहां व्यंग्य की अस्फुटता रहती है उसे चित्रकाव्य अथवा अधम काव्य कहते हैं[2]। ध्वनिकार चित्र का यह लक्षण देते हैं -- 'प्रधानभाव और गुणभाव के द्वारा इस प्रकार व्यंग्य के व्यवस्थित होने

१- - - - - - - व्यंग्यार्थस्याचारुत्वम् ।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ११५

२- व्यंग्यस्यास्फुटत्वेऽधमं काव्यं चित्रमिति गीयते ।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ६८

पर काव्य दो प्रकार के हैं, उनसे जो अन्य है वह चित्र कहलाता है[1]। अर्थात् जहां व्यंग्य का प्राधान्य है वहां तो ध्वनि तथा जहां व्यंग्य का गुणीभाव है वहां गुणीभूत व्यंग्य काव्य होगा, इसके अतिरिक्त जो स्थल है उसे चित्र कहा जायेगा। अर्थात् जहां व्यंग्य नास्तिकल्प है और जो वाच्य-वाचकवैचित्र्यमात्रोपजीवी है वही चित्र का विषय होगा[2]।

वस्तुत: व्यंग्य को काव्य की आत्मा मानने वाले ध्वनिकार को व्यंग्यरहित काव्य का व्यरूप में विवक्षित नहीं है[3]। इसलिए वे चित्र को काव्यानुकृति मात्र मानते हैं काव्य नहीं। साहित्यदर्पणकार भी चित्र को काव्य प्रकार नहीं मानते व्यंग्यरहित होने से काव्यानुकृति ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में ध्वनिकार भी काव्य के दो भेद ही मानते हैं[4]।

चित्रकाव्य वाच्यवाचक भाव के वैचित्र्य के कारण केवल विस्मयकारी होता है सहृदयाह्लादकारी नहीं। काव्यानुकारी होने के कारण अथवा

१- प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते।।

-ध्वन्यालोक, ३।४१, पृ० ५२५

२- रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।

- ध्वन्यालोक, वृ० ३०, पृ० ५२५

३- न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ।

- ध्वन्यालोक, वृ० ३०, पृ० ५२५

४- केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति - - - - -

- साहित्यदर्पण, चतुर्थ परि०, पृ० ३३२

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम्।

- साहित्यदर्पण, ४।१, पृ० २७६

विस्मयकारी होने के कारण अथवा आलेख्यवत् होने के कारण ही इसे चित्र नाम दिया गया है । पंडितराज जगन्नाथ ने चित्रकाव्य को काव्य का चतुर्थ भेद माना है । उनके अनुसार जहाँ पर शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार उसका उपस्कारक हो, वह अधम काव्य है[1] ।

विद्यानाथ ने व्यंग्य की अस्फुटता में चित्रकाव्य माना है और उसके अन्तर्गत शब्दालंकार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार भेद माने हैं[2] । आचार्य मम्मट ने अव्यंग्य या व्यंग्यहीन काव्य को अवर काव्य (चित्रकाव्य) माना है । किन्तु उस अव्यंग्यता के अर्थ को व्यंग्य के अभाव से सम्बद्ध नहीं किया है, बल्कि व्यंग्य की नगण्यता से किया है[3] । अर्थात् 'अव्यंग्य' का अर्थ व्यंग्य का अभाव नहीं, प्रतीयमान का अभाव नहीं प्रत्युत उसकी नगण्यता ही है । विद्यानाथ ने भी व्यंग्य की हीनता को नहीं बल्कि व्यंग्य की अस्फुटता को चित्रकाव्य माना है । अलंकारों के वर्गीकरण में भी विद्यानाथ ने यह बात माना है कि प्रत्येक अलंकार के मूल में व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ रहता है । वह चार प्रकार का हो सकता है - वस्तुरूप, औपम्यरूप, स्फुटरूप तथा अस्फुट[4] । इस प्रकार अलंकारों में भी व्यंग्य किसी न किसी रूप में स्थित रहता है जोकि चित्रकाव्य के भेद हैं ।

विद्यानाथ ने काव्य सामान्य के पश्चात् काव्य की वृत्तियों का उल्लेख किया है ।

१- यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्द चमत्कृतिप्रधानं तदधमं चतुर्थम् ।
- रसगंगाधर, पृ० १६

२- चित्रं तु काव्यं शब्दार्थालङ्कारचित्रतया बहुविधम् । -प्रताप०,का०प्र०,पृ०११६

३- शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् । चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् ।
-काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, पृ० ३१-३२

४- केचित् प्रतीयमानवास्तव: । केचित् प्रतीयमानौपम्या: । केचित् प्रतीयमान-रसभावादय: । केचिदस्फुटप्रतीयमाना इति ।
- प्रताप०, शब्दालङ्कार प्रकरण, पृ० ३१६

वृत्ति

विद्यानाथ के अनुसार रचना के आश्रित होने से रस की स्थिति को सूचित करने वाली कैशिकी, आरभटी, सात्वती एवं भारती ये चार वृत्तियां हैं।[1]

वृत्तियां रचना के अनुसार होती हैं और उनसे भावनात्मक स्तर का संकेत मिलता है और साथ ही रचना से रस का भी संकेत मिलता है। ऐसे शब्द या अक्षर जिनका चयन रस के लिए अनुपयुक्त हो उन्हें रचना का दोष मानना चाहिए[2]। विद्यानाथ दशरूपक का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वहां भी इन चारों वृत्तियों को रस के अवस्थान की सूचिका माना गया है[3]। दशरूपककार ने नायक के व्यापार को ही वृत्ति माना है[4]। आचार्य भरत, नाट्यदर्पणकार तथा विश्वनाथ ने वृत्ति को अभिनय मात्र की जननी कहा है[5]। नायकादि का मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार नाट्य में वृत्ति कहलाता है। रचना का भी रस व्यंजकत्व प्रसिद्ध है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार नाट्य में सभी व्यापार रस, भाव, तथा

१- कैशिक्यारभटी सात्वती भारती चेति रचनाश्रितत्वेन रसावस्थानसूचकाश्चतस्रो वृत्तयः।

- प्रताप, का० प्र०, पृ० ५६

२- रसाननुगुणवर्णरचनाया दोषत्वमुक्तम्।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ६१

३- तथा चोक्तं दशरूपके --"कैशिक्यारभटी चैव सात्वती भारती तथा। चतस्रो वृत्तयो ज्ञेया रसावस्थानसूचकाः।।" इति।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ५६

४- तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १८२

५- काव्यानां मातृकावृत्तयः स्मृताः।

- ना० शा०, २०।४, पृ० २२६

नाट्यस्य मातृकाः।

- साहित्यदर्पण, ६।१२३, पृ० ४५५

अभिनय से युक्त हैं। अत: ये वृत्तियां भी रस, भाव तथा अभिनय का अनुसरण करती हैं[1]। आनन्दवर्धन ने व्यवहार या व्यापार को ही वृत्ति माना है[2]। अभिनवगुप्त ने कहा है -- पुरुषार्थ साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। कोई भी वर्णन व्यापार शून्य नहीं होता इसीलिए नाट्यशास्त्र में वृत्ति को काव्य की जननी कहा गया है।

आनन्दवर्धन के शब्दों में रसानुगुण अर्थव्यवहार भारती, सात्वती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है[3]।

आचार्य उद्भट के अनुसार रसानुगुण शब्द-व्यवहार उपनागरिका, परुषा, और कोमला वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है[4]।

रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और समासयुक्त पदसंघटना को उसका आधार स्वीकार किया है[5]।

१- रसभावाभिनयगा: - - - - ।

- नाट्यदर्पण, ३।१०३, पृ० २७३

२- व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते ।

- ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० ४४३

३- तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहार: ता एता: कैशिक्याद्या वृत्तय: ।

- ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० ४४३

४- रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिका: प्रथममभिधीयन्ते । ताश्च तिस्र: परुषोपनागरिकाग्राम्यत्वभेदात् ।

-काव्यालंकार, सार संग्रह, प्रथम वर्ग, पृ० २५७

५- नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमास भेदेन ।

- काव्यालंकार २।३, पृ० २३

आनन्दवर्धन ने थोड़ा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द व्यवहार माना । लेकिन आगे चलकर मम्मट ने फिर उद्भट का अनुकरण करते हुए उसे नियत वर्ण-व्यापार ही स्वीकार किया ।

१- कैशिकी वृत्ति -

जहां अत्यन्त सुकुमार अर्थों का सन्दर्भ हो अर्थात् रचना हो वहां कैशिकी वृत्ति रहती है[१] । जहां शृङ्गार और करुण ये दो रस अत्यन्त कोमलमय सन्दर्भ से वर्णित किये जाते हैं वहां कैशिकी वृत्ति होती है । शृङ्गार और करुण ये दोनों अत्यन्त सुकुमार रस माने जाते हैं[२] । अर्थात् कैशिकी वृत्ति में शृङ्गार और करुण रस की बहुलता होती है । दशरूपककार के अनुसार[३] गीत, नृत्य, विलासादि शृङ्गारिक चेष्टाओं से कोमल वृत्ति कैशिकी होती है । नाट्य-शास्त्र में कैशिकी पद की जो व्युत्पत्ति दी गयी है उससे ही यह सिद्ध होता[४] है कि यह स्त्री बाहुल्य, नैपथ्य वैचित्र्य, कामविलासमय हास-परिहासयुक्त है । तात्पर्य यह है कि जहां कहीं भी लालित्य और माधुर्य हो वह सब कैशिकी वृत्ति का ही क्षेत्र है ।

१- अत्यर्थसुकुमारार्थसंदर्भा कैशिकी मता ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७६

२- अत्यन्तसुकुमारौ द्वौ शृङ्गारकरुणौ मतौ ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७६

३- गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितै ।

- दशरूपक, २।४७, पृ० १८४

४- या श्लक्ष्णनैपथ्यविशेषचित्रा, स्त्रीसंयुता या बहु नृत्तगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ।।

- ना० शा०, १२।४७, पृ० २५१

आनन्दवर्धन ने थोड़ा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द व्यवहार माना । लेकिन आगे चलकर मम्मट ने फिर उद्भट का अनुकरण करते हुए उसे नियत वर्ण-व्यापार ही स्वीकार किया ।

१- कैशिकी वृत्ति -

जहां अत्यन्त सुकुमार अर्थों का सन्दर्भ हो अर्थात् रचना हो वहां कैशिकी वृत्ति रहती है[१] । जहां शृङ्गार और करुण ये दो रस अत्यन्त कोमलमय सन्दर्भ में वर्णित किये जाते हैं वहां कैशिकी वृत्ति होती है । शृङ्गार और करुण ये दोनों अत्यन्त सुकुमार रस माने जाते हैं[२] । अर्थात् कैशिकी वृत्ति में शृङ्गार और करुण रस की बहुलता होती है । दशरूपककार के अनुसार[३] गीत, नृत्य, विलासादि शृङ्गारिक चेष्टाओं से कोमल वृत्ति कैशिकी होती है । नाट्यशास्त्र में कैशिकी पद की जो व्युत्पत्ति दी गयी है उससे ही यह सिद्ध होता है[४] कि यह स्त्री बाहुल्य, नेपथ्य वैचित्र्य, कामविलासमय हास-परिहासयुक्त है । तात्पर्य यह है कि जहां कहीं भी लालित्य और माधुर्य हो वह सब कैशिकी वृत्ति का ही क्षेत्र है ।

१- अत्यर्थसुकुमारार्थसंदर्भा कैशिकी मता ।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ७६

२- अत्यन्तसुकुमारौ द्वौ शृङ्गारकरुणौ मतौ ।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ७६

३- गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ।

- दशरूपक, २।४७, पृ० १८४

४- या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा, स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ।।

- ना० शा०, १२।४७, पृ० २५१

२- आरभटी वृत्ति -

विद्यानाथ के अनुसार जहां अत्यन्त उद्धत अर्थों का सन्दर्भ[1] है, रचना है, वह आरभटी वृत्ति है। रौद्र तथा बीभत्स अत्यन्त उद्धत रस हैं[2] और अत्यन्त प्रौढ सन्दर्भ में प्रतिपादित किये जाते हैं अत: वहां आरभटी वृत्ति होती है।

आचार्य भरत ने आरभटी वृत्ति वस्तुत: क्रोधादि[3] आदि से संभूत आंगिक, वाचिक और मानसिक व्यापार विशेष को कहा है। नाट्य-दर्पण के अनुसार - आरभट ऐसे योद्धा को कहते हैं जो `आर` अथवा `प्रतोद` (हाथी के चलाने के अंकुश) के समान हिंसन समर्थ है[4]। जहां भी रूपक प्रबन्धों में ऐसे आरभट हों वहां आरभटी वृत्ति होती है। दशरूपककार के अनुसार माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं के द्वारा आरभटी

१- अत्युद्धतार्थसन्दर्भा वृत्तिरारभटी स्मृता।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७६

२- अत्युद्धतरसौ रौद्रबीभत्सौ परिकीर्तितौ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७६

३- आरभटप्रायगुणा तथैव बहुकपटवञ्चनोपेता।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटीनाम विज्ञेया॥
प्रस्तावपातप्लुतलंघितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥

- ना० शा०, २२।५६, ५७, पृ० २५२

४- आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धता: पुरुषा आरभटा:। ते सन्त्यस्यामिति ज्योत्स्नादित्वादणि आरभटी।

- नाट्यदर्पण, तृ० वि०, पृ० २८८

वृत्ति होती है[1]। भरतमुनि के अनुसार यह वृत्ति दीप्त रसभावों से समन्वित वृत्ति है[2]।

३- भारती वृत्ति -

विद्यानाथ के अनुसार थोड़े-थोड़े[3] कोमल अर्थों का सन्दर्भ जिस रचना में रहे वहां[4] भारती वृत्ति इष्ट है। हास्य, शान्त और अद्भुत कुछ सुकुमार रस कहे गये हैं। अत: जो अत्यन्त सुकुमार नहीं हैं अर्थात् जो ईषात् सुकुमार हैं वे हास्य, शान्त एवं अद्भुत रस[5] जहां ईषात् सुकुमार रचना से संग्रथित किये जाते हैं वहां भारती वृत्ति होती है। दशरूपककार के अनुसार प्राय:[6] संस्कृत भाषा में किया गया नट का वाचिक व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है। वृत्ति चतुष्टय में भारती वृत्ति रूपक प्रबन्धों में चित्रित चरितों का वाग्व्यापार है।

१- मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितै: ।।

- दशरूपक, २।५६, पृ० १६३

२- आरभटप्रायगुणा तथैव बहुवचनकपटा च ।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया ।।

- ना० शा०, २२। ५६, पृ० २५२

३- ईषन्मृद्वर्थसन्दर्भा भारती वृत्तिरिष्यते ।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ७६

४- हास्यशान्ताद्भुता: किंचित्सुकुमारा: प्रकीर्तिता: ।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ७६

५- यत्र नातिसुकुमारा हास्यशान्ताद्भुता नातिसुकुमारेण सन्दर्भेण संग्रथ्यन्ते तत्र भारती ।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ७७

६- भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय: ।

- दशरूपक, तृ० प्र०, पृ० २१०

भरतमुनि ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है[1]। भारती वृत्ति शब्दवृत्ति है इस सम्बन्ध में सभी नाट्याचार्यों का एक मत है । किन्तु, विद्यानाथ ने भारती वृत्ति का इस प्रकार का स्वरूप निर्धारण न करके केवल रस से सम्बन्धित उसका स्वरूप प्रतिपादित किया है ।

४- <u>सात्वती वृत्ति</u> -

विद्यानाथ के अनुसार जहां ईषात्प्रौढ रूप में अर्थों का सन्दर्भ रहे वहां सात्वती वृत्ति होती है[2]। वीर और भयानक रस ईषात्प्रौढ समाख्यात् है[3]। अत: जहां नातिप्रौढ वीर और भयानक रस रचना से निर्वाहित होते हैं वहां सात्वती वृत्ति होती है[4]।

आचार्य भरत ने सात्वती वृत्ति का यह स्वरूप निरूपित किया है-- सात्वती वृत्ति का सम्बन्ध सात्त्विक अभिनय से है और इसमें वीर, रौद्र और अद्भुत रसों के अभिव्यन्जन की शक्ति निहित है । जहां कहीं कवि अथवा नाटककार अपनी काव्य अथवा नाट्यकृतियों में उत्साहाविष्ट, क्रोधादिप्त अथवा विस्मयाविद्ध चरित का चरित्र-चित्रण करता है वहां सात्वती वृत्ति की

१- भाषाती वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति ।

- ना० शा० २२।६, पृ० २४८

२- ईषात्प्रौढार्थसन्दर्भा सात्वती वृत्तिरिष्यते ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७६

३- ईषात्प्रौढौ समाख्यातौ रसौ वीरभयानकौ ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७६

४- यत्र नाति प्रौढौ वीरभयानकौ नातिप्रौढेन सन्दर्भेण निर्वाह्येते तत्र सात्वती ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७७

रूपरेखा निर्मित होती है[1]। दशरूपककार के अनुसार सात्वती वृत्ति वीर रस में होती है[2]।

इन चार वृत्तियों के अतिरिक्त विद्यानाथ ने दो उपकोटियों का उल्लेख किया है यथा - मध्यमारभटी और मध्यमकैशिकी। यहां भी उन्होंने अर्थ सन्दर्भ और साथ ही वर्ण का[3] भी उल्लेख किया है। ये दोनों वृत्तियां सब रसों में साधारण मानी गयी है।

मध्यमकैशिकी -

जहां अर्थ कोमल रहे और रचना भी अति प्रौढ नहीं रहे वह वृत्ति मध्यमकैशिकी है। शृङ्गार और करुण अत्यन्त सुकुमार रस हैं। इनमें अल्प प्रौढ़ रचना करना दोष नहीं है[4]।

१- या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च। हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ।। - - - - - - - - वीराद्भुतरौद्र-रसा निरस्तशृङ्गारकरुणनिर्वेदा। उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणाकृता च ।।

- ना० शा०, २२।३८, ४०, पृ० २५१

२- विशोका सात्वती सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १६०

३- मध्यमारभटी त्वन्या तथा मध्यमकैशिकी। वृत्ती इमे उभे सर्वरससाधारणे मते ।।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ७६

४- मृद्वर्थेऽप्यनतिप्रौढबन्धा मध्यमकैशिकी। शृङ्गारकरुणयोरतिसुकुमारयोरल्पप्रौढत्वं न दुष्यति।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८०

मध्यमारभटी -

जहां अर्थ भी प्रौढ़ रहे और रचना अत्यन्त मृदुक्रम वाली न रहे वह वृत्ति मध्यमारभटी है । मध्यमारभटी वृत्ति में रौद्र और बीभत्स रस प्रयुक्त होते हैं क्योंकि ये दोनों रस अति प्रौढ़ हैं । किन्तु, इनमें अल्प मृदुक्रम की रचना करना दोषयुक्त नहीं है[1] ।

रीति

विद्यानाथ ने वृत्तियों के बाद रीतियों का वर्णन किया है । उनके अनुसार गुणों से आश्लिष्ट पदों की रचना को रीति कहा गया है[2] ।

रीति सम्प्रदाय की स्थापना नवीं शताब्दी के मध्य या उसके आस-पास आचार्य वामन द्वारा हुई तथापि रीति का अस्तित्व पहले भी निश्चित रूप से विद्यमान था । भरत ने रीति का प्रत्यक्ष विवेचन नहीं किया है । किन्तु, उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है[3] ।

भरत के बाद बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्रारम्भ में इस प्रसंग का उल्लेख किया है कि उत्तर भारत के लोग प्राय: श्लेष का प्रयोग करते हैं, पश्चिम भारत के कवि वाणी विलास की उपेक्षा कर केवल अर्थ-गौरव को ही

१- मध्यमारभटी प्रौढ़ेऽप्यर्थे नातिमृदुक्रमा ।।
अतिप्रौढयोरपि रौद्रबीभत्सयोरीषन्मृदुबन्धो न दुष्यति ।

- प्रतापo, काo प्रo, पृo ८०

२- रीतिर्नाम गुणाश्लिष्टपदसंघटना मता ।

- प्रतापo, काo प्रo, पृo ८१

३- चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोक्तृभि: ।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ।।

- नाo शाo, १४।३६, पृo १३६

महत्व देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा के प्रेमी होते हैं और गौड या पूर्व भारत के लोग अक्षराडम्बर पर मुग्ध हैं[1]।

बाण का अपना मत है कि इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है[2]। भामह ने न तो रीति शब्द का प्रयोग किया है न मार्ग का। वस्तुत: उन्होंने इस तत्व को कोई मान्यता नहीं दी है। बल्कि जो लोग इस आधार पर काव्य को विभिन्न वर्गों रखते हैं उनका 'अमेधस्' कहकर उपहास किया है[3]।

दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। वाणी के अनेक मार्ग हैं। जिनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद हैं[4]। इनमें से वैदर्भ और गौडीय मार्गों का भेद अत्यन्त स्पष्ट है।

१- श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षराडम्बर: ।।
- हर्षचरित, १।७, पृ० ३

२- नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्ट: स्फुटो रस:।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ।।
- हर्षचरित, १।८, पृ० ३

३- गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ।।
- काव्यालङ्कार, पृ० १७

४- अस्त्यनेको गिरां मार्ग: सूक्ष्मभेद: परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ।।
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता: ।।
-काव्यादर्श, १।४०, १०१ पृ० २३, ६५

रीति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने किया है । उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा कहा है[१]। वामन से पूर्व दण्डी और वामन के बाद कुन्तक आदि ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। वामन के अनुसार, शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पदरचना का नाम रीति है[२]। अथवा सुन्दर पद रचना का नाम रीति है और यह सौन्दर्य शब्दगत और अर्थगत होता है ।

वामन के बाद आनन्दवर्धन ने रीति का लक्षण किया । उन्होंने रीति को संघटना कहा । सम्यक् अर्थात् यथोचित् घटना-पदरचना का नाम सङ्‌घटना अथवा रीति है । आनन्दवर्धन के अनुसार रीति रसाश्रयी है[३]। भोज ने रीति की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा की है - वैदर्भादि पन्थ काव्य में मार्ग कहलाते हैं । गत्यर्थक रीङ्‌ धातु से उत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है[४]। भोज के उपरान्त मम्मट ने रीति की परिभाषा में थोड़ा संशोधन किया । उन्होंने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का ही विवेचन किया है परन्तु अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि इन्हें ही पूर्ववर्ती आचार्यों ने क्रमश: वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीति कहा है[५]।

१- रीतिरात्मा काव्यस्य ।

- का० सू० वृ० १।२।६, पृ० १८

२- विशिष्टा पदरचना रीति: ।

- का० सू० वृ० १।२।७, पृ० १६

३- व्यनक्ति सा रसादीन् ।

- ध्वन्या० ३।५, पृ० ३३७

४- वैदर्भादिकृत: पन्था: काव्ये मार्ग इति स्मृत: ।
रीङ्‌ गताविति धातो: सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।।

- सरस्वतीकंठाभरण, २।२७, पृ० १५५

५- एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौडीया पाञ्चाल्याख्या रीतयो मता: ।

-काव्यप्रकाश, नवम उ०, पृ० ४०६

विद्यानाथ के अनुसार अर्थविशेष की अपेक्षा न रहने से जिनका विषय केवल सन्दर्भ की सुकुमारता एवं प्रौढ़ता ही है ऐसी रीतियां शब्द-गुणों के आश्रित रहती हैं।[1] इस प्रकार विद्यानाथ ने रीतियों को केवल सन्दर्भ की सुकुमारता और प्रौढ़ता का ही विषय माना है। रीतियों के भेद के प्रश्न पर विद्यानाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करते हुए रीतियों के वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली ये तीन ही भेद माने हैं।[2] इन तीन प्रकारों में वैदर्भी और गौडी की मान्यता भामह और दण्डी से भी प्राचीन है। पाञ्चाली रीति के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। आचार्य रुद्रट ने लाटी अथवा लाटीया को चौथी रीति के रूप में स्वीकार किया है।

१- वैदर्भी रीति -

विद्यानाथ ने वैदर्भी रीति की यह परिभाषा दी है, जिसमें रचना की कठिनता और शब्दों की पारुषता तथा लम्बे-लम्बे समास नहीं होते वह वैदर्भी रीति है।[3] टीकाकार कुमारस्वामी के अनुसार बन्ध-पारुष्य से तात्पर्य है सन्धि का न होना और शब्द काठिन्य से तात्पर्य है परुष वर्णों का न होना।[4] महाकवि बिल्हण ने वैदर्भी की प्रशंसा करते

१- वैदर्भ्यादिरीतीनां शब्दगुणाश्रितानामर्थविशेषानिरपेक्षतया केवल संदर्भ-सौकुमार्यप्रौढत्वमात्रविषयत्वात् - - - - - ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८१

२- सा त्रिधा-वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति ।

- प्राप०, का० प्र०, पृ० ८२

३- बन्धपारुष्यरहिता शब्दकाठिन्य वर्जिता ।
नातिदीर्घसमासा च वैदर्भी रीतिरिष्यते ।। २७ ।।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८२

४- बन्धपारुष्यं दुःसन्धिकृतम् । शब्दकाठिन्यं परुषवर्णारब्धम् ।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० ८२

हुए कहा है कि 'विद्या की अधिष्ठात्री देवी के विभ्रमों को जन्म देने वाली भूमि के समान यह रीति भाग्यशाली कवियों को ही प्राप्त होती है।'[1] महाकवि श्री हर्ष ने भी वैदर्भी रीति की प्रशंसा की है।[2]

२- गौडी रीति -

विद्यानाथ[3] के अनुसार ओज और कान्ति गुणों से युक्त रीति गौडी रीति मानी गयी है। यहां कुमारस्वामी के अनुसार ओज शब्द[4] समासभूयस्त्व का द्योतक है, और कान्ति शब्द से उद्भट पदत्व ज्ञात होता है। आचार्य वामन के अनुसार गौडी रीति का स्वरूप इस प्रकार है -- समासयुक्त, उद्भट पदों से युक्त, ओज और कान्ति गुणों वाली रीति गौडी रीति है।[5]

१- अनभ्रवृष्टि: श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्म-भूमि:।
वैदर्भी रीति: कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभू: पदानाम्॥
- विक्रमाङ्कदेवचरितम्, १।६, पृ० ८

२- धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥
- नैषधचरितम्, ३।११६, पृ० १४६

३- ओज: कान्तिगुणोपेता गौडीया रीतिरिष्यते।
- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ८३

४- अत्र ओज: शब्देन समासभूयस्त्वमुच्यते। कान्तिशब्देन चोद्भटपदत्वम्।
- प्रतापरु०, रत्नापण, पृ० ८३

५- समस्तात्युद्भटपदामोज: कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणा:॥

- का० सू० वृ०, प्रथम अधि०, द्वि० अध्याय, पृ० २४।

इससे स्पष्ट है कि वैदर्भी और गौडी विषम स्वभाव की रीतियां अथवा पद-रचनाएं हैं। रीतियों में वैदर्भी और गौडी की मान्यता भामह और दण्डी से भी प्राचीन है। वैदर्भी और गौडी रीतियों के प्रमुख भेदक हैं समास और वर्णविन्यास। दण्डी ने इन्हीं दो का ही वर्णन किया है - परस्पर सूक्ष्म भेद रखने वाली वाणी के अनेक मार्ग हैं। पर उनमें यहां वैदर्भ और गौड का ही वर्णन किया जाता है क्योंकि उनका अन्तर सर्वथा स्पष्ट है[१]।

३- पाञ्चाली रीति -

विद्यानाथ के अनुसार वैदर्भी और गौडी रीति, इन दोनों के स्वरूप को धारण करने वाली रीति पाञ्चाली रीति कहलाती है[२]। आचार्य वामन पाञ्चाली के प्रथम प्रवर्तक हैं[३]। पाञ्चाली के विषय में भोज का यह मत है - पाञ्चाली वह रीति है जिसमें पांच या छह पदों से अधिक पद वाले समास नहीं प्रयुक्त किये जाते, जिसमें ओज और कान्ति के गुण विराजमान रहा करते हैं जो माधुर्य के अभिव्यंजक अथवा कोमल वर्णों से पूर्ण पद रचना हुआ करती है[४]।

१- इतिमार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।

- काव्यादर्श, १। १०१, पृ० ६५

२- पाञ्चालीरीतिवैदर्भीगौडीरीत्युभयात्मिका।।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८५

३- माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।

- का० सू० वृ०, १।२। १३ पृ० २५

४- भोजस्त्वाह -

समस्तपञ्चषट्पदामोज: कान्तिसमन्विताम्।

मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदु:।।

- साहित्यदर्पण, नवम परि०, पृ० ६६१

वृत्ति और रीति -

विद्यानाथ ने वृत्ति और रीति को पृथक् माना है । उनके अनुसार वृत्तियां रचना पर आश्रित होती हैं और रस की स्थिति को सूचित करती हैं । जबकि रीतियां गुणों पर आश्रित पदरचना हैं । वृत्तियों में अर्थ विशेष की अपेक्षा रहती है । किन्तु, रीतियों में केवल सन्दर्भ की सुकुमारता और प्रौढ़ता रहती है इनमें अर्थ विशेष की अपेक्षा नहीं रहती । अत: वृत्तियां अर्थ पर और रीतियां शब्द पर आश्रित हैं । आचार्य रुद्रट[1] ने समास को आधार मानते हुए वृत्ति का रीति से ईषत् पृथक् उल्लेख किया है ।

आनन्दवर्धन ने रीति और वृत्ति को पृथक् माना है । उनके अनुसार रीति या संघटना के स्वरूप का आधार समास है । वृत्तियां वाच्याश्रय (कैशिकी आदि) और वाचकाश्रय (उपनागरिका आदि) हैं । संघटना की स्थिति गुणों के आश्रय से है - रीति गुणाश्रयी है । उपनागरिकादि वृत्तियों को भी ध्वनिकार ने गुणों से अभिन्न माना है । रीतियां रसाभिव्यक्ति का माध्यम हैं और वृत्तियों को भी रस के अनुगुण होना चाहिए । इस प्रकार ध्वनिकार की रीति और वृत्ति परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं । आचार्य मम्मट ने तो रीति और वृत्ति दोनों को एक ही माना है । उन्होंने वृत्तियों का वर्णन करने के बाद यह कह दिया है कि इन्हीं वृत्तियों को पूर्ववर्ती आचार्यों ने वैदर्भी आदि रीति कहा है ।

१- नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन ।

वृत्ते: समासवत्यास्तत्र स्यु रीतयस्तिस्र: ।।

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिता: ।

लघुमध्यायतविरचनसमास भेदादिमास्तत्र ।।

-काव्यालङ्कार, २। ३, ४, पृ० २१

विद्यानाथ की दृष्टि में वृत्ति का सम्बन्ध अर्थ से है और यही वृत्ति और रीति में अन्तर है । वर्णों का उल्लेख चाहे वे अनुकूल हों या प्रतिकूल वृत्ति को परोक्ष रूप से शब्द के साथ सम्बद्ध कर देती हैं या उपचार के साथ । रीति को परिभाषित करते समय इसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है । रीति के सन्दर्भ में कहा है कि वे शब्द और उसके गुण से परिचालित होती हैं और अर्थ से उनका कोई सन्दर्भ नहीं है । गुण और वृत्तियों के बारे में आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के समान ही विद्यानाथ रीतियों को शब्द-संघटना का एक प्रकार मानते हैं ।

शय्या-पाक -

रीति के बाद विद्यानाथ ने शय्या और पाक का विवेचन किया है । विद्यानाथ ने जिन पाक और शय्या सिद्धान्तों का उल्लेख किया है उनका विकास व्यंजना अथवा अभिव्यक्ति की चारुता के महत्व के कारण हुआ था । यद्यपि उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों ने इन विषयों को मुख्य विषय नहीं माना है किन्तु उसके अर्थ यह नहीं हैं कि यह दोनों विषय काव्य के लिए नये हैं ।

शय्या एक प्राचीन शब्द है । बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ कादम्बरी के आरम्भिक श्लोक में इस शब्द का उक्त अर्थ में ही प्रयोग किया है[१] । भोज ने भी अपने शब्दालङ्कार में शय्या शब्द का प्रयोग किया है किन्तु वहां उसका अर्थ विद्यानाथ के प्रयोग से भिन्न है । यद्यपि भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में इसे घटना के समानार्थ प्रयोग किया है और इस अलंकार को यही नाम शृङ्गार-प्रकाश में दिया है । किन्तु भोज ने इसके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट नहीं किया है ।

१- स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति राग हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ।।
- कादम्बरी, प्रस्तावना श्लोक ८, पृ० ५

विद्यानाथ के काल में शय्या सम्बन्धी विचार स्पष्ट रूप से सामने आया और उसे स्थापित करने का प्रयास किया गया है । इस प्रयास में विद्यानाथ का योगदान विशेषरूप से स्मरणीय है । विद्यानाथ ने अभिव्यक्ति के विशिष्ट गुण के रूप में इसे विकसित किया । विद्यानाथ ने शय्या की परिभाषा करते हुए उसे परान्योन्य मैत्री कहा है[1] । उनका विचार है कि शब्दों के तारतम्य में लयबद्धता होनी चाहिए । उनमें आपस में विरोधाभास नहीं होना चाहिए । अर्थात् शब्दों में एकात्मता प्रवाह तथा ध्वन्यात्मक सहजता होनी चाहिए । आगे चलकर विद्यानाथ कहते हैं कि शब्दों की पारस्परिक अन्योन्यमैत्री इतनी घनिष्ठ होती है कि कोई विशेष शब्द या शब्दसमूह किसी सन्दर्भ में या किसी श्लोक से न तो हटाया जा सकता है और न उसके स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखा जा सकता है[2] ।

विद्यानाथ की शय्या सम्बन्धी विचारधारा यहां से पाक सम्बन्धी विचारधारा के समानान्तर चलने लगती है । 'पाक' का शाब्दिक अर्थ है 'पक्वता' परिपाक या फलन । यह शब्द प्राचीन है किन्तु वामन ने सर्वप्रथम इसे स्थान दिया है[3] । डा० वी० राघवन ने इसे परिभाषित करते समय कहा है जिस प्रकार एक जौहरी पहले कुछ रत्नों को पूर्वविचारित ढंग से जड़ता है और यदि आवश्यकता हुई तो एक के स्थान पर दूसरे का उपयोग करता है । उसी प्रकार कवि कर्म है यदि कोई शब्द या शब्द समूह अपरिवर्तनीय प्रतीत हो तो यह मान लेना चाहिए कि कवि की कला ऐसे स्तर पर पहुंच गयी है जिसे

१- या पदानां परान्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८६

२- पदविनिमयासहिष्णुत्वाद्वन्धस्य पदानुगुण्यरूपा शय्या ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८६

३- गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते ।

- का० सू० वृ०, ३।२, पृ० १५८

पक्वता कहते हैं। यही शब्दपाक है। उसकी सरस्वती तब हस्तसिद्धा हो जाती है[१]। विद्यानाथ शब्दों की इस अपरिवर्तनीयता को परिवृत्ति या विनिमय-असहिष्णुता कहते हैं और शय्यासम्बन्धी अपने विचारों के अन्त तक पहुंचते हैं।

आचार्य वामन पाक को किसी भी कवि की परिपक्वता के स्तर को नापने का वैदर्भीशैली में एक मानक मानते हैं[२]। बाद में वामन का कथन है कि काव्य पाक में सभी गुण, गुण-स्फुटत्व-साकल्य का आविर्भाव होता है[३]। पाक के सम्बन्ध में राजशेखर ने भी विशिष्ट मत व्यक्त किया है।

----

1. While describing, the Poet Pursuing his craft and setting the stones in the jewel of his expression putting in one looking at it in the company of the neighbouring ones and substituting another if need be if a word becomes irremovable or a sequence of words unalterable, the poet has arrived at that stage of his art where it is stamped with the mark of maturity which is Śabdapāka.

- प्रतापरुद्रीय, डा० वी० राघवन् की भूमिका, पृ० २०

२- वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥

- का० सू० वृ० १।२।२१, पृ० ३३

३- गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।

- का० सू० वृ० ३।२, पृ० १५८

राजशेखर ने उन विभिन्न प्रक्रियाओं और तज्जनित काव्यों का इस प्रकार उल्लेख किया है मानो वे विभिन्न पाक हों और प्रत्येक पाक की परिपक्वता की उपमा हेतु विभिन्न फल यथा आम्र आदि का उल्लेख किया है[1]। वामन ने भी ऐसी उपमाओं का उल्लेख किया है[2]।

विद्यानाथ के विवेचन से शय्या और पाक की विचारधाराओं में अन्तर दिखलाई देने लगता है। विषयवस्तु की गहराई को विद्यानाथ पाक की अर्थगम्भीरिमा की संज्ञा देते हैं[3]। इस विवेचन से यह स्पष्ट भासित

1- 'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिबन्धः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदय-प्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ' इति यायावरीयः। स च कवि-ग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति। तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचु-मन्दपाकम्, आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्, आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्, आदौमध्यमन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्, आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्, आदौ मध्यमन्ते स्वादु सहकारपाकम्, आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्, आद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलपाकमिति।

- काव्य मीमांसा, पंचम अध्याय, पृ० ५०-५१

2- गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते।।
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः।।
गुणानां दशतामुक्तौ यस्यार्थस्तदपार्थकम्।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः।।

- का० सू० वृ०, ३।२।१,२,३ पृ० १५८

3- अर्थगम्भीरिमा पाकः।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८७

होता है कि ग्रन्थकार सायास शय्या को शब्द तथा पाक को अर्थ के साथ जोड़ने का यत्न कर रहे हैं। पाक के दो प्रकारों से यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में ये विषयवस्तु रस है। विद्यानाथ के केवल दो पाक प्रकारों का उल्लेख किया है जिनकी भिन्नता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। एक अंगूर की तरह है जिसका नाम द्राक्षापाक है। इसमें बाहरी आवरण इतना फला होता है कि मुंह में डालते ही रस का स्वाद मिलने लगता है। वे रस में सराबोर हैं। दूसरा नारिकेल पाक है। नारियल के समान जिसका बाहरी आवरण कठोर होता है, जिसे तोड़ने पर ही छिपा रस बाहर आता है और उसका आस्वादन किया जाता है[1]। विद्यानाथ ने यह भी कहा है कि इन दोनों के बीच पाक के अन्य प्रकार भी हैं किन्तु प्रत्येक में समय का व्यवधान है[2] जो अर्थ तक पहुंचने में बाधक है चाहे वह वस्तु हो, अलङ्कार हो या रस।

विद्यानाथ ने काव्यप्रकरण के अन्त में श्रव्य के स्वरूप का वर्णन किया है। यह पाठ्य काव्य[3] तीन प्रकार का होता है -- १- गद्यमय, २- पद्यमय, ३- गद्यपद्योभयमय।

१- गद्य -

विद्यानाथ के अनुसार जो बिना पादों का पद संघात होता है

१- द्राक्षापाकः स कथितो बहिरन्तःस्फुरद्रसः।
स नारिकेपाकः स्यादन्तर्गूढरसोदयः।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८७, ८८

२- एवं वस्त्वलंकारप्रतीतावपि द्रष्टव्यम्। पाकान्तराणि मध्वक्षीरादीनि यथासम्भवमूह्यानि।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ८६

३- तच्चिविधम्। गद्यमयं पद्यमयमुभयमयं चेति।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११७

वह गद्य होता है[1]। गणमात्र नियत पद तृतीय भाग पाद कहा जाता है। उससे रहित, (पद-सुबन्त-तिङन्त - पद समुदाय में गणमात्र नियत पाद नहीं हो) उसको गद्य कहते हैं। गद्य उसे कहते हैं जिसे हम स्वभावत: बोलते हैं, जिसमें राग नहीं होता, जो केवल भाव प्रकाशित करने के लिये स्वभावत: प्रयुक्त होता है। विद्यानाथ ने गद्य का केवल आख्यायिका नामक भेद ही माना है।

आख्यायिका -

जिसमें वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्द हो तथा सर्ग की जगह में कथा भेद के लिये उच्छ्वास हो वह आख्यायिका है। इसमें वक्त्र और अपरवक्त्र वृत्त विशेषों के द्वारा कथा नायक का वर्णन होता है। इसका इतिवृत्त उच्छ्वास से परिच्छिन्न होता है जैसे -- हर्षचरितादि[2]।

दण्डी ने गद्य के कथा और आख्यायिका ये दो भेद माने हैं[3]। भामह के अनुसार `गद्य से युक्त संस्कृत की रचना आख्यायिका कहलाती है। जिसके शब्द अर्थ एवं समास अक्लिष्ट तथा श्रव्य हों, विषय उदात्त हों और जो उच्छ्वासों वाली हों। उसमें नायक स्वयं अपने घटित चरित्र को कहता है। समय-समय पर भावी घटनाओं के सूचक वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द

१- अपाद: पदसंघातो गद्यं - - - ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११७

२- वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ।।
वर्ण्यते यत्र काव्यज्ञैरसावाख्यायिका मता ।
यत्र वक्त्रापरवक्त्रनामानौ वृत्तविशेषौ वर्ण्यते सोच्छ्वासपरिच्छि-
न्नाख्यायिका हर्षचरितादि ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११८

३- अपाद: पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा ।

- काव्यादर्श, १। २३, पृ० १४

हों[1]।

विद्यानाथ ने गद्य के दूसरे भेद कथा का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवत: उन्होंने दण्डी के समान ही कथा आख्यायिका के भेद को घट-कलशादिभेदवत् अप्रयोजक माना होगा[2]।

पद्य -

विद्यानाथ के अनुसार, `जहां चार पाद होते हैं वह पद्यमय काव्य होता है यथा - रघुवंशादि[3]। पद्य का लक्षण इस प्रकार है -- `छन्दोबद्धपदं पद्यम्`। यह पद्य प्राय: चार चरणों का होता है। इसीलिए दण्डी ने `पद्यं चतुष्पदी` कहा है। वस्तुत: पद्य के चरणों की संख्या नियत नहीं होती जैसे - गायत्री तीन चरणों का है। `षट्पदी` नामक वृत्त भी प्रसिद्ध है। अत: `चतुष्पदी` पद का उपलक्षण मानना चाहिए।

महाकाव्य -

महाकाव्य पद्यमय काव्य के अन्तर्गत आता है। विद्यानाथ ने दण्डी के समान ही महाकाव्य के लक्षण गिनाये हैं उनके अनुसार, `नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतुएं एवं चन्द्रमा तथा सूर्य का उदय। बगीचा जलक्रीडा,

---

१- संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थ पदवृत्तिना। गद्येन युक्तोदातार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता।। वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्। वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च।।

- काव्यालङ्कार, १। २५, २६, पृ० १५

२- तत् कथाऽऽख्यायिकेत्येका जाति: संज्ञा द्वयाङ्किता। अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातय:।।

- काव्यादर्श, १।२८, पृ० १७

३- - - पद्यं चतुष्पदम्।

- प्रतापरु०, का० प्र०, पृ० ११७

मधुपान, रतोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह एवं कुमारजन्म । मन्त्र, दूत, विजययात्रा एवं युद्ध तथा युद्ध में नायक का अभ्युदय । इनका जहां वर्णन किया[1] जाता है वह महाकाव्य है । इन १८ में से जिस किसी को भी[2] कम कर सकते हैं । भामह तथा दण्डी ने महाकाव्य को सर्गबन्ध कहा है । सर्वप्रथम दण्डी ने सर्गबन्ध को महाकाव्य कहा । उनके अनुसार इसकी रचना सर्गों के आधार पर होती है । इसीलिए वह सर्गबन्ध कहलाता है । महाकाव्य का मुख (प्रारम्भ) तीन प्रकार से किया जाता है - आशी: नमस्क्रिया और वस्तु-निर्देश । इतिहास की कथा पर आधारित होना, अथवा इतिहास प्रसिद्ध को छोड़कर किसी सत्पुरुष की कथा का आश्रय लेना, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि रूप फल को उद्देश्य करके बनाया जाना एवं चतुर तथा उदात्त नायक का कथा का मुख्य पात्र होना महाकाव्य में अपेक्षित है । महाकाव्य में नगर का, समुद्र, पर्वत, ऋतुओं,

---

१- अथमहाकाव्यादय: प्रबन्धा निरूप्यन्ते ।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनम् ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवा: ।।
विप्रलम्भो विवाहश्च कुमारोदयवर्णनम् ।
मन्त्रद्यूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदया अपि ।।
एतानि यत्र वर्ण्यन्ते तन्महाकाव्यमुच्यते ।
एषामष्टादशानां यै: कैश्चिदूनमपीष्यते ।।
- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११७

२- सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धश्च काव्यादि तत्पुन: पञ्चधोच्यते ।।
- भामह काव्यालंकार १।१८, पृ० १०

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
- काव्यादर्श, १।१४, पृ० १०

चन्द्रोदय, सूर्योदय एवं चन्द्रास्त-सूर्यास्त, उद्यान विहार, जलक्रीडा, मधुसेवन तथा संभोग का वर्णन । विप्रलम्भ विवाह, कुमारजन्म, मन्त्र, दूत, विजययात्रा में नायक के अभ्युदय आदि का वर्णन होना चाहिए ।[1]

भामह ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार से किया है -- 'महान चरित्रों से सम्बद्ध (आकार में) बड़ा, ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव सम्पन्न, अलङ्कारयुक्त, सत्पुरुषाश्रित, मंत्रणा, दूतसम्प्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक का अभ्युदय, पंचसंधियों से समन्वित, अनतिव्याख्येय तथा ऋद्धिपूर्ण होता है । चतुर्वर्ग का प्रतिपादन रहने पर भी उसमें प्रधानता अर्थ निरूपण की होती है । लौकिक आचार तथा सभी रसों से स्पष्टत: युक्त रहता है ।[2]

१- सर्गबन्धोमहाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपान रतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।।

- काव्यादर्श, १।१४,१५,१६,१७, पृ० १६-२०

२- अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम् ।।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ।।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।।

- काव्यालङ्कार, १।१६-२१, पृ० ११

विद्यानाथ ने महाकाव्य का लक्षण बहुत ही संक्षिप्त किया है। अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य का लक्षण देखते हुए इनका लक्षण अपूर्ण सा लगता है।

गद्यपद्योभयमय -

विद्यानाथ के अनुसार गद्यपद्यमय काव्य चम्पू कहलाता है। जैसे - दमयन्तीपरिणय आदि[1]। यह काव्य के सामान्य स्वरूप का तीसरा भेद है। विद्यानाथ ने चम्पू की परिभाषा दण्डी की चम्पू परिभाषा के आधार पर की है। आचार्य दण्डी ने चम्पू के लिये मिश्र शब्द का प्रयोग किया है[2]। मिश्र शब्द से गद्यपद्योभय मिश्रण विवक्षित है। मिश्र काव्य के भी दृश्य और श्रव्य दो भेद किये हैं। नाटकादि दृश्य काव्य है और चम्पू श्रव्य काव्य है[3]।

काव्य के तीन प्रकारों के बाद विद्यानाथ ने ऐसी कविताओं को जो विभिन्न अध्यायों में नहीं बांटी गयी हैं उन्हें उपकाव्य की संज्ञा दी है और सूर्यशतक का उदाहरण दिया है। इस वर्ग का शास्त्रीय नाम 'संघात' है।

दाड्डप्रबन्ध -

विद्यानाथ के काल में कुछ अमहत्वपूर्ण प्रकार की विरुद गायन सम्बन्धी रचनाओं को महत्व मिलना शुरू हो गया था। तब काव्यशास्त्रियों ने ऐसे काव्यों को उनके आकार प्रकार के अनुसार संहिताओं में बांधने का प्रयास किया। इस प्रकार की कविताओं के प्रकार असीमित हैं क्योंकि कविगण अपने वाक् चातुर्य, भाषाज्ञान, लयज्ञान और रस ज्ञान का उपयोग करते हुए नई-नई शैलियों को जन्म देते जा रहे थे। विद्यानाथ ने ऐसी कविताओं को दाड्ड प्रबन्ध की संज्ञा दी है। उनके मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं, कि वे सांगीतिक ताल में

१- गद्यपद्यमयकाव्यं चम्पुरित्यभिधीयते।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० ११७

२- पद्यं गद्यं मिश्रञ्च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।

- काव्यादर्श, १।११, पृ० ८

३- मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ॥

- काव्यादर्श, १।३१, पृ० २९

निबद्ध हैं और इनकी प्रस्तुति चम्पू (गद्यपद्यसमन्वित) के रूप में हुई है[1]। ये दण्डप्रबन्ध निम्नलिखित हैं --

१- उदाहरण -

जहां आरम्भ में 'जयति' से उपक्रम हो और जिसमें मालिनी आदि वृत्तों से रमणीय पद्य की रचना हो। इसके बाद 'अपि च' इससे जिसमें उपक्रम हो और प्रतिविभक्ति प्रास और ताल के साथ-साथ आठ वाक्यों की रचना हो तथा विभक्त्याभास हो वह उदाहरण होता है[2]। अर्थात् उदाहरण ऐसी रचना है जो तालबद्ध चम्पू के रूप में 'जय' शब्द से प्रारम्भ होती है। इसमें पुनरावृत्ति का प्रयोग होता है और आठों विभक्तियां प्रयुक्त होती हैं।

२- चक्रवाल -

जहां सम्बोधन विभक्ति हो, प्रचुर पद्य हों और पहले जिनको[3] छोड़ दिया है उन्हीं को फिर आकृष्ट किया जाता हो वह चक्रवाल है। चक्रवाल श्लोक के साथ प्रारम्भ होता है, उसके बाद एक लम्बा भाग सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होता है। इसमें कई ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें बार-बार छोड़ दिया जाता है और पुनः प्रयुक्त किया जाता है।

१- येन केनापि तालेन गद्यपद्यसमन्वितम् ।।

- प्रतापप०, का० प्र०, पृ० ११८

२- जयत्युपक्रमं मालिन्यादिप्रासविचित्रितम् ।
तत्र उदाहरणं नाम विभक्त्यष्टकसंयुतम् ।।

- प्रतापप०, का० प्र०, पृ० ११८

३- सम्बोधन विभक्त्या यत् प्रचुरं पद्यपूर्वकम् ।
विमुक्तपुनराकृष्टशब्दं स्याच्चक्रवालकम् ।।

- प्रतापप०, का० प्र०, पृ० ११८

३- भोगावली-

जहां आदि और अन्त में संस्कृत और प्राकृत भाषा के पद्य हों तथा जहां चार अथवा आठ वाक्यों से युक्त स्कन्ध हों अर्थात् सर्गादि के समान परिच्छेद हों और प्रतिस्कन्ध में देवता एवं नृपों के उचित भिन्न-भिन्न वाक्यों की शैली हो तथा सब के आरम्भ में देव शब्द का उपन्यास हो वह प्रबन्ध भोगावली माना गया है। अर्थात विद्यानाथ के अनुसार भोगावली में प्रारम्भ और अन्त में एक-एक श्लोक का प्रयोग होता है। कथावस्तु के वर्णन में संस्कृत और प्राकृत प्रयुक्त होते हैं और पूरा प्रबन्ध स्कन्धों में विभक्त होता है। प्रत्येक स्कन्ध में आठ या चार वाक्य होते हैं जो विभिन्न शैलियों में विरचित होते हैं। ये वाक्य ईश्वर या राजा के गुणगान में लिखे जाते हैं। और 'देव' शब्द का बहुलता से प्रयोग होता है।[1]

४- विरुदावली -

जहां कथ्यमान, अङ्कों में विरुदावली (प्रशस्ति) के प्रचुर वर्णनों से उज्ज्वल हो तथा वाक्याडम्बर से संयुक्त हो वह प्रबन्ध विरुदावली मानी गयी है।[2] विरुदावली में प्रशंसात्मक उपाधियों तथा

१- आद्यन्तपद्यसंयुक्ता संस्कृतप्राकृतात्मिका।
अष्टभिर्वा चतुर्भिर्वा वाक्यैः स्कन्धसमन्विता ।।
प्रतिस्कन्धं भिन्नवाक्यरीतिर्देवनृपोचिता।
सर्वतोदेवशब्दादिरेषा भोगावली मता ।।

- प्रताप०, का० प्र० पृ० ११६

२- कथ्यमानाङ्कविरुदवर्णनप्रचुरोज्ज्वला।
वाक्याडम्बरसंयुक्ता सा मता विरुदावली ।।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० १२०

विवरणात्मक संज्ञाओं की भरमार होती है जो अतिशयोक्तिपूर्ण होती है ।

५- तारावली-

तारों की संख्या के समान २७ पद्यों से युक्त जो प्रबन्ध हो वह तारावली माना गया है[१] ।

इन द्वादश प्रबन्धों के निरूपण के साथ ही विद्यानाथ का काव्य प्रकरण समाप्त होता है ।

-०-

१- ताराणां संख्यया पद्यैर्युक्ता तारावली मता ।

- प्रताप०, का० प्र०, पृ० १२०

चतुर्थ अध्याय

-o-

रस विवेचन

रस विवेचन

रस नाट्यशास्त्र का सर्वप्रमुख तत्व है । किसी भी नाट्यशास्त्र के आचार्य को उसकी उपेक्षा करना अशक्य है । विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय में जो अन्य विशिष्ट बात है वह है रस का विवेचन जो कि काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है । सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में रस का विवेचन उपलब्ध होता है [1]। किन्तु इसमें रस का स्वरूप पर्याप्त विकसित अवस्था में है । इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पूर्व रससिद्धान्त की उद्भावना हो चुकी थी । भरत के अनुसार नाट्य के ११ तत्वों में रस ही प्रधान है [2]। भरत के अनन्तर दण्डी ने रसों का उल्लेख किया है [3]। दण्डी के पश्चात् उद्भट ने रसों का वर्णन किया और शान्तरस को भी सम्मिलित किया [4]। रुद्रट ने भी काव्य में रस के महत्व की ओर ध्यान दिलाया और काव्य में यत्नपूर्वक रस की प्रतिष्ठा करने का आदेश दिया है [5]। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा

१- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ।

- ना० शा० षाष्ठोऽध्यायः, पृ० ७१

२- रसाभावा ह्यभिनया धर्मी वृत्ति प्रवृत्तय: ।
सिद्धि: स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रह: ।।

- ना० शा०, ६।१०, पृ० ६६

३- कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति ।

- काव्यादर्श, १।६२, पृ० ४३

४- शृङ्गारहास्यकरुणारौद्र वीर-भयानका: ।
बीभत्साद्भुत-शान्तश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता: ।।

-काव्यालङ्कार सार संग्रह, ४।४, पृ० ३५४

५- तस्मात्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ।।
शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्य: ।
रौद्र: शान्त: प्रेयानिति मन्तव्या रसा: सर्वे ।।

-काव्यालङ्कार, १२।२,३ पृ० ३७२-७३

बतलाते हुए रस-योजना में ही कवियों को विशेष रूप से उद्यत रहने की प्रेरणा दी[1]। अभिनवगुप्त ने विशद् व्याख्या के द्वारा रस को लौकिक पदार्थों अथवा विषयों की सीमा में आबद्ध न होने वाले इस तत्व को अलौकिक कहा। उनके अनुसार रसचर्वणा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि ज्ञान तथा योगिप्रत्यक्ष से होने वाले तटस्थ पर संवेदनात्मक ज्ञान एवं समस्त विषयों के प्रति वैराग्ययुक्त परम योगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द के अनुभव से भिन्न प्रकार की होती है[2]।

विद्यानाथ ने रस-प्रकरण में रस को सभी प्रबन्धों में जीव के समान मानते हुए रस की परिभाषा इस प्रकार दी है -- विभाव, अनुभाव सात्विक भाव एवं व्यभिचारी भाव रूपी सामग्री से समुल्लसित अनुभूयमान निजानन्दसंवलित स्थायी भाव ही रस है[3]। जैसा कि दशरूपक में कहा गया है -- विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन

१- व्यंग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ।।
- ध्वन्यालोक, ४।५, पृ० ५६६

२- सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधत: तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात् सकल वैषयिकोपरागशून्य शुद्धपरयोगिगतस्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते।
- अभिनवभारती - पृष्ठ १८८

३- सर्वेषां प्रबन्धानां जीवभूतस्य रसस्य स्वरूपं निरूप्यते।
विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिसामग्रीसमुल्लसित: स्थायीभावो रस:।
- प्रताप०, रस प्र०, पृ० २५८

योग्य किया गया स्थायीभाव ही रस कहलाता है[1] ।

रस का व्यञ्जकत्व -

विद्यानाथ ने आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए यह माना कि रस की व्यंजना होती है । विद्यानाथ ने तात्पर्यार्थ का भी अन्तर्भाव व्यंग्यार्थ में ही माना है । काव्य सामान्य का लक्षण करते हुए उन्होंने व्यंग्य केवल (रस, रसाभास, भावाभासादि) को काव्य की आत्मा माना था ।

आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि रस की व्यंजना होती है । रस अभिधा तथा लक्षणागम्य नहीं हो सकता । रस के अतिरिक्त वस्तु और अलङ्कार की भी व्यंजना होती है । रसों का काव्य से वाच्यवाचक सम्बन्ध नहीं हो सकता । क्योंकि जहां शृङ्गारादि रस का आस्वादन किया जाता है वहां अनिवार्यत: न रस शब्द का प्रयोग किया जाता है और न शृङ्गारादि शब्दों का । अत: न तो शृङ्गारादि रसों को और न उनके परिपोष को अभिधागम्य कहा जा सकता है[2] ।

जब अभिधा वृत्ति से काम नहीं चलता तब दूसरा उपाय यह है कि रस को लक्षणावृत्ति गम्य माना जाए । रस में उपादान लक्षणा लागू नहीं हो सकती क्योंकि रसास्वादन के अवसर पर अनिवार्यत: रस शब्द का प्रयोग नहीं होता जिससे सामान्य से विशिष्ट शृङ्गारादि का बोध हो सके । लक्षित लक्षणा भी लागू नहीं हो सकती क्योंकि रामादिपरक काव्यार्थ का बाध तो

१- तथा चोक्तं दशरूपके -

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि: ।
आनीयमान: स्वादुत्वं स्थायी भावो रस: स्मृत: ।। इति ।

- प्रताप०, रस० प्र०, पृ० २५६

२- तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात् । विभावादि-प्रतिपादनमुखेन वा । पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनाम् - - ।

- ध्वन्यालोक, प्र० उ०, पृ० ८१

होता ही नहीं । सादृश्य के अभाव में गौणी लक्षणा भी नहीं हो सकती । रस काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो कल्पनाशील नहीं होते उन्हें भी रसास्वादन होता है । अत: रसास्वादन की युक्तियुक्त व्याख्या तब तक सम्भव नहीं जब तक अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य से भिन्न व्यंजना नामक वृत्ति न स्वीकार की जाय ।

व्यंजना का क्षेत्र केवल रस ही नहीं है अपितु वस्तु और अलङ्कार भी है । काव्य प्रकरण में तात्पर्यार्थ की व्याख्या करते हुए कुमारस्वामी ने भी आनन्दवर्धन के मत का ही अनुसरण करते हुए कहा - तात्पर्यार्थ शब्द में तत् शब्द रसादि का बोधक है । अत: वक्ता की बुद्धि में सन्निधापित वाक्याकाम्य वाक्यार्थ जो रसादि रूप हैं उसी को तत् शब्द कहता है । इसलिए उसमें पर या उसमें आसक्त या उसके विषय हैं, उसी को तत्पर कहते हैं । इसमें प्रश्न उठता है कि अभिधा के द्वारा उपस्थित अर्थों का प्रतिपादन करने वाली शक्ति ही तात्पर्य है जैसा कि मीमांसक लोग वर्णित करते हैं, अत: 'हे देवदत्त ! दण्ड के द्वारा घेरकर गाय को ले आओ' आदि स्थल में देवदत्त का दण्ड से घेरकर गौ का आनयन, जो तात्पर्यशक्ति से अवगत होने के कारण तात्पर्यार्थ कहते हैं तब इस विशिष्ट अर्थ का व्यंग्य में अन्तर्भाव कैसा । इस पर उत्तर देते हैं कि केवल उतने ही अर्थ के कहने में कवि के संरम्भ की विश्रान्ति नहीं हो जाती है, क्योंकि काव्य शब्दों का अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति का विषय कोई अन्य प्रयोजन प्रधान नहीं बन सकता । यदि बन सकता है तो प्रवृत्तिकारी या निवृत्तिकारी अर्थों को दबाकर प्रतीत होने वाला रसादि ही बन सकता है जिसका परिणाम सामाजिकों का आनन्दास्वाद है । अत: वह रस ही तात्पर्यार्थ है और उसको प्रतीत करा देने वाली पदों की शक्ति ही कवियों के सिद्धान्त में तात्पर्य है । वह तात्पर्य शक्ति अभिधा नहीं है क्योंकि उस अर्थ में प्रामाणिकों का संकेत नहीं है । लक्षणा भी नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध एवं रूढ़ि या प्रयोजन कोई नहीं है । अत: व्यंजना का ही यह नामकरण है और उस व्यंजना से प्रतीत होने वाला

अर्थ ही व्यंग्यार्थ है[1]।

रससूत्र की व्याख्या -

आचार्य भरत ने सर्वप्रथम रस का विवेचन किया और उनके अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती आचार्यों ने रससूत्र की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। आचार्य भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ये चारों आचार्य रस सूत्र के विख्यात व्याख्याकार हैं।

भट्टलोल्लट

इनका रसनिष्पत्ति विषयक मत रसोत्पत्तिवाद कहलाता है।

१- अत्र वक्तृबुद्धिसंनिधापितो वाक्याकाभ्यो वाक्यार्थो रसादिः फलत्वाद्वेद्योच्यते। तस्मिन् परास्तत्परास्तदासक्तास्तद्विषया इत्यर्थः। तेषां भावस्तात्पर्यम्। नन्वभिहितानां पदार्थानामर्थाभिधायिनां वा पदानां विशिष्टार्थप्रत्यायनशक्तिस्तात्पर्यमिति मतभेदेन मीमांसका वर्णयन्ति। अतस्तन्मते देवदत्त। दण्डेन गामानयेत्यादौ देवदत्तकर्तृकदण्डकरणकगोकर्मकानयनरूपो विशिष्टार्थ एव व्यंग्यत्वविधुरस्तात्पर्यादिवाततत्वात् तात्पर्यार्थ इत्युच्यते, कथमस्य व्यंग्येऽन्तर्भाव इति चेत सत्यम्। न हि तावन्मात्रे कविसंरम्भविश्रान्तिः। काव्यशब्दानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूतस्य प्रधानस्य प्रयोजनान्तरस्यासंभवात्। किं तु तदर्थान्यप्रकारेण प्रतीयमाने सामाजिकानन्दास्वादफले रसादावर्थान्तरे। अतः स एव तात्पर्यार्थः। तत्प्रत्यायकपदार्थशक्तिरेव तात्पर्यं कविसमये, तच्च नाभिधा, स्वार्थे संकेताभावात्। नापि लक्षणा, मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। अतो वक्ष्यमाणलक्षणस्य व्यंजनस्यैवेदं नामान्तरकरणमिति तदर्थस्य व्यंग्यार्थत्वमेवेति भावः।

- प्रताप०, का० प्र० रत्नापण, पृ० ५५-५६

यह मत मीमांसा सिद्धान्त पर आधारित है। इनके अनुसार रस मुख्यरूप से ऐतिहासिक या आख्यान प्रसिद्ध राम आदि (अनुकार्य) में रहता है। सीता आदि तथा उद्यान आदि लौकिक कारण ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव हैं। वे रामादि के चित्त में रति आदि भाव के उत्पादक तथा उद्दीपक हैं। रामादि के भुजफड़कना आदि अनुभाव हैं। उनके द्वारा राम आदि के चित्त में स्थित रति आदि भाव प्रतीति योग्य हुआ करता है। निर्वेद, चिन्ता इत्यादि सहकारी कारण ही व्यभिचारी भाव कहलाते हैं जिनकी सहायता से रति आदि स्थायी भाव पुष्ट हो जाता है। राम आदि के चित्त में पुष्ट हुआ रति आदि स्थायी भाव ही रस कहलाता है। यह मुख्य रूप से राम आदि (अनुकार्य) में रहता है। किन्तु, राम आदि के समान वेशभूषा से सुसज्जित होकर कोई अभिनेता राम का अभिनय करता है। और राम सम्बन्धी काव्य का पाठ करता है तो सामाजिक उस अभिनेता को राम समझ लेते हैं और उसमें भी रति आदि भाव की प्रतीति होने लगती है। यह भ्रान्ति से होने वाली प्रतीति ही सामाजिक को आनन्द प्रदान करती है। इस प्रकार विभावों से उत्पन्न तथा उद्दीप्त होकर, अनुभावों से प्रतीति योग्य होकर तथा व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर अनुकार्य के चित्त में स्थित (लौकिक) रति आदि भाव ही रस है।

परवर्ती शङ्कुकादि आचार्यों ने इस मत की आलोचना की है। इस मत के अनुसार रस का आश्रय सामाजिक नहीं हो सकता। फिर राम आदि में स्थित या नट में प्रतीत होने वाले रस में सामाजिक को आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार सामाजिक को होने वाली रस प्रतीति भ्रान्ति-मात्र होगी और काव्यादि भ्रमोत्पादक होंगे अत: उपादेय नहीं होंगे।

<u>श्रीशङ्कुक -</u>

श्रीशङ्कुक का मत रसानुमितिवाद कहलाता है। यह न्याय सिद्धान्त पर आधारित है। उनके अनुसार जब अभिनेता निपुणता के साथ राम आदि का अभिनय करते हैं और तत्सम्बन्धित काव्य का पाठ करते हैं तो सामाजिक उस अभिनेता को चित्र-तुरगन्याय से यह राम है ऐसा समझ लेते हैं

तथा उस काव्यार्थ का अनुसन्धान करते हुए अभिनय द्वारा प्रदर्शित नायिका आदि (कारण) मुखादीप आदि (कार्य) एवं औत्सुक्य इत्यादि (सहकारी) को कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं समझते । इस प्रकार के ये नायिका आदि ही काव्य-नाट्य में विभावादि कहलाते हैं । इन विभावादि के द्वारा अभिनेता में रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है । यह अनुमित रति आदि भाव कलात्मक होने के कारण अन्य अनुमित वस्तुओं से विलक्षण होता है तथा सौन्दर्यमय होने के कारण आस्वादनीय हो जाता है इसीलिए सहृदय सामाजिक अपनी वासना द्वारा इसका आस्वादन कर लेते हैं । इस प्रकार अभिनेता तथा सामाजिक द्वारा आस्वाद्यमान रति आदि भाव ही रस है । इस मत के अनुसार वस्तुत: रति आदि स्थायी भाव अनुकार्य राम आदि में ही होता है । किन्तु, भ्रान्ति से उसका नट में अनुमान कर लिया जाता है ।

इस मत का मुख्य दोष यह है कि प्रत्यक्ष अनुभूति ही चमत्कार या आस्वादन उत्पन्न कर सकती है, केवल रति आदि भाव की अनुमिति से सामाजिक को आस्वादन नहीं हो सकता । क्योंकि रस का साक्षात्कार होता है, अनुमान नहीं ।

भट्टनायक -

रस के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं । उन्होंने भट्टलोल्लट तथा श्रीशङ्कुक दोनों के मत के दोष दिखाकर अपने मत की स्थापना की है । उनके मतानुसार विभावादि के द्वारा भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध से (संयोगात्) सामाजिक को रस का भोग (निष्पत्ति) होता है । इसीलिए यह मत रस-भुक्तिवाद कहलाता है । तदनुसार काव्य-नाट्य में शब्द के अभिधा व्यापार के समान ही भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापार होते हैं । काव्यार्थ का बोध हो जाने के पश्चात् भावकत्व व्यापार द्वारा काव्य-नाट्य गत नायक-नायिका आदि विभाव का, मुखादीप आदि अनुभाव का, तथा चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है । अर्थात् सीता आदि की सामान्य नायिका के रूप में (साधारणीकृत) प्रतीति होती है । साधारणी-

कृत विभावादि के द्वारा भावित हुए रति आदि स्थायी भाव का भोजक व्यापार द्वारा सामाजिक को आस्वादन होता है । भट्टनायक ने रसिक में ही रस को माना है । रस की अलौकिक अवस्था की ओर भी संकेत किया है । साथ ही विभावादि के साधारणीकरण की नवीन उद्भावना की है ।

भट्टनायक के मत का यह दोष है कि यहां भावकत्व और भोजकत्व नामक दो ऐसे काव्य व्यापारों की कल्पना की गयी है, जिनमें कोई प्रमाण नहीं है ।

अभिनवगुप्त -

रससूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार अभिनवगुप्त हैं । उनकी व्याख्या ही कुछ परिवर्तन के साथ परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत होती रही है । तदनुसार स्थायीभाव का विभावादि के साथ व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध होने से रस की अभिव्यक्ति होती रही है । यह मत रसाभिव्यक्ति या रसव्यक्तिवाद कहलाता है । इनके अनुसार रस सहृदय के चित्त में अभिव्यक्त हुआ करता है । रस प्रक्रिया तथा रस स्वरूप इस प्रकार है -- सहृदयों के चित्त में रति आदि स्थायी भाव वासना के रूप में विद्यमान होते हैं । सहृदयजन लोक में ललना आदि कारणों के द्वारा रति आदि भाव का अनुमान करने में निपुण हुआ करते हैं । फिर वे काव्य नाट्यादि में प्रमदा आदि का विभावादि के रूप में अनुभव करते हैं । काव्य-नाट्यादि में ये विभावादि साधारणीकृत रूप में भासित होते हैं । साधारणीकृत विभावादि के द्वारा सहृदयों के चित्त में स्थित रति आदि स्थायी भाव अभिव्यक्त होता है । समस्त सहृदयजन समानरूप से उसका आस्वादन किया करते हैं । यह आस्वादन ब्रह्मानन्द के समान किसी विलक्षण आनन्द का अनुभव मात्र है यही रस है । यह रस न कार्य है, न ज्ञाप्य है, अपितु विभावादि के द्वारा व्यंग्य है । यही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है ।

रस प्रकरण में विद्यानाथ ने अन्तिम तीन श्लोकों में रस के स्वरूप को स्पष्ट किया है । उनके अनुसार अपने-अपने वैभव से सम्पन्न जो रत्यादि भाव लोक में युवकों में अपनी वासना के अनुसार सुख या दुख को दृढ करता है, सहृदय

भावुक में वही रत्यादि भाव गुण एवं अलंकारों की शोभा से सम्पन्न होकर अभिव्यक्त होता है जिसमें विषयान्तर की प्रतीति क्रम से विगलित हो जाती है। अतएव पूर्ण अखण्ड, निरतिशय आनन्दस्वरूप रस बन जाता है। काव्य में वह रस वाक्यार्थ के रूप में विलास करता है। जिसमें ये विभावादि पदार्थ उचित विश्रान्ति को प्राप्त करते हैं। इसलिए ये भाव ही विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव नामक जिनकी सामग्रियां हैं क्रमशः एकलोली भाव को प्राप्त करके रसरूपता को धारण करते हैं जैसे तन्तु पट बन जाते हैं[1]। भोज ने स्पष्ट कहा है कि विभावादिक वाक्यार्थ में पदार्थों के सदृश होते हैं। रस, भाव और उनके आभास से ही वाक्यार्थ सम्पन्न होता है जब पदार्थों का वर्णन किया जाता है तो उनका उद्देश्य वाक्यार्थ के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। विभावादिकों की स्वतंत्र रूप से पृथक् सत्ता नहीं है और न वे स्वयं से उद्देश्य-भूत ही होते हैं उनका अन्तिम लक्ष्य रस का आविष्कारण है[2]। आनन्दवर्धन के अनुसार

१- गुणालङ्कारश्रीकृतपरिकरो भावविभाव:
स्फुरत्प्रादुर्भाव: क्रमगलितवेद्यान्तरमति:।
सुखं वा दु:खं वा निविश्यतु पुंसो: सहृदये
त्वमन्दानन्दात्मा परिणमति पूर्णो रसभर: ।।
रसोवाक्यार्थ: सन् विलसति पदार्था: पुनरमी
विभावाद्या यस्मिन् किल दधति विश्रान्तिमुचिताम् ।
अतो भावा एव क्रम समुदितान्योन्यविभावा
रसीभाव बिभ्रत्यथ च पटतां तन्तव इव ।।
- शृ०प्र०, रस प्र०, पृ० ३३३-३३६

२- न हि विभावादयोऽलंकारा: अपितु भावरसतदाभासानाम लङ्काराणा-मभिनिष्पत्तिहेतव: अर्थविशेषा: ।
नन्वेवमपि अर्थगुणत्वात् अमीषामप्यलङ्कारत्वं प्राप्नोति ?
सत्यमेतत्, किन्तु अन्यपरतया त उपादीयमाना: तत्रैव न्यग्भवन्ति: न वाक्यार्थ प्रतीतौ पदार्था: पृथक् स्फुरन्तीति ।
- शृङ्गारप्रकाश - ग्यारहवाँ प्रकाश - पृष्ठ १९०

यद्यपि पदार्थों की वास्तविक सत्ता है किन्तु वाक्यार्थ ज्ञान के समय उनका स्वतंत्र रूप से बोध नहीं होता। इसी प्रकार विभावादि के द्वारा रसोपलब्धि इतनी तीव्रता से होती है कि ऐसा लगता है कि विभावादि है ही नहीं और न विभावादि से रसोपलब्धि की क्रमिक प्रक्रिया का ही पता चलता है। अतः रस वाक्यार्थ है एवं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी पदार्थों के घटक हैं।[1] धनिक की अवलोक टीका में हम रस का वाक्यार्थ रूप में स्पष्ट उल्लेख पाते हैं।[2] पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए विद्यानाथ ने रस वाक्यार्थ माना है।

रस का अधिष्ठान

रस प्रकरण में विद्यानाथ ने रस सम्बन्धी मूल प्रश्न उठाया है कि रस का आश्रय कौन है। चरित्र नायक, अभिनेता या दर्शक? स्वयं ही उसका स्पष्ट उत्तर देते हैं कि रस का मुख्य आश्रय चरित्र नायक ही होता है। उनका तर्क है कि यदि इस व्याख्या को मान लिया जाता है तो रस का अंतर सम्बन्ध अभिनेता के माध्यम से जोड़ा जा सकता है और अभिनेता के अभिनय को समझा जा सकता है। विद्यानाथ के अनुसार नायक को रसानुभूति होती है। साधारणीकरण की प्रक्रिया से सामाजिकाश्रयत्व को समझा जा सकता है। अर्थात् नट

१- यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाक्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।।
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते।।
तद्वत् सचेतसां सोऽर्थः वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां मंक्ष्वटित्यैवावभासते।।

- ध्वन्यालोक, १।१०-१२, पृ० ९९-१०२

२- तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयाः, तत्संसृष्टो रत्यादिः वाक्यार्थः
तदेव काव्यवाक्यं यदीयौ ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

- दशरूपक, अवलोक टीका, पृ० १२०

नायकगत रस का सहृदय को सम्प्रेषण करता है । यहां पर विद्यानाथ ने साधारणीकरण की जो प्रक्रिया बताई है वह वस्तुत: साधारणीकरण न होकर श्रीशङ्कुक के अनुमितिवाद का एक रूप है । क्योंकि साधारणीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत सामाजिक का सीधा सम्बन्ध नायक से होता है किन्तु विद्यानाथ यह मानते हैं कि नट नायकगत रस का सहृदय को सम्प्रेषण करता है । अभिनेता केवल चरित्र नायक की या तो नकल करता है या उसका प्रतिनिधि होता है । वह रस का आश्रय नहीं हो सकता । यदि यह तर्क दिया जाये कि एक सिद्धहस्त कलाकार स्वयं अपनी प्रस्तुति को अपने चरित्र से अभिनीत कर रहा है और जिस चरित्र का अभिनय कर रहा है उससे उसे आनन्द मिल रहा है तो उस रूप में वह एक दर्शक के समान हो जाता है और कुछ समय के लिए अपने को अभिनेता से अलग कर लेता है[१]। यहां पर विद्यानाथ ने जो कुछ कहा है वह

१- अत्र रसो नायकाश्रय एव । यदि परं निपुणनटचेष्टया तथाविध काव्यश्रवणबलेन च सामाजिकै: साक्षात् भाव्यते, तदा परगतस्यापि रसस्य सम्यग्भावनया परत्र निरतिशयानन्दजननमविरुद्धम् । अतएव मालत्यादिशब्देभ्यो योषिन्मात्रप्रतीतौ (राकादिशब्देभ्य: शशिमात्र प्रतीतौ च) स्मृत्यारूढेन तत्तद्योषिद्विशेषेण सामाजिकाश्रयत्वमपि न विरुद्धम् । नटस्यानुकरणमात्रपरतयानैव रसाश्रययोग्यता । तस्य भावकत्वाभ्युपगमेऽपि सामाजिकत्वमेव ।

- प्रताप , रस प्र०, पृ० ३२८-२९

वस्तुत: रस कलिका के विशद् विवेचन का संक्षिप्त रूप है[१]। रस प्रकरण के अन्तिम श्लोक की अन्तिम पंक्ति में विद्यानाथ पुन: अपने इस विचार पर बल देते हैं कि रस का मुख्य केन्द्र नायक है[२] ऐसा कहते समय वे अपनी स्थिति को

१- अथैते रसा: किमाश्रया इति निरूप्यन्ते --
तत्र नायकनटसामाजिकाश्रया इत्येके। अन्ये तु नटस्यानुकरणमात्रपरतया न भाव (तु) कत्वं, भावुकत्वे वा सामाजिकान्तर्गतत्वमिति नायकसामाजिकाश्रयत्वं मन्यन्ते। न च सामाजिकेऽवेद भव (तु) कारिकादिपदप्रयोगात्तन्मात्राश्रयत्वमाशङ्कनीयमनुभवविरोधात् । नायकस्य रसानाश्रयत्वे विततरसाकलतया कुतो रसाविष्कार: ? सामाजिकानां निरालम्बनो रस: कथं प्रवर्तते ? न च मालत्यादेरेवालम्बनत्वमनौचित्यात्। अत्र केचित्समाधानमाहु: - मालत्यादिशब्दा योषिन्मात्रोद्बोधका:। राकादिशब्दाश्च शशुमात्रस्येति। तेन सामान्येन स्मृत्यारूढो योषिदादि: सामाजिकानामालम्बनत्वं भजते। रसा: नायकाश्रिता एव सामाजिकैर्नटचेष्टया काव्यश्रवणेन च साक्षाद्भाव्यन्ते। समनुभाव्यमानास्तं तमनुभवं जनयन्ति। परगतरससम्यग्भावनयान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयानन्दजनकत्वमिति। तत्र प्रवृत्तिरपि घटत इति सर्वं रमणीयमिति।

- रसकलिका, प्रताप, वी. राघवन्, भूमिका पृष्ठ २६

२- लोके स्यादनुकार्यं एव कथितो नाट्ये तु सामाजिके ॥

- प्रताप०, रस० प्र०, पृ० २२७

स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं किन्तु वास्तव में इससे और भी विभ्रम हो जाता है। पहले विद्यानाथ कहते हैं कि रस नायकाश्रयी है क्योंकि रस सामाजिक की आनंदानुभूति के लिए नायक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है किन्तु बाद में कहते हैं संसार में रस का आश्रय अनुकार्य या नायक में है किन्तु नाट्य में यह सामाजिक में है। एक ओर तो यह कथन सही नहीं है दूसरी ओर स्वयं विद्यानाथ के कथन में भी संगति नहीं बैठती। क्योंकि लौकिक रस नामक कोई वस्तु नहीं है, दूसरी बात यह कि हम लोक के सम्मान के लिए ऐसा कह सकते हैं वस्तुत: रस नाट्य का ही एक अंग है वह भी अलौकिक अंग। इस महत्वपूर्ण विचार पर कुमारस्वामी की टिप्पणी विशेष रूप से द्रष्टव्य है - टीकाकार ने रस के आश्रय के बारे में स्पष्ट करते हुए अपनी व्याख्या इस प्रकार दी है कि रस सामाजिक में केवल आरोप के कारण ही सम्भव है और यह वास्तविक नहीं है उन्होंने अपने इस विचार के पक्ष में एक अन्य ग्रन्थकार नरहरि का नाम लिया है उन्होंने भी रस का निरूपण इसी प्रकार किया है। रस का सामाजिकाश्रयत्व उसका अलौकिकत्व है। यह मानते हुए नरहरि का कथन है कि रस जो पहले आनन्द था और ब्रह्म से भिन्न नहीं था उसकी सामाजिक द्वारा अनुभूति कलात्मक माध्यम से होती है। जैसे कि ब्रह्म की अनुभूति योग के माध्यम से होती है। वास्तव में यह वही आनन्द है जो लौकिक स्तर पर साधारण जन द्वारा प्राप्त किया जाता है। तदुपरान्त अगले स्तर पर कला से निस्संग आनन्द की अनुभूति होती है और अन्तत: योगियों के आनन्द की कोटि आती है जो उसे निर्विकल्प समाधि से प्राप्त होती है। 'स्वात्मयोग प्रदीप' से एक श्लोक उद्धृत करते हुए कुमारस्वामी कहते हैं कि मूल में एक ही रस है जो कि नाटक में नव रसों का

सृजन करता है जिससे चरित्र नायक, अभिनेता तथा सामाजिक तीनों को आनन्द की प्राप्ति होती है[1]।

१- केचिदेतत् सामाजिकाश्रयत्वमारोपितं न तु मुख्यमित्याहु: - - - -
या स्थायिभावरतिरेव निमित्तभेदाच्छृङ्गारमुख्यनवनाट्यरसीभवन्ती।
सामाजिकान् सहृदयान् नटनायकादीन् आनन्दयेत सहजपूर्णरसोऽस्मि सोऽहम्॥
- प्रताप०, रस० प्र०, रत्नापण, पृ० ३३६-३७

रसोपकरण -

विद्यानाथ ने रस की परिभाषा इस प्रकार दी है -- विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव एवं व्यभिचारी भाव रूपी सामग्री से समुल्लसित होकर अनुभूयमान निजानन्दसंवलित स्थायी भाव रस है। यह परिभाषा दशरूपक पर आधारित है। इस प्रकार इनके मत में स्थायी भाव ही रस का रूप धारण करता है। किन्तु, उसे रसरूपता प्रदान करने के लिए कुछ सामग्री अपेक्षित है जिसका उल्लेख अन्य आचार्यों की भांति ही विद्यानाथ ने भी किया है। धनञ्जय ने रस की परिभाषा दो स्थानों पर दी है। रस प्रकरण के प्रारम्भ में और रसभेद विवेचन के पहले। सामग्री की दृष्टि से दोनों परिभाषाओं में कुछ भेद है। विद्यानाथ ने धनञ्जय की पहली परिभाषा का अनुसरण किया है जिसमें अन्य सामग्रियों के साथ ही सात्विक भाव का भी समावेश है[१]। अधिकांश आचार्य भरतमुनि के समान सात्विक भावों का अन्यत्र समावेश कर देते हैं और सामग्री में तीन ही तत्वों का विवेचन करते हैं। वस्तुत: सात्विक भाव की स्थिति कुछ भिन्न है। बाह्याभिव्यक्ति के रूप में होने के कारण सात्विक भाव अनुभाव के अन्तर्गत आ जाते हैं जबकि उनकी अन्त:स्थिति उन्हें व्यभिचारी भावों के निकट ला देती है। इस द्विधा स्थिति के कारण सात्विक भावों का पृथक् निर्देश उचित ही है। इसको भरत ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है - जब वे यह कहते हैं कि भावों की संख्या ४९ होती है - ३३ संचारी, ८ स्थायी और ८ सात्विक[२]। तब वे मानो

१- तथोक्तं दशरूपके --

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभि: ।

आनीयमान: स्वादुत्वं स्थायीभावो रस: स्मृत: ।।` इति।

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० २५८-५९

२- त्रयस्त्रिंशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिण: ।

सात्विकांस्तु प्रभावान् व्याख्यास्याम्यनुपूर्वश: ।।

- नाट्यशास्त्र, ७।९२, पृ० ९५

प्रत्यक्षत: इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि सात्विक भावों को न तो अनुभावों में सन्निविष्ट किया जा सकता है और न संचारी भावों में ।

स्थायी भाव का उल्लेख रसोपादानों में न तो भरतमुनि ने किया और न अन्य आचार्यों ने । कुछ आचार्यों का यह मत है कि स्थायी भाव अनुभावों और संचारियों में वासना रूप में सन्निहित रहता है । अत: उसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं है । यही कारण है कि रस सूत्र में स्थायी भाव का उल्लेख भिन्न किंचित में नहीं किया गया है । किन्तु आगे की पंक्तियों में भरत ने स्थायी भाव को ही रस कहा है[1] । अर्थात् अनेक भावों से युक्त स्थायी भाव रसावस्था को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा कि उन विभावादि से व्यक्त स्थायीभाव ही रस कहलाता है[2] । विद्यानाथ ने दशरूपककार का अनुसरण करते हुए रस की परिभाषा में स्थायीभाव का स्पष्टत: उल्लेख किया है और उसे ही प्रधान रखा है ।

उपकरणों का स्वरूप --

भाव :-

रसोपकरणों में भाव एक मुख्य तत्व है । भावना करना या

१- नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।

-नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय:, पृ० ७

विभावानुभाव व्यभिचारिपरिवृत: स्थायीभावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत् ।

-नाट्यशास्त्र, सप्तमोऽध्याय:, पृ० ८१

२- विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण: ।

व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायीभावो रस: स्मृत: ।।

- काव्यप्रकाश, ४।२८, पृ० ९५

वासित करना भाव संज्ञा के मूल में है । लोक में रस या गन्ध के द्वारा कोई वस्तु वासित भावित की जाती है । इसी प्रकार अनुकार्य राम इत्यादि के सुखदुखात्मक भावों से सहृदयों के चित्त को भावित करना भाव कहलाता है । भाव दो प्रकार के होते हैं -- अस्थायीभाव और स्थायीभाव ।

विभाव :-

रसोपकरणों में सर्वप्रथम विभाव आता है । विभाव शब्द का सामान्य अर्थ है विभावित करने या प्रतीतिगोचर बनाने वाला तत्व । कवि जिस माध्यम से विभिन्न भावों को प्रतीतिगोचर बनाता है वे तत्व विभाव की संज्ञा से अभिहित होते हैं । विद्यानाथ के अनुसार जो रस की उत्पत्ति में कारण है वह विभाव है[1] । विद्यानाथ ने मम्मट का अनुसरण करते हुए कहा है कि लोक में जो रत्यादि के कारण, कार्य और सहकारी कहे जाते हैं वही नाट्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं[2] । इस प्रकार विभाव को रसोत्पादन का कारण माना है । आचार्य भरत ने भी कहा है वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु, कारण अथवा निमित्त को विभाव कहते हैं[3] । विभाव दो प्रकार के होते हैं -- आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव ।

१- विभावः कथ्यते तत्र रसोत्पादनकारणम् ।

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० २६१

२- कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।

- काव्यप्रकाश, ४।२७,२८, पृ० ६५

३- विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्वाभिनया इति विभावः ।
यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम् ।।

- नाट्यशास्त्र, सप्तमोऽध्यायः, पृ० ८०

रसों के समवायीकारण नायक एवं नायिका आलम्बन विभाव हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्रादि उद्दीपन विभाव हैं। शृङ्गारतिलक के आधार पर विद्यानाथ ने उद्दीपन विभाव के चार प्रकार बताये हैं -- गुण, चेष्टा, अलङ्कार और तटस्थ। अर्थात् आलम्बन के गुण, उसकी चेष्टा, उसके अलंकार तथा तटस्थ ये चारों क्रम से उद्दीपन विभाव हैं। इनमें आलम्बन के रूप और यौवन आदि गुण हैं। यौवन से उत्पन्न होने वाले हावभावादि चेष्टाएं हैं। नूपुर अंगद हार आदि अलङ्कार हैं। मलय समीर, चन्द्र, उद्यान, एकान्त स्थान आदि तटस्थ हैं[1]।

अनुभाव -

शरीर से उत्पन्न होने वाले कटाक्ष भुजक्षेप आदि कार्य अनुभाव होते हैं[2]। अर्थात् स्थायी एवं संचारी भावों के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक एवं मानसिक विकार दृष्टिगत होते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। 'अनुभावयन्तीति अनुभावः।' धनञ्जय अनुभावों को विकार रूप तथा भावों का सूचक मानते हैं[3]। सामाजिकों को स्थायी भाव का अनुभव कराने तथा रस को पुष्ट करने वाले भ्रूक्षेप सहित कटाक्ष आदि अनुभाव हैं। क्योंकि ये अभिनय तथा काव्य में अनुभूति करने वाले रसिकों को साक्षात् अनुभव के कर्म के रूप में अनुभूत होते हैं

१- आलम्बनोद्दीपनात्मा स द्विधा परिकीर्त्यते ।।
रससमवायिकारणमालम्बनविभावः। इतरत्कारणजातमुद्दीपन विभावः। स चतुर्विधः। तथा चोक्तं शृङ्गारतिलके -- आलम्बनगुणश्चैव - - - परिकीर्तिताः ।।

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० २६१-६२

२- कार्यभूतोऽनुभावः स्यात् कटाक्षादिः शरीरजः।

- प्रताप०, रस० प्र०, पृ० २६२

३- अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।

- दशरूपक ४।३, पृ० २६१

ऐसा धनिक ने कहा है[1]। कुमारस्वामी ने विद्यानाथ द्वारा दी गयी अनुभाव की परिभाषा की व्याख्या इस प्रकार की है - अनु अर्थात् उत्तरकाल में होने वाला भाव अनुभाव कहलाता है। प्रश्न उठता है कि किसके उत्तर काल में ये भाव होते हैं तो उत्तर देते हैं - उक्त चतुर्विध काव्यों में नायक-नायिका की क्रियाओं का वर्णन एवं चित्रण रहता है उन क्रियाओं के देखने सुनने से हुए अनुभव के बाद भावुक के हृदय में जो उनका जागरण होता है उन्हीं के पीछे होने वाले भावों को अनुभाव कहते हैं[2]।

सात्त्विकभाव -

`सत्व` मन की एक अवस्था है। इस अवस्था में मन दूसरे के सुखदु:ख में तद्रूप (तन्मय) हो जाया करता है[3]। यही उसके सुख दु:ख से भावित होना है। इस `सत्व` के आधार पर ही अभिनेता अनुकार्य के सुख-दुख की भावना में अपने अन्त:करण को तन्मय कर लेता है। यह सुख-दुख की भावना सत्व जन्य होती है। अत: उसके ये आरोपित सुख-दुख ही सात्त्विक होते हैं।

१- स्थायिभावाननुभावयन्त: सामाजिकान् भ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावा:। एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभूयन्ते इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकैश्च व्यपदिश्यन्ते।

- दशरूपक, चतुर्थप्रकाश, पृ० २६१

२- ननु कार्यत्वं नाम नियतोत्तरकालभावित्वम् - - - सहृदयहृदयस्थितं रत्यादिभावमनुभावयति सोऽनुभाव इत्युच्यत इत्यर्थ:।

- प्रताप०, रत्नापण, पृ० २६२

३- पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विका: - सत्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।

-दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, पृ० २६४

इनके द्वारा ही नट अश्रु, रोमाञ्च आदि को प्रकट करता है । अत: उसके अश्रु रोमाञ्च इत्यादि सात्त्विक भावों से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक भाव कहलाते हैं । सात्त्विक भावों की संख्या आठ है -- स्तम्भ , प्रलय, रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा वैस्वर्य[१] । ये शुद्ध सत्व से उत्पन्न होने के कारण व्यभिचारी भावों के बहुत निकट पड़ते हैं । भाव प्रसूत होने और भाव की सूचना देने के कारण सात्त्विक भाव अनुभाव के भी निकट पहुंच जाते हैं । आचार्य भरत ने अनुभाव तीन प्रकार के माने हैं -- वाचिक, आंगिक और सात्त्विक । सात्त्विक अनुभावों का यह नाम इसलिए है कि 'इनका अभिनय विशेष मनोयोग से ही सम्भव है और चित्त-विक्षेप के साथ कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता[२] ।'

व्यभिचारी भाव -

व्यभिचारी भाव को अस्थायी भाव भी कहते हैं । धनञ्जय ने व्यभिचारी भावों की परिभाषा इस प्रकार दी है कि, 'जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिये तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भाव के अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दृष्टिगत होते हैं, वे संचारी भाव या

१- परगतदुखादिभावनाभावितान्त:करणत्वं सत्वम् । ततो भवा: सात्त्विका: ।
स्तम्भ: प्रलयरोमाञ्चौ स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ।
अश्रु वैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विका परिकीर्तिता: ।।

- प्रताप०, रस० प्र०, पृ० २६३

२- स्तम्भ: स्वेदोऽथ रोमाञ्च: स्वरसादोऽथ वेपथु: ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका: स्मृता: ।।
आंगिको वाचिकश्चैव आहार्य: सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रया ।।

- नाट्यशास्त्र, ६।२२, २३ , पृ० ७०

व्यभिचारी भाव कहलाते हैं[1]। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती गिरती रहती हैं उसी प्रकार विशाल स्थायी भाव में जो उठगिरकर उसे पुष्ट करते हैं वे अस्थायी भाव ही व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। जैसे रति एक व्यापक स्थायी भाव है उसमें कभी लज्जा, कभी उत्साह, कभी हर्ष, कभी विषाद, कभी शंका कभी ईर्ष्या आदि छोटे-छोटे भाव उठते गिरते रहते हैं। अतः ये भाव व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। ये व्यभिचारी भाव रसों के सहकारी हैं। भरतमुनि ने व्यभिचारी का अर्थ, रस के सम्बन्ध में जो अन्य वस्तुओं की ओर संचरण करे, किया है। अर्थात् जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद योग्य बनाते हैं उनको व्यभिचारी भाव कहते हैं[2]। भरतमुनि ने सप्तम अध्याय में व्यभिचारी भाव शब्द की निरुक्ति की है।

व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस है --

'निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्ति, विबोध[3], अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क। ये तैंतीस व्यभिचारी

१- विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।।

- दशरूपक ४।७, पृ० २६७

२- विविधम् अभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। कथं नयन्तीति। उच्यते-यथा सूर्य इदं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत्, यथेदं सूर्यो नक्षत्रमुं दिनं नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्याः। तानिह संग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्याम्।

- नाट्यशास्त्र, सप्तमोऽध्यायः, पृ० ८४

३- निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः - - - -त्रयस्त्रिंशदमी भावा रसस्य सहकारिणः ।।

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० २६४-६५

भाव सब रसों में मिलकर होते हैं। एक भाव अनेक स्थायी भावों के अन्तर्गत आ सकता है। भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल रहने वाले व्यभिचारियों की अनुकूलता का वर्णन विद्यानाथ ने शृङ्गारतिलक के आधार पर किया है यथा - शङ्का, असूया, भय, ग्लानि, व्याधि, चिन्ता, स्मृति, धृति, औत्सुक्य, विस्मय, आवेग, व्रीडा, उन्माद, मद, विषाद, जड़ता, निद्रा, अवहित्था, चापल्य और धृति इन व्यभिचारी भावों का शृङ्गार रस में प्रयोग करना चाहिए। श्रम, चपलता, निद्रा, स्वप्न, ग्लानि, शंका, असूया और अवहित्था ये भाव हास्य में होते हैं। संत्रास, मरण, दैन्य एवं ग्लानि ये भाव भयानक में प्रयुक्त होते हैं। अपस्मार, विषाद, भय, रोग, मृति, मद एवं उन्माद इन भावों को वीभत्स में होना चाहिए। आवेग, जड़ता, मोह, हर्ष, विस्मय एवं स्मृति इन भावों को रसज्ञ लोग अद्भुत रस में समझें। दैन्य, चिन्ता, ग्लानि, निर्वेद, जड़ता, स्मृति तथा व्याधि इन भावों को करुण में। हर्ष, असूया, गर्व, उत्साह, मद, चापल्य एवं उग्रता भाव रौद्र में। अमर्ष, प्रतिबोध, वितर्क, मति, धृति, क्रोध, असूया, सम्मोह, आवेग, हर्ष, गर्व, मद तथा उग्रत्व ये भाव वीर रस में होते हैं।[1]

व्यभिचारी भावों की चार प्रकार की स्थिति होती है। कभी इनका उदय होता है, कभी ये शान्त होते हैं, कभी परस्पर विरोधी रसों के आश्रयण में इनमें स्पर्धा से सम्बन्ध होता है और कभी परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक भाव के होने से बहुतों का इनमें समावेश होता है। यहां पर विद्यानाथ ने एक श्लोक का उदाहरण दिया है जिसे दशरूपक का कहा है किन्तु वस्तुतः वह काव्य प्रकाश का है। जिसके अनुसार भाव की शान्ति, उदय, सन्धि एवं शबलता होती

१- व्यभिचारिभावानां तत्तद्रसानुगुण्यमेवं प्रतिपादितं शृङ्गारतिलके तथा हि --

शङ्कासूया भयं - - - - - भावा वीरे भवन्त्यमी। इति।

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० ३३०-३२

है । विद्यानाथ ने भावोदय, शान्ति, सन्धि और शबलता के जो उदाहरण दिये हैं वे भी मम्मट के उद्धरणों के आधार पर हैं । जहां पहले से वर्तमान किसी भाव की शान्ति चमत्कारपूर्ण हो जाये वहां भावशान्ति मानी जाती है, जहां एक भाव के शान्त होते ही किसी दूसरे भाव का उदय हो वहां भावोदय होता है । जहां दो भावों का एक साथ उदय दिखाया जाये वहां भाव सन्धि होती है । जहां एक ही क्रम से दो से अधिक भावों का उदय वर्णित हो वहां भावशबलता मानी जाती है[1] ।

स्थायीभाव -

आचार्य भरत ने रसोपादानों में स्थायी भाव का पृथक् उल्लेख नहीं किया है । इसका कारण कतिपय आचार्यों के मत में यह है कि स्थायी भाव अनुभावों और संचारियों में वासनारूप में सन्निहित रहता है । अत: उसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं है । किन्तु, विद्यानाथ ने दशरूपककार और आचार्य मम्मट का अनुसरण करते हुए रस की परिभाषा में स्पष्ट रूप से स्थायी भाव का उल्लेख किया है और उसे ही प्रधान रखा है । व्यभिचारी भाव यदि समुद्र में उठने गिरने वाली लहरों के समान हैं तो स्थायीभाव उस महासागर के समान है जिसमें वे लहरें उठती गिरती रहती हैं । प्राय: किसी विशिष्ट भाव के आ जाने पर दूसरा भाव दब जाता है । किन्तु, स्थायी भाव न तो विरोधी भावों से दबता है और न अविरोधी भावों से । यथा प्रेम में लज्जा भाव उत्साह से दब जाता है, हर्ष ईर्ष्या से दब जाता है किन्तु इन सब अवस्थाओं में प्रेम की

१- व्यभिचारिभावानामुदयेन, प्रशाम्यदवस्थया, परस्परविरुद्धरसाश्रितयोर्भावयो: स्पर्धया सम्बन्धेन, अन्योन्योपमर्दकतया बहूनां समावेशेन च चातुर्विध्यम् । तथा चोक्तं दशरूपके --

'भावस्य शान्तिरुदय: सन्धि: शबलता तथा' इति ।

- प्रतापरुद्र०, रस० प्र०, पृ० २६७-६८

प्रतीति होती है । इसी प्रकार स्थायी भाव न तो सजातीय भाव से दबता है और न विजातीय भाव से । जब तक रस का अनुभव हो रहा है तब तक स्थायी भाव रहता है[1] । भरतमुनि के अनुसार ये स्थायी भाव ही विभाव, अनुभावों के संयोग से काव्य या नाट्य में रस की निष्पत्ति करते हैं । क्योंकि इनमें `सामान्यत्व' का गुण रहता है[2] । वस्तुत: स्थायी भाव ही रस के उपादान कारण हैं । नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में भरतमुनि ने कहा है जिस प्रकार अनेक परिजनों, परिवारकों द्वारा घिरे रहने पर भी राजा, राजा ही कहलाता है, उसी प्रकार विभावों, अनुभावों एवं संचारियों से संयुक्त होने पर भी, स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं । स्थायी भाव ही उचित परिस्थितियों में रसरूप में परिणत होते हैं । जब अतिशयतापूर्वक उनका उद्रेक सामाजिक के अन्त:करण में हो जाता है जिसकी चर्वणा में वह निमग्न हो उठता है तब स्थायी भाव रस कहलाने लगते हैं[3] । ये भाव स्थायी इसलिए कहलाते हैं क्योंकि ये स्थितिशील होते हैं[4] । साथ ही ये प्रधान भी होते हैं[5] । इस प्रकार आचार्य भरत के मत में

१- भावस्य स्थायित्वं नाम सजातीयविजातीयानभिभूततया यावदनुभवमव-
स्थानम् । तथा चोक्तं दशरूपके --
`सजातीयैर्विजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्तमान: स्थायीभाव उदाहृतम् ।।`

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० २५९-६०

२- एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते । - - - यदान्योन्यार्थ-
संश्रितैर्विभावानुभावव्यभिचारीकोनपञ्चाशत् भावै: सामान्यगुणयोगेनाभि-
निष्पद्यन्ते रसा:_ _ ।

- नाट्यशास्त्र, सप्तमोऽध्याय:, पृ० ८०

३- - - - - तथा नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान्
स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: ।

-नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय:, पृ० ७१

४- स्थायी यस्माद् व्यवस्थित: । - नाट्यशास्त्र, ७।१२१, पृ० ९८

५- बहवाश्रयत्वात् स्वामिभूताश्च स्थायिनो भावा: ।

- नाट्यशास्त्र, सप्तमोऽध्याय:,पृ० ८१

इनकी दो विशेषताएं हैं -- (१) स्थितिशीलता, (२) प्रधानता । दशरूपक में इन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि स्थायी भाव वह है जो प्रतिकूल या अनुकूल भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता है[१]। जिस प्रकार लवणाकर में जो भी वस्तु गिर जाती है वही तद्रूप हो जाती है । इसी प्रकार सभी व्यभिचारी भाव आदि स्थायीभाव के रूप में ही घुल मिल जाते हैं । स्थायी भावों की संख्या विद्यानाथ ने ६ मानी है -- रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम[२]। आचार्य भरत ने शम[३] को स्थायी भावों के अन्तर्गत नहीं माना है उन्होंने आठ स्थायी भाव ही माने हैं ।

रस विशेष -

आचार्य भरत ने रूपकों के आठ रसों का उल्लेख किया है[४]। छठीं एवं सातवीं शताब्दी तक केवल आठ रसों की ही चर्चा होती रही । वामन ने कान्ति नामक गुण के नाम से काव्य में रस की महत्ता स्वीकार की है[५]।

१- विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।।
- दशरूपक, ४।३४, पृ० ३०१

२- एषां स्थायिभावाः ।
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावा नव क्रमात् ।।
- प्रताप०, रस प्र०, पृ० २६१

३- रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।।
- नाट्यशास्त्र, ६।१७, पृ० ६६

४- शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।
- नाट्यशास्त्र ६।१५, पृ० ६६

५- दीप्तरसत्वं कान्तिः ।
- का० सू० वृ० ३।२।१५, पृ० १५७

उद्भट ने `समाहित` नामक रसालंकार की नवीन उद्भावना की तथा यह भी दिखलाया कि नाटक में शान्त रस भी होता है[1]। रुद्रभट्ट ने शृङ्गारतिलक में नव रसों का विशद विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र में पाठान्तर के अनुसार शान्त रस का भी वर्णन है[2]। अभिनवगुप्त ने इस पाठान्तर को प्रामाणिक माना है और विस्तारपूर्वक शान्त रस का विवेचन कर नव रस माने हैं। इस पाठान्तर के अनुसार शान्तरस से ही रति आदि आठ स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है और उनका विलय भी शान्त में ही होता है। मोक्ष और आध्यात्म की भावना से जिस रस की उत्पत्ति होती है उसको शान्त रस नाम दिया जा सकता है[3]। अभिनवगुप्त ने शान्तरस को स्वीकार करते हुए कहा जिस प्रकार `काम` रति आदि से अभिहित होकर कवि और नट द्वारा रस स्वरूप में आस्वाद्य होकर प्रकट होता है उसी प्रकार `मोक्ष` नामक पुरुषार्थ अपनी योग्य विशेष चित्तवृत्ति के योग से रस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। शान्तरस यही है। अभिनवगुप्त ने जब शान्तरस का पूर्ण प्रतिपादन कर दिया तो उनके बाद आने वाली परम्परा में प्राय: शान्त के रसत्व को स्वीकार कर लिया गया।

१- शृङ्गारहास्य-करुणारौद्र वीर-भयानका: ।
बीभत्साद्भुत-शान्तश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता: ।।
- का० सा० सं०, ४।४, पृ० ३५४

२- स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भाव: प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।।
- अभिनवभारती, षष्ठोऽध्याय:, पृ० ६१०

३- मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्त: ।
नै:श्रेयसोपदिष्ट: शान्तरसो नाम सम्भवति ।।
- अभिनवभारती, षष्ठोऽध्याय:, पृ० ६०६

आचार्य मम्मट ने भी शान्त रस को मानकर नव रस माने हैं[1]। विद्यानाथ ने आचार्य अभिनवगुप्त, मम्मट आदि की ही परम्परा को आगे बढ़ाते हुए नव रस स्वीकार किये हैं[2]। इन रसों को आचार्य भरत ने इसी क्रम में रखा है, उसका विशेष प्रयोजन है। कुमारस्वामी ने इस विशेष क्रम की व्याख्या अभिनवभारती के आधार पर इस प्रकार की है -

सभी प्राणियों में सुलभ काम या रति सबके हृदय को आकर्षित करता है अत: शृङ्गार को प्रथम स्थान पर रखा गया है। हास्य शृङ्गार का अनुगामी है इसलिये शृङ्गार के बाद हास्य रस को स्थान दिया है। हास्य से विपरीत स्थिति करुण की है। करुणरस का सम्बन्ध रौद्र रस से होता है इसलिये करुण रस का निमित्त होने के कारण करुण के बाद उससे सम्बद्ध रौद्र रस को स्थान दिया गया है। यह रौद्र रस अर्थ प्रधान होता है। काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से रौद्र रस के बाद वीर रस रखा गया है। वीर रस धर्मप्रधान होता है। वीररस का मुख्य कार्य भयभीतों को अभय प्रदान करना है इसलिए वीर के पश्चात् भयानक रस को स्थान दिया गया है। भयानक के बाद बीभत्स रस को रखा गया है क्योंकि वीर रस के प्रभाव से ही बीभत्स दृश्य उत्पन्न होते हैं। वीर रस से आक्षिप्त भयानकादि के अनन्तर वीर रस फलभूत अद्भुत रस को स्थान दिया गया है। इसके बाद धर्म अर्थ काम रूप

१- निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस:।

- काव्यप्रकाश, ४। सू० ४७, पृ० १३८

२- शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानका:।

बीभत्साद्भुतशान्तश्च रसा: पूर्वैरुदाहृता:।।

- प्रताप०, रस० प्र०, पृ० २६०

त्रिवर्ग के साधनभूत मोक्षफलवाला शान्त रस आता है[1]।

रस संकर -

लगभग सभी आचार्यों का यह मत रहा है कि सभी रसों का निरूपण एक स्थान पर हो ताकि एक का दूसरे से सम्बन्ध स्पष्ट किया जा सके। भरत ने तो मूलत: चार रस मानकर उन्हीं से अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स रसों से क्रमश: हास्य, करुण, अद्भुत एवं भयानक रसों की उत्पत्ति होती है। अत: ये रस परस्पर मैत्री भाव रखते हैं। विद्यानाथ ने शृङ्गारतिलक का अनुसरण करते हुए कहा रस से रसान्तर की उत्पत्ति होती है। अत: ये जैसा कि शृङ्गारतिलक में कहा गया है -- शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत तथा वीभत्स से भयानक रस होता है। रसों में मैत्री के अतिरिक्त विरोधी भाव भी होता है। विद्यानाथ के अनुसार रस एवं भावों का परस्पर विरोध होने पर कवि प्रौढोक्ति के द्वारा एकत्र समावेश करना विरुद्ध नहीं है। विरोध का भी एक क्रम है जिसका प्रतिपादन शृङ्गारतिलक में इस प्रकार किया गया है -- शृङ्गार-वीभत्स, वीर और भयानक, रौद्र

१- अत्र चतुर्वर्गमध्ये सर्वप्राणिसुलभस्य कामस्य सर्वहृदयंगमत्वात् प्रथमं शृङ्गार:। ततस्तज्जन्यत्वेन हास्य:। तत: तद्विरोधित्वात् करुण:। ततस्तन्निमित्तभूतोऽर्थप्रधानो रौद्र:। ततोऽर्थकामयोर्धर्ममूलत्वात् धर्मप्रधानो वीर:। तस्य भीताभयप्रदानसारत्वात्तदनन्तरं भयानक:। ततस्तत्कारणभूतो वीभत्स:। वीरादिप्तभयानकाद्यनन्तरं वीररसफलभूतोऽद्भुत:। त्रिवर्गफलकरसान्तरं मोक्षफलक: शान्तरस इत्येवमुद्देशक्रमोपपत्ति:।

- प्रताप०, रत्नापण, पृ० २६१

और अद्भुत, तथा हास्य एवं करुण रस परस्पर वैरी हैं।[१] विद्यानाथ ने शृङ्गार-करुण तथा रौद्र बीभत्स रस संकर के दो उदाहरण दिये हैं। इसकी व्याख्या करते हुए कुमारस्वामी का कथन है कि इन दोनों उदाहरणों में करुण और रौद्र की विश्रान्तिमयी स्थिति होने से चर्वणा में प्राथमिकता है। अत: ये प्रधान होने से अङ्गी हैं और शृङ्गार एवं बीभत्स उनके उपस्कारक होने से अंग हैं। इस तरह सभी रसों का परस्पर मेल होता है। किन्तु, जिसकी प्राथमिकता होती है वह रस प्रधान माना जाता है। अत: इसका यह अर्थ नहीं है कि जो प्रधान होगा वह तो रस कहलाएगा और जो उपस्कारक होगा वह रस नहीं कहलाएगा। क्योंकि ऐसा कहने पर 'रसों का संकर' कहना सम्भव न होगा। अत: दोनों रस हैं उपस्कार्योपस्कारक भाव होने से अङ्गाङ्गि भाव कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि प्राथमिकता से एक रस कहलाएगा और दूसरा उपस्कारकता से रस नहीं कहलायेगा तो रसों में परस्पर विरोध होता है यह कहना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि तुल्यबल वालों में विरोध होता है। एक रस है दूसरा रस नहीं है तब तुल्यबलवत्ता नहीं रहेगी। अत: रस दोनों हैं। अपनी-अपनी विभावादि सामग्री से वे परिपुष्ट होते हैं किन्तु चर्वणा में प्राथमिकता होती है। इसी से उपस्कार्य-उपस्कारक भाव या अंगाङ्गि भाव या विरोधाश्रयी

१- रसादीनां परस्परविरोधे पि कविप्रौढोक्तिसमाश्रयणेनैकत्र समावेशो न विरुद्ध:। विरोधक्रम: शृङ्गारतिलके कथित: --

'शृङ्गारबीभत्सरसौ तथा वीरभयानकौ।

रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथ:॥' इति।

- प्रताप० रस प्र०, पृ० ३३०

भाव माना जाता है[१]। विद्यानाथ का कथन है कि सभी रस अपने रूप में सम्पूर्ण हैं। वास्तव में जब एक रस सम्पूर्ण हो जाता है तो स्वतः दूसरे रस में विलीन हो जाता है। यद्यपि विद्यानाथ ने इस कथन को भरत का कहा है किन्तु वास्तव में यह वाक्य रसकलिका का है[२]। प्राचीन विद्वानों ने रस मैत्री और विरोध के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। आनन्दवर्धन ने रसविरोध के पांच कारण बताए हैं -- १- विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना, २- रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन, ३- असमय में

१- अत्रोदाहरणद्वये द्वयोः करुणरौद्रयोर्विश्रान्तिधामत्वेन वर्णनायां प्रथमभाविवात् प्राधान्येनाङ्गत्वम्। शृंगारबीभत्सयोस्तदुपस्कारत्वेनाङ्गत्वमिति विवेकः। अत एवोक्तं भावप्रकाशे -- 'रसाः कार्यवशात् सर्वे मिलन्त्येव परस्परम्। प्रथमं यो रसः स्यात्तः स प्रधानो भविष्यति॥' इति। नन्वयमङ्गभूतो रसः परिपोषमप्राप्तः प्राप्तो वा। नाद्यः रसत्वव्याघातात्। न द्वितीयः, उपस्कार्यत्वेनाङ्गत्वमङ्गात्। तस्मादयुक्ता रससंकरवार्तोयुक्तिरिति चेन्नैवम्।

- प्रताप०, रत्नापण, रस प्र०, पृ० ३२६

२- 'रसः सर्वोऽपि सम्पूर्णोऽस्त्वविरोधेन रसान्तरम्॥' इति भारतीयोक्तप्रक्रियया यद्यप्येक एव रसः, तथापि महाकविसिद्धया रससंकरः स्वीक्रियते॥

- प्रताप०, रस० प्र०, पृ० ३३२

रस की समाप्ति या अनवसर में प्रकाशन, ४- रसपूर्ण हो जाने पर भी पुन: पुन: उसका उद्दीपन, ५- व्यवहार का अनौचित्य[१]।

रसाभास -

कभी-कभी कवि ऐसे स्थान पर भी रस की अभिव्यंजना कर देते हैं जहां उनका अवसर नहीं होता। रस का अधिष्ठान तो स्त्रीपुरुष ही होते हैं। वृक्ष, लता, पशु-पक्षी आदि भाव का अधिष्ठान नहीं हो सकते। अत: ऐसे स्थानों पर रस न होकर रसाभास होता है। क्योंकि वहां पर रस की प्रतीति तो होती है वास्तविक रस नहीं होता। आचार्यों ने रसाभास का स्थान अनौचित्य प्रवृत्ति को बतलाया है। इसका कारण उसकी आभास रूपता ही है। रसाभास के विषय में विद्यानाथ ने एक श्लोक का उदाहरण दिया है। उनके अनुसार शृङ्गार, वीर, रौद्र एवं अद्भुत रसों का लोकोत्तर नायक के आश्रय में अतिशय परिपोष होता है। इसीलिए म्लेच्छादिगत शृङ्गार को रसाभास कहते हैं। जैसा कि कहा है, नायक एवं नायिकाओं में से किसी एक में ही यदि रति रहे दोनों में न रहे अथवा पशु-पक्षी एवं म्लेच्छादि में रहे अथवा नायिका की बहुतों में आसक्ति हो तो वहां रति का आभास कहलाता है[२]। यह श्लोक रुद्रभट्ट की

१- विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रह:।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ।।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौन:पुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ।।

- ध्वन्यालोक ३।१८-१९, पृ० ३६६

२- शृङ्गारवीररौद्राद्भुतानां लोकोत्तरनायकाश्रयत्वेन परिपोषातिशय:।
अतएव शृङ्गारस्य म्लेच्छादिविषयत्वे रसाभासत्वम् । तथा चोक्तम् --
एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा । योषितो -
बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मत: ।।' इति ।

- प्रताप, रस प्र०, पृ० २६६-६७

रसकलिका से उद्धृत है जिससे परिलक्षित होता है कि तीन स्थितियों में रस रसाभास हो जाता है । १- नायक एवं नायिका किसी एक में ही रति रहे दोनों में नहीं । २- पशु-पक्षी अथवा म्लेच्छादि में रति रहे । ३- नायिका की बहुतों में आसक्ति हो । टीकाकार कुमारस्वामी ने इस पर अधिक ध्यान दिया है और रसाभास के सिद्धान्त पर कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं । कुमार-स्वामी के अनुसार यद्यपि कुछ स्थलों में रस आभास के रूप में प्रतीत होता है, वहां यह समझना चाहिये कि यह काल्पनिक एवं आरोपित है । जैसा कि सीप में रजत दृष्टिगोचर हो । दूसरी बात यह कि यद्यपि यह माना जा सकता है कि जब एक स्त्री का अनेक पुरुषों से सम्बन्ध हो वहां रसाभास परिलक्षित होता है । कुछ आलोचक रसाभास को उस स्थल पर भी मानेंगे जहां एक पुरुष अनेक स्त्रियों से सम्बद्ध हो । किन्तु ऐसा करने पर नाटक की व्यवस्था का मूल, विशेषतया दक्षिण नायक के सम्बन्ध में अवधारणा नष्ट हो जायेगी । इस बारे में कुमारस्वामी का स्पष्टीकरण ध्यान देने योग्य है । जैसा कि दक्षिण नायक के सम्बन्ध में नाटक, नाटिकाओं और प्रकरणों में भी दिखाया गया है । प्रमुख नायिका में प्रमुखता से रति दिखाई जाती है और पूर्व पत्नियों में यह उत्तरोत्तर घटता दिखाया गया है । यहां पर सम अनुराग की सामान्य आवश्यकता का निर्वाह नहीं किया गया है । ऐसे स्थलों में ज्येष्ठ रानी आदि के सम्बन्ध में शृङ्गार केवल रसाभास के रूप में है इसे नकारा नहीं जा सकता । हां उनके प्रति आरोपितत्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता[१] । आचार्य मम्मट के अनुसार रस का अनुचित रूप से वर्णन रसाभास कहलाता है[२] । यह अनौचित्य अनेक प्रकार का

१- अत्र एकस्यवधारणेनान्यत्रानुरागात्यन्ताभाव: - - - एकस्यत्वं प्रपञ्चेन ।

- प्रताप०, रस प्रकरण, रत्नापण, पृ० २६७

२- तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता: ।

- काव्यप्रकाश, ४ । सू० ४९, पृ० १४९

हो सकता है । जैसे एक स्त्री का अनेक पुरुषों से रति वर्णन किया जाये तो वह अनुचित होने से रसाभास कहलायेगा । इसी प्रकार गुरु आदि को आलम्बन बनाकर हास्य रस का प्रयोग अथवा वीतराग को आलम्बन बनाकर करुणा आदि का प्रयोग रसाभास के अन्तर्गत आता है ।

श्रृङ्गारचेष्टा -

श्रृङ्गार चेष्टाओं को प्राचीन ग्रन्थकारों ने नायिका के अलङ्कार कहा है । नायक-नायिका द्वारा प्रेमोच्छ्वास में जो विभिन्न स्वाभाविक शारीरिक चेष्टाएं की जाती हैं उन्हें सम्मिलित किया गया है । इनका वर्णन नायिका भेद के प्रसंग में किया गया है । जिस प्रकार केयूरादि आभूषण शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं उसी प्रकार शरीर में प्रकट होने वाले कुछ विकार हैं जो शरीर की शोभा बढ़ाते हैं अत: उन्हें अलंकार भी कहते हैं । दशरूपक में ये स्त्रियों के सात्विक अलंकार कहे गये हैं । ये अलंकार तीन प्रकार के होते हैं -- शरीरज, अयत्नज, स्वभावज । इनकी संख्या बीस बताई गयी है[1] । विद्यानाथ ने इन्हें अलङ्कार न कहकर श्रृङ्गार चेष्टा कहा है । इन्हें नायिका भेद के प्रसंग में न वर्णित कर रसप्रकरण में इनका उल्लेख किया है । विद्यानाथ ने बीस के स्थान पर अठारह श्रृङ्गार चेष्टाओं का ही वर्णन किया है । इन श्रृङ्गार चेष्टाओं को रसकलिका से लिया गया है तथा अपनी ओर से परिभाषित किया है । किन्तु न ही रसकलिका में यह स्पष्ट हुआ है और न विद्यानाथ ने ही स्पष्ट किया है कि इनमें कौन अंगज, अयत्नज और स्वभावज हैं । या कौन पुरुषोचित हैं और कौन स्त्रियोचित हैं । विद्यानाथ ने शोभा, कान्ति, दीप्ति, प्रगल्भता और औदार्य ये पांच प्राचीन

१- यौवने सत्वजा: स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशति: । - - - - त्रयस्तत्र शरीरजा: ।। - - - सप्त भावा अयत्नजा ।। - - - दश भावा: स्वभावजा: ।।

- दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, पृ० १६२-६३

विचारम्भस् हैं उन्हें छोड़ दिया है। और उनके स्थान पर तीन नई चेष्टाओं कुतूहल, चकित और हास को सम्मिलित किया है। विद्यानाथ ने भाव, हाव, हेला, माधुर्य, धैर्य, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, कुतूहल, चकित, विहृत और हास इन अट्ठारह शृङ्गारचेष्टाओं का वर्णन किया है[1]। इनका स्वरूप इस प्रकार है --
१- भाव-रस जानने की योग्यता, २- हाव- कुछ विकार दिखाई पड़ने पर भाव ही हाव कहलाता है, ३- हेला- विकार सुव्यक्त हो जाना, ४- माधुर्य - आभूषणों के बिना भी रमणीयता, ५- धैर्य- शील आदि के कारण मर्यादा का उल्लंघन न करना, ६- लीला - वाणी, गति एवं चेष्टाओं से प्रिय का अनुकरण, ७- विलास- दयित के देखने पर तात्कालिक विकार, ८- विच्छित्ति - थोड़े से विभूषण में अतिरमणीयता, ९- विभ्रम- भूषणों के स्थान में विपर्यय, १०- किलकिञ्चित - रोष, अश्रु, हर्ष एवं भय का सांकर्य, ११- मोट्टायित- इष्ट विषयक बातचीत में अपने भाव को सूचित करना, १२- कुट्टमित - रतिकाल में सम्मर्द होने पर भी अधिक सुख प्रकट करना, १३- विब्बोक - गर्व के कारण प्रिय सम्बन्धी बातों का भी थोड़ा अनादर करना, १४- ललित- सुकुमारतापूर्वक अंग विन्यास, १५- कुतूहल - रमणीय वस्तु को जानने की चपलता, १६- चकित - भयजन्य संभ्रम, १७- विहृत - लज्जा के कारण समय पर न बोल पाना, १८- हसित या हास - बेमतलब की हंसी[2]।

१- भावो हावश्च हेला च माधुर्यं धैर्यमित्यपि।
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्॥
मोट्टायितं विब्बोको ललितं तथा।
कुतूहलं च चकितं विहृतं हास इत्यपि॥
एवं शृङ्गारचेष्टाः स्युरष्टादशविधा मताः॥
- प्रताप० रस प्रकरण, पृ० ३००

२- प्रताप० रस प्रकरण, पृ० ३०१-६

मन्मथावस्था -

विद्यानाथ ने शृङ्गार की बारह अवस्थाओं का निरूपण किया[1] है जोकि शृङ्गार के अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होने में हेतु हैं[2]। सामान्यतया इन अवस्थाओं (मन्मथावस्था) की संख्या दस मानी गयी है। किन्तु विद्यानाथ ने इनकी संख्या बारह रखी है। यथा -- चक्षु:प्रीति, मन:-सङ्ग, सङ्कल्प, प्रलाप[3], जागरण, कृशता, अरति, लज्जा-त्याग, संज्वर, उन्माद, मूर्च्छा, मरण। अर्थात् प्रथम दृष्टि से मृत्युपर्यन्त काम की अवस्थाओं को बताया है। इन बारह मन्मथावस्थाओं में से कुछ रसकलिका से ली गयी हैं। भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में इन अवस्थाओं की संख्या बारह गिनाई है। विद्यानाथ ने इन बारह मन्मथावस्थाओं का स्वरूप इस प्रकार बताया है --

१- चक्षु:प्रीति - प्रिय पात्र को देखना, २- मन:सङ्ग - प्रिय में मन की विश्रान्ति होना, ३- संकल्प - स्वामी के विषय में कामना, ४- प्रलाप - प्रिय सम्बन्धी गुणों के विषय में आलाप, ५- जागरण- निद्रा रहित होना,

---

१- अथशृङ्गारस्याङ्कुरितत्वपल्लवितत्वकुसुमितत्वफलितत्वहेतवो द्वादशावस्था निरूप्यन्ते।

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० ३१०

२- केचित्तु दशावस्था इति कथयन्ति।

- प्रताप०, रस० प्र०, पृ० ३१०

३- चक्षु:प्रीतिर्मन:सङ्ग: संकल्पोऽथ प्रलापिता।
जागर: कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ संज्वर:॥
उन्मादो मूर्च्छनं चैव मरणं चरमं विदु:।
अवस्था द्वादश मता: कामशास्त्रानुसारत:॥

- प्रताप०, रस प्र०, पृ० ३१०

६- कार्श्य - अंगों की तनुता, ७- अरति - अन्य किसी में भी प्रीति का न होना, ८- लज्जा-त्याग - स्त्री सुलभ लज्जा का त्याग, ९- ज्वर - ताप का आधिक्य, १०- मूर्च्छा - बहिरेन्द्रियों के व्यापारशून्य होने से मानसिक वृत्ति का अभाव, ११- उन्माद - चेतन-अचेतन में समान आचरण, १२- मरण - मरने के लिये प्रयत्न करना।[1]

-o-

१- प्रताप० रस प्रकरण, पृ० ३१०-१६

पञ्चम अध्याय

-00-

गुण विवेचन

गुण

जिन काव्य तत्वों के आधार पर काव्य की रमणीयता में वृद्धि आ जाती है उसे प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने गुण तथा अलङ्कार कहा है। सर्वप्रथम भरत ने दस काव्यगुणों का उल्लेख किया है। दस काव्य दोषों के वर्णन के बाद भरत ने उनके विपर्यय को काव्यगुण कहा है[१]। भरत दोष के अभाव को गुण मानते हैं। यद्यपि गुणों की परिभाषा में कहीं भी दोषाभाव का उल्लेख नहीं किया है। भरत के द्वारा गुणों को दोषाभाव कहे जाने का कारण ढूंढते हुए डा० एस० के० डे ने जैकोली का मत उद्धृत कर यह प्रतिपादित किया है कि गुण की अपेक्षा दोष जनसामान्य की समझ में शीघ्र आ जाते हैं। भरत ने दस गुण इस प्रकार बताए हैं -- श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार और कान्ति[२]। भरत ने गुणों का शब्दगत एवं अर्थगत भेद नहीं किया है, किन्तु उनकी गुण परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि कुछ गुण शब्दगत हैं और कुछ अर्थगत।

काव्यगुणों के सम्बन्ध में भामह की उद्भावना सर्वथा मौलिक है। उन्होंने भरत के दस गुणों को स्वीकार नहीं किया है। जिन तीन गुणों का उल्लेख भामह ने किया है उनके नाम भरत के दस गुणों से अवश्य गृहीत हैं, किन्तु उनके स्वरूप का निर्धारण स्वतन्त्र रूप से किया गया है। काव्यालंकार में माधुर्य,

---

१- एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ।।

-नाट्यशास्त्र १७ । ९५, पृ० २११

२- श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्चकाव्यस्य गुणा दशैते ।।

- नाट्यशास्त्र १७ ।९५, पृ० ३००

ओज और प्रसाद तीन काव्यगुणों का उल्लेख है । भामह ने इन तीनों को कहीं भी गुण नहीं कहा । इनका आधार पदों के समास को माना है । इस प्रकार इन तीनों गुणों को संघटनाश्रित माना । सर्वप्रथम भामह ने ही काव्य दोषों का स्थिति विशेष में शोभाधायक बन जाने का संकेत किया । वस्तुत: दोष गुणों की चर्चा का श्रीगणेश यहीं से हुआ ।

दण्डी ने भरत सम्मत गुणों की संख्या का ही अनुसरण किया । और उनका नामकरण भी स्वीकार किया । उनके अधिकांश गुणों के लक्षण भी भरत के गुण लक्षण से मिलते हैं । इतना होने पर भी उनके गुणों में मौलिकता का अभाव नहीं है । आचार्य दण्डी ने विदर्भ एवं गौड प्रदेशों की काव्यशैलियों के वैशिष्ट्य प्रदर्शन क्रम में दस गुणों का उल्लेख किया है और उन्हें वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है[१] ।

वामन ने भरतमुनि के दोषाभाव रूप गुणों के सिद्धान्त के विपरीत गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की और दोषों को गुणाभाव-स्वरूप माना[२] । उन्होंने काव्य गुणों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया । गुण को उत्कृष्ट काव्य का आवश्यक धर्म माना[३] । भरत और दण्डी के दस गुणों को स्वीकार करने पर भी वामन ने गुणों की संख्या बीस कर दी । दस गुण शब्दगत और दस गुण अर्थगत ।

१- श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्तिसमाधय: ।।
इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणा दश गुणा: स्मृता: ।
- काव्यादर्श, १।४१, ४२, पृ० २४

२- गुण विपर्ययात्मनो दोषा: । अर्थतस्तदवगम: ।
- का० सू० वृ० २।१।१,२ पृ० ६८-६९

३- काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा: ।
- का० सू० वृ० ३।१।१, पृ० ११३

आनन्दवर्धन ने पहले से चले आ रहे गुण के शब्दार्थाश्रयत्व और संघटनाश्रयत्व सिद्धान्त को अस्वीकार कर गुणों को काव्य के अङ्गीभूत रस, भावादि पर आश्रित माना[1]। गुण वस्तुत: रस के धर्म हैं। कभी-कभी उन्हें उपचार से रस के व्यञ्जक शब्द और अर्थ के धर्म भी कह दिया जाता है। आनन्दवर्धन ने माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने। भामह ने भी इन्हीं तीनों गुणों का उल्लेख किया था। किन्तु आनन्दवर्धन के काव्यगुण भामह के गुणों से नाम्ना साम्य रखते हुए भी स्वरूपत: भिन्न हैं।

मम्मट ने आनन्दवर्धन की गुण धारणा को स्वीकार किया। मम्मट ने भी गुण को काव्य के अङ्गीरस का धर्म स्वीकार किया है। जैसे - शूरता आदि आत्मा के धर्म हैं और उनसे आत्मा में उत्कर्ष आता है उसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य की आत्मा के धर्म हैं और उसमें उत्कर्ष का आधान करते हैं[2]। मम्मट ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों को स्वीकार किया है और चित्तवृत्ति के आधार पर इनके स्वरूप का निर्धारण किया।

भोज ने गुणों को तीन वर्गों में विभक्त किया। बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। शब्दगत गुणों को बाह्यगुण माना। व्यक्ति के शील, वैदग्ध सौभाग्यादि की तरह अर्थगत गुण काव्य के आभ्यन्तर गुण हैं और वैशेषिक गुण दोष-गुण हैं। काव्य के कुछ दोष भी विशेष स्थिति में शोभाधायक गुण बन जाते हैं। भामह दण्डी आदि ने भी विशेष स्थिति में काव्य दोषों का शोभाधायकत्व स्वीकार किया था। पर भोज ने उन दोषों को सुसम्बद्ध रूप में

१- तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा: स्मृता।

- ध्वन्यालोक, २।६, पृ० २१६

२- ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन:।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा: ॥

- काव्यप्रकाश, ८। सू० ८६, पृ० ३८०

गुणों के एक वर्ग में रखा । भोज ने शब्दगुणों के चौबीस प्रकार माने और उन्हीं के अर्थगत गुणों की भी कल्पना कर ली ।

विद्यानाथ ने काव्य गुणों की मीमांसा करते हुए अधिकांशत: भोज की ही विचारधारा का अनुसरण किया है । प्रत्यक्षत: यह भरत, दण्डी, वामन आदि की चली आ रही विचारधारा का ही अनुसरण है । इन प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के अतिरिक्त प्रेय, भाविक आदि अलंकारों को भी भोज ने गुणों में परिगणित कर लिया । कहीं प्राचीन आचार्यों के दो नामों से अभिहित एक ही गुण से दो गुणों की कल्पना कर ली । कहीं एक ही गुण की विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर एकाधिक गुण लक्षण की सृष्टि कर ली और इस प्रकार चौबीस गुण माने । विद्यानाथ ने भी भोज के इन्हीं चौबीस गुणों को मान्यता दी है ।

गुणों की संख्या मानने का आधार हम प्राचीन काल से आती हुई गुण-सम्बन्धी दो विचारधाराओं को मान सकते हैं । यह दोनों विचार-धारायें कश्मीर सम्प्रदाय और वैदर्भ सम्प्रदाय कही जा सकती है । कश्मीर सम्प्रदाय के आचार्य जैसे - भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि गुणों की संख्या तीन मानते हैं और वैदर्भ सम्प्रदाय के आचार्य, जैसे भरत, दण्डी, वामन आदि, भरत के समय से चली आ रही गुणों की संख्या दस मानते हैं । भोज और विद्यानाथ ने भी इसी सम्प्रदाय का अनुसरण करते हुए गुणों की पूर्वोक्त संख्या दस तो मानी ही साथ ही भोज ने कुछ गुणों की नवीन कल्पना कर ली जिसे विद्यानाथ ने भी मान्यता प्रदान की । वस्तुत: गुणों की संख्या चौबीस मानने वाले ये दो ही आचार्य हैं । किन्तु विद्यानाथ ने इन चौबीस गुणों के शब्दगत और अर्थगत भेद का खण्डन किया है[१]। इसका कारण यह है कि भोज ने गुणों को शब्दार्थ पर आश्रित माना है जबकि विद्यानाथ गुणों

१- एतेषां गुणानामर्थगतत्वमपि केचिदिच्छन्ति ।

- प्रताप०, पृ० ३६०

को संघटनाश्रित मानते हैं[1]। इस धारणा में विद्यानाथ ने भामह तथा वामन का अनुसरण किया है।

विद्यानाथ ने इन चौबीसों गुणों को भावात्मक नहीं माना है। उनकी मान्यता है कि इसमें से कुछ गुण केवल दोषाभाव रूप हैं। यहाँ पर भी विद्यानाथ ने वैदर्भ सम्प्रदाय का ही अनुसरण किया क्योंकि दोषाभावरूप, दोष-विपर्यय अथवा दोषगुणों की मान्यता प्राय: वैदर्भ सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा ही उठाई गई। प्रारम्भ में भरत ने गुणों को दोष-विपर्यय कहा। वामन ने दोषों को गुणाभाव स्वरूप माना और गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की[2]। भोज ने विशेष स्थिति में काव्य दोषों को भी दोषगुण मानकर उनका गुणत्व स्वीकार किया। इसके विपरीत कश्मीर सम्प्रदाय में भामह के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने गुणों के साथ दोष गुण, दोष विपर्यय अथवा दोषाभावात्मक रूप गुणों के बारे में चर्चा नहीं की। उन्होंने गुणों की भावात्मक सत्ता को ही स्वीकार किया। विद्यानाथ कुछ गुणों को दोषाभाव रूप ही मानते हैं। सभी आचार्य इन्हें गुण नहीं मानते हैं। सौकुमार्यादि गुण को विद्यानाथ दोषाभावात्मक गुण मानते हैं। दोषाभावात्मक गुण को विद्यानाथ ने विशेष महत्व नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में वे गुण परम उत्कृष्ट हैं जो स्वत: काव्य की चारुता की वृद्धि करते हैं[3]। किन्तु, फिर भी

१- अतोगुणानां संघटनाश्रयत्वमेव युक्तम्।

- प्रताप०, पृ० ३६१

२- गुण विपर्ययात्मानो दोषा:।

- का० सू० वृ० २।१।१, पृ० ६८

३- एषां मध्ये केषांचिद् दोषपरिहारकत्वेन गुणत्वम्। केषांचित् स्वत एवोत्कर्षहेतुत्वाद् गुणत्वम्। तत्र ये स्वत एव चारुत्वातिशय-हेतवस्ते परमुत्कृष्टा:। दुष्टत्वपरिहार हेतूनां गुणत्वं न सर्वसम्मतम्।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३७३

उन्होंने दोषाभावात्मक गुणों को स्थान दिया है जैसे - सौकुमार्य गुण श्रुति-कटु दोष का परिहार है । कान्तिगुण ग्राम्यदोष का अभाव है । अर्थव्यक्ति गुण अपुष्टार्थ दोष का विपर्यय है । इसी प्रकार सम्मितत्व गुण न्यूनपदत्व एवं अधिकपदत्व दोष का, उदात्त गुण अनुचितार्थ का, औचित्य विसन्धि का, रीति पतत्प्रकर्ष का, प्रसाद क्लिष्टत्व का, उक्ति अश्लीलत्व का, सुशब्दता च्युतसंस्कार का, समता क्रमभङ्ग का एवं प्रेयान् परुष दोष का परिहार है[1]।

विद्यानाथ ने भोज के चौबीस शब्दगुणों को ही स्वीकार किया है । उन्होंने अधिकांश गुणों की परिभाषाएं सरस्वतीकण्ठाभरण से ली हैं । कुछ परिभाषाएं यथावत् उद्धृत हैं तथा कुछ शब्द-भेद से वहीं से गृहीत हैं । विद्यानाथ के अनुसार चौबीस गुण इस प्रकार हैं -- श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, कान्ति, उदात्तता, ओज, सुशब्दता, प्रेय, औचित्य, विस्तर, समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, संक्षेप, भाविक, सम्मितत्व, प्रौढि, रीति, उक्ति तथा गति[2]। इन गुणों का स्वरूप इस प्रकार है :—

१- श्लेष :

विद्यानाथ ने पदों का संश्लिष्ट होना श्लेष माना है । अर्थात्[3] जब बहुत से पद एक पद की तरह अवभासित हों तो वह उनकी संश्लिष्टता है ।

१- श्रुतिकटुत्वरूपदोष निराकरणाय सौकुमार्यं सम्मतम् । ग्राम्यत्वदोष निराकरणाय कान्तिः स्वीकृता ।- - - - परुषत्वदोष निकृत्यर्थं प्रेयान् मतः ।

- प्रताप०, गुण प्रकरण, पृ० ३७४

२- श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य - - - - - -चतुर्विंशतिरेते स्युर्गुणाः काव्यप्रकाशकाः ।।

- प्रताप०, गुण प्रकरण, पृ० ३७३

३- मिथः संश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते । बहूनां पदानामेक-पदवदवभासमानत्वं श्लिष्टत्वम् ।

- प्रताप०, गुण प्रकरण, पृ० ३७५

भोज को भी शब्द-श्लेष धारणा यही है उन्होंने शब्दश्लेष को सुश्लिष्टपदता कहा है[1]। जहां पदों के अलग-अलग रहने पर भी एकपदता का भान होता है वहां श्लेष गुण माना है। आचार्य मम्मट ने भी श्लेष (अलङ्कार) को यही मान्यता दी है कि अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण जब मिल जाते हैं तब वह श्लेष होता है[2]। वामन ने भी जहां बहुत पदों के होने पर भी एकपदता का भान हो उसे मसृणत्व कहा। और मसृणत्व को ही शब्दश्लेष माना[3]। आचार्य भरत के अनुसार श्लेष गुण में एक पद दूसरे पद के साथ इस प्रकार सम्बद्ध रहता है कि सभी पद मिलकर कवि के उद्दिष्ट अर्थ को व्यक्त कर सकें[4]। विद्यानाथ ने भरत, वामन, भोज और मम्मट की श्लेष धारणा को स्वीकार किया है।

२- <u>प्रसाद :</u>

विद्यानाथ ने प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों को प्रसादगुण माना है।

१- गुण: सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।

- सरस्वती, १।१, पृ० ५१

२- वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
शिलष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ।।

- काव्यप्रकाश, ६।८४, पृ० ४१५

३- मसृणत्वं श्लेषः। मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकपदवद्भासन्ते।

- का० सू० वृ० ३।१।११, पृ० १२३

४- ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानां परस्परम्।
श्लिष्टता या पदानां स श्लेष इत्यभिधीयते ।।

- नाट्यशास्त्र, १७।९६, पृ० ३०१

अर्थात् शब्दों का ऐसा चयन जिससे अभिप्राय का तत्काल बोध हो जाता है[1]। विद्यानाथ ने भोज के शब्दगत प्रसाद गुण को अक्षरश: उद्धृत किया है[2]। भोज का लक्षण दण्डी के प्रसाद गुण लक्षण का ही रूपान्तर है। दण्डी के अनुसार जहां सुनते ही अर्थ बोध करा देने वाले शब्दों की योजना हो वहां प्रसाद गुण माना जाता है। प्रसिद्धार्थ वाले पदों का प्रयोग होने से वाक्य का अर्थबोध अनायास ही हो जाता है[3]। भरत ने प्रसाद गुण वहां माना जहां शब्दों का ऐसा प्रयोग हो जिसके अनुक्त अर्थ की प्रतीति भी सहृदय को होने लगे यह सुबोध शब्द और अर्थ के संयोग के कारण होता है[4]। भामह ने प्रसाद गुण उस रचना में माना जो विद्वान से लेकर नारी और शिशु तक के लिए भी बोधगम्य हो[5]। वामन का मत इन सभी आचार्यों से अलग है उन्होंने बन्ध के शैथिल्य को प्रसाद माना[6]। गुणों को शब्दार्थगत मानने वाले प्राय: सभी आचार्यों ने प्रसाद में अ

१- प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते। मनटित्यर्थसमर्पकपदत्वात् प्रसाद:।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३७६

२- प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते।

- सरस्वती १।२, पृ० ५१

३- प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीति सुभगं वच:।।

- काव्यादर्श, १।४५, पृ० २८

४- अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते।
सुखशब्दार्थ संयोगात्प्रसाद: स तु कीर्त्यते।।

- नाट्यशास्त्र, १७।९७, पृ० ३०२

५- आविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्।

- काव्यालङ्कार २।३, पृ० २६

६- शैथिल्यं प्रसाद:।

- का० सू० वृ० ३।१।६, पृ० १२०

की सुगमता पर बल दिया । अर्थ की सरलता के लिये पदों का प्रसिद्ध होना भी आवश्यक है । सामान्य शब्दों में प्रसाद गुण सरलता का नाम है । जिसके कारण किसी भी शब्द का अर्थ बिना विशेष कष्ट के समझ में आ जाता है । विद्यानाथ का भी यही मत है ।

३- समता :

विद्यानाथ के अनुसार जहां पदों के उच्चारण करने में विषमता न रहे वह समता कहलाता है । अर्थात् पदों का एक समान कथन समता है[1]। विद्यानाथ ने भोज के ही समता गुण को उद्धृत किया है । भोज ने जिस श्लोक में शब्द समता का लक्षण दिया है, विद्यानाथ ने उसी श्लोक का अंश समता लक्षण के लिए दिया है । भोज के अनुसार मृदु, प्रस्फुट तथा उन्मिश्र वर्णों द्वारा जो रचना का विधान है उसी के अनुसार समान रूप से जो कथन है वही समता है । समान कथन का अर्थ है मृदु, प्रस्फुट तथा उन्मिश्र में से किसी एक का आश्रय लेकर रचना में आदि से अन्त तक उसी का निर्वाह होता है[2]। दण्डी ने सम्पूर्ण रचना में एक रीति के निर्वाह को समता गुण कहा है[3]। वामन ने भी मार्गाभेद को समता गुण कहा[4]। भरत के अनुसार जहां गुण और अलङ्कार

१- अवैषम्येण भणनं समता सा निगद्यते । तुल्यवद्भणनात् समत्वम् ।

- प्रताप० गुण प्र०, पृ० ३७६

२- यन्मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धविधिं प्रति ।
अवैषम्येण भणनं समता साऽभिधीयते ।।

- सरस्वती, १।३, पृ० ५२-५३

३- समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुट मध्यमाः ।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः ।।

- काव्यादर्श, १।४७, पृ० ३१

४- मार्गाभेदः समता ।

- का० सू० वृ० ३।१।१२, पृ० १२३

में पारस्परिक सादृश्य हो तथा एक दूसरे को आभूषित करता हो वहां समता गुण है[1]। विद्यानाथ ने समता गुण को क्रमभङ्ग दोष का परिहार माना है। भोज इसे विषय दोष का परिहार मानते हैं।

४- माधुर्य :

विद्यानाथ ने सन्धि के न होने पर पृथक्पदत्व अर्थात् शब्दों के पृथकत्व के कारण स्पष्टता को माधुर्य गुण कहा है[2]। विद्यानाथ ने माधुर्यगुण का लक्षण भोज से लिया है। विद्यानाथ के अनुसार वाक्य में पृथक् पदता तो होनी ही चाहिए, साथ ही वह पृथक् पदता पाठ समय में भी प्रतीत होनी चाहिए। विद्यानाथ के माधुर्यगुण के पृथक्पदत्व का विचार मूलतः वामन तथा भोज की माधुर्य धारणा से लिया गया है। वामन समास की दीर्घता नहीं चाहते[3]। किन्तु भोज तो संहिता भी स्वीकार नहीं करते[4]। भरत की माधुर्य गुण धारणा इससे भिन्न है। जहां वाक्य बार-बार सुने जाने या बार-बार उच्चारण किये जाने पर भी मन को उद्विग्न नहीं करता वहां माधुर्य-गुण होता है[5]। भामह के अनुसार जो श्रुति सुखद एवं दीर्घ समास से रहित हो

१- अन्योन्यसदृशा यत्र तथाह्यन्योन्यभूषणाः।
अलङ्कारा गुणाश्चैव समाः स्युः समतामताः ।।

- नाट्यशास्त्र १७। ९८, पृ० ३०३

२- या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यं प्रकीर्त्यते।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३७७

३- पृथक्पदत्व माधुर्यम्। समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत्।

- का० सू० वृ०, ३।१। २१, पृ० १३१

४- या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।

- सरस्वती, १।४, पृ० ५३-५४

५- बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्विजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ।।

- नाट्यशास्त्र १७।१००, पृ० ३०४

वह काव्य मधुर कहलाता है[1]। वस्तुत: विद्यानाथ, भोज और वामन की माधुर्य गुण धारणा का मूल स्रोत भामह का माधुर्य लक्षण कहा जा सकता है । दण्डी ने सरस वाक्य को मधुर कहा है । दण्डी की यह धारणा विलक्षण है । उन्होंने माधुर्य गुण को रस स्वरूप प्रदान किया[2]।

५- सुकुमारता :

विद्यानाथ ने सुकुमार अक्षरों के प्रयोग में सौकुमार्य गुण माना है । सुकुमारत्व को उन्होंने सानुस्वार और कोमल वर्ण माना है[3]। अर्थात् जिस रचना में सानुस्वार और अपरुष वर्णों का प्रयोग हो वहां सुकुमारता गुण है । विद्यानाथ का सुकुमाराक्षरप्रायत्व दण्डी और भोज के अनिष्ठुराक्षरप्रायत्व तथा वामन के अजरठत्व से अभिन्न है । दण्डी ने कोमल वर्णों के प्रयोग में सुकुमारता गुण माना । अत्यन्त कोमलता को त्याज्य माना है[4]। भोज ने लक्षण और उदाहरण दोनों दण्डी से ही लिया है । उनके अनुसार जिस वाक्य में ऐसे पद हों जिनमें परुष वर्ण अधिकतर न हों, वहां सुकुमारता स्मृत की जाती है[5]। वामन ने श्रुति सुखद पदावली की योजना को शब्दगत सौकुमार्य गुण

१- श्रव्यं नाति समस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।

- काव्यालङ्कार, २।३, पृ० २६

२- मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति: ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता: ।।

- काव्यादर्श, १।५१, पृ० ३४

३- सुकुमाराक्षरप्रायं सौकुमार्यं तदुच्यते । सुकुमारत्वं नाम सानुस्वारकोमल-वर्णात्वम् ।

- प्रताप० गुण प्र०, पृ० ३७७

४- अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शित: सर्वकोमले ।।

- काव्यादर्श, १।६६, पृ० ४६

५- अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम् । -
- सरस्वती० १।५, पृ० ५५

माना है । उनके अनुसार बन्ध की अजरठता या कोमलता सौकुमार्य है[1]। इसका विपर्यय श्रुतिकटुत्व दोष है । कुन्तक ने यद्यपि प्राचीन आचार्यों के सौकुमार्य गुण को स्वीकार नहीं किया है किन्तु लावण्य गुण में सुकुमार शब्द और अर्थ को अपेक्षित माना है । उनके अनुसार कोमल वर्णविन्यास या कोमल शब्दालङ्कार की योजना के थोड़े से वैभव से सरलतापूर्वक काव्य के बन्ध में आ जाने वाला सौन्दर्य लावण्य गुण है[2]।

६- अर्थव्यक्ति :

विद्यानाथ के अनुसार जहां वाक्य के सभी प्रकार से पूर्ण होने[3] के कारण अर्थ की स्पष्टता हो वहां अर्थव्यक्ति गुण होता है । दण्डी के अनुसार अर्थ में नेयत्व का जहां अभाव रहे वहां अर्थव्यक्ति गुण होता है[4]। किसी अर्थ को पूर्णत: व्यक्त करने के लिए जितने शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा होती है उतने से यदि कम शब्दों का प्रयोग होता है तो विवक्षित अर्थ को समझने के लिए आवश्यक अर्थान्तर के अध्याहार की कष्ट कल्पना करनी पड़ती है इसे ही नेयार्थत्व या नेयत्व कहते हैं । दण्डी ने अर्थव्यक्ति को वैदर्भ और गौड दोनों मार्गों का गुण माना है । वामन ने शब्दगत अर्थव्यक्ति में ऐसे पदों की योजना पर बल दिया जो तुरन्त अपने अर्थ को व्यक्त कर दे । अर्थ की व्यक्ति का हेतु ही अर्थ-

---

१- अजरठत्वं सौकुमार्यम् ।

- का० सू० वृ०, ३।१।२२, पृ० १३२

२- वर्णविन्यासविच्छित्ति पदसन्धानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ।।

- वक्रोक्तिजीवितम्, १। ३२, पृ० ११६

३- यत्तु सम्पूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम् ।

- प्रताप० गुण प्र० पृ० ३७८

४- अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य - - - - - - ।

- काव्यादर्श १। ७३, पृ० ५१

व्यक्ति गुण है[1]। आचार्य भरत के अनुसार भी जिन धातुओं से लोगों का अधिक परिचय रहता है, उन धातुओं में अर्थबोध कराने की शक्ति अधिक होती है। अत: अर्थ अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध धातुओं का प्रयोग माना[2]। भोज ने इसे सम्पूर्ण वाक्यत्व कहा। वाक्य की सम्पूर्णता का अभिप्राय उस वाक्य से है जिसमें सभी अपेक्षित अर्थों के वाचक पद हों[3]। विद्यानाथ ने भोज के ही अर्थव्यक्ति गुण लक्षण का अनुसरण किया है। जहां वाक्य अर्थ प्रतिपादन में निराकांक्षा होकर परिपूर्ण है वहां अर्थव्यक्ति गुण है[4]। विद्यानाथ ने इसका विपर्यय अपुष्टार्थ दोष माना है। भोज नेयार्थ दोष को इसका विपर्यय मानते हैं।

७-कान्ति :

विद्यानाथ के अनुसार बन्ध की उज्ज्वलता को कान्ति गुण कहते हैं[5]। दण्डी के अनुसार लोक प्रसिद्धि के अनुरूप वस्तु का वर्णन होने पर वह सहृदय से लेकर बच्चे तक के लिये मनोहारी हो जाता है। ऐसे सम्पूर्ण लोक के लिए मनोज्ञ काव्य में कान्ति गुण माना जाता है। कान्ति गुण युक्त वाक्य लौकिक

१- यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति।

- का० सू० वृ० ३।१।२४, पृ० १३४

२- सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्ति: प्रकीर्त्यते।।

- नाट्यशास्त्र, १७।१०३, पृ० ३०६

३- यत्र सम्पूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्।

- सरस्वती० १।६, पृ० ५५-५६

४- अत्रार्थ प्रतिपादने वाक्यस्य निराकाङ्क्षतया परिपूर्णत्वादर्थव्यक्ति:।

- प्रताप० गुण प्र०, पृ० ३७८

५- अत्युज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये कान्तिरितीष्यते।

- प्रताप०, गु० प्र०, पृ० ३७८

उपचार-वचन में तथा प्रशंसा वचन में पाये जाते हैं[1]। वामन ने शब्द कान्ति को औज्ज्वल्य कहा। जब पद में कान्ति नहीं रहती तो वह पुराने चित्र के समान लगने लगता है[2]। यह पद की चमत्कृति का गुण है। जिसके बिना पद कान्ति-हीन पुराने चित्र के समान हो जाता है इसका विपर्यय पुराणच्छाया है। भोज ने बन्ध की उज्ज्वलता को शब्दगत कान्तिगुण माना है[3]। बन्ध की उज्ज्वलता का अभिप्राय रचना में सुन्दर शब्दों के प्रयोग से है। विद्यानाथ ने भोज की धारणा में एक विशेषण लगाकर उसी प्रकार से लक्षण स्वीकार कर लिया है।

८- औदार्य :

उदारों की विकट रचना को विद्यानाथ ने औदार्य गुण माना है[4]। इसे विकटाक्षरबन्धत्व कहा है। दण्डी ने उदारता गुण की व्यापक धारणा प्रस्तुत की और उसे उभय मार्ग का गुण माना। उनके अनुसार जिस वाक्य के उच्चरित होने पर वर्ण्य में लोकोत्तर चमत्कार का आधान करने वाला कोई भी विशेष प्रतीत हो उसे उदार कहते हैं[5]। जो वाक्य श्लाघ्यविशेषणों

१- कान्तं सर्वजगत् कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात् ।
तच्चवार्ताभिधानेषु वर्णानास्वपि दृश्यते ।।
- काव्यादर्श १।८५, पृ० ५७

२- औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः ।।
- का० सू० वृ०, ३।१। श्लो० ११, पृ० १२७

३- यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते ।
- सरस्वती० १।७, पृ० ५६

४- विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमिष्यते ।
- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३७६

५- उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वे पद्धतिः (काव्यपद्धतिः)।।
- काव्यादर्श १।७६, पृ० ५३

से युक्त हो वह उदार गुण युक्त माना जाता है[1]। वामन के अनुसार शब्दगत उदारता गुण में सजातीय वर्णों का इस प्रकार गुम्फन होता है कि सभी वर्ण मिलकर नृत्य करते से जान पड़ते हैं[2]। भोज ने 'विकटाक्षरबन्धत्व' को औदार्य गुण कहा तथा नृत्य करते हुए से पदों की वाक्य रचना कहा है। यहां विकटता का अर्थ कठोरता आदि नहीं है। इस पद का अर्थ है विशाल अथवा अधिक। जब अधिक वर्णों के संयोग से कोई बड़ा पद बन जाता है यद्यपि छोटा हो सकता है तब उस वाक्य में विद्यमान गुण औदार्य कहा जाता है[3]। भोज के टीकाकार रत्नेश्वर ने 'विकटाक्षरबन्धत्व' की बहुत ही स्पष्ट और सुन्दर व्याख्या की है। विद्यानाथ के टीकाकार कुमारस्वामी ने भी नृत्य करते हुए से पदों का विन्यास यह व्याख्या की है[4]। महाकवि बाण ने भी हर्षचरित में निर्दुष्ट काव्य के बारे में कहा है कि काव्य में विकटाक्षरबन्ध बहुत ही दुष्कर है[5]।

१- श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते ।

- काव्यादर्श १। ७६, पृ० ५४

२- बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम् । लीलायमानत्वमित्यर्थः ।

- का० सू० वृ०, ३।१।२३ पृ० १३२

३- विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमुच्यते यथा - आरोहत्यवनीरुहं - - - - - । अत्र विकटाक्षरबन्धत्वेन नृत्यभिरिवपदैः यद्वाक्यरचना सा उदारता ।

- सरस्वती० १।८, पृ० ५७-५८

४- औदार्यनाम विकटाक्षरबन्धत्वं तच्च नर्तनबुद्ध्युत्पादविन्यासः ।

- प्रताप०, रत्नापण, पृष्ठ ३७६

५- नवोऽर्थो जातिरग्राम्याश्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ।।

- हर्षचरित, १।८, पृ० ३

९- उदात्तता :

विद्यानाथ के अनुसार प्रशंसनीय विशेषणों का जो योग है वह उदात्तता गुण है[१]। दण्डी ने श्लाघ्य विशेषण योग को उदारता गुण के अन्तर्गत माना है[२]। विद्यानाथ ने भोज के शब्दगत उदात्तता लक्षण का शब्दश: अनुसरण किया है। भोज ने भी श्लाघ्य विशेषण योग को उदारतागुण माना है[३]। श्लाघ्य विशेषण का अर्थ है श्लाघ्य अर्थात् सहृदयों के हृदय को आकृष्ट करने में सक्षम विशेषणों का योग। टीकाकार रत्नेश्वर ने श्लाघ्य की व्याख्या प्रस्तुत की है[४]। विद्यानाथ ने इसे अनुचितार्थत्व दोष का परिहार माना है।

१०- ओज :

समास की अधिकता ओज है[५]। आचार्य भरत के अनुसार जिस रचना में बहुत ही समस्त एवं विचित्र पदों का प्रयोग हो वहां परस्पर साम्य वर्णों वाले

१- श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता।
- प्रतापरु०, गुण प्र०, पृ० ३८०

२- श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते।
- काव्यादर्श, १। ७९, पृ० ५४

३- श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता।
- सरस्वती० १।६, पृ० ५८

४- बहूनां मध्ये य: श्लाघ्यते स उत्कर्षवान्। तेन श्लाघ्यत्व-मुदात्तलक्षणम्। तदिह काव्ये वाक्यार्थपोषाधायकतया सहृदयहृदयावर्जनक्षमत्वेन श्लाघाविषयत्वे विशेष्यत्वं च - - - -।
- सरस्वती०, रत्नेश्वर, पृ० ५८

५- ओज: समासभूयस्त्वम्।
- प्रतापरु०, गुण प्र०, पृ० ३८१

पदों की एवं उदार पदों की योजना हो वहां ओज गुण होता है[१]। उक्त परिभाषा में, ओज में पदों के गुम्फन एवं वैचित्र्य, उनकी उदारता का होना आवश्यक माना है। भामह के अनुसार ओज गुण में दीर्घ समास पदयोजना हुआ करती है[२]। वामन ने पद रचना की गाढ़ता को शब्दगत ओज माना है[३]। पद-रचना में निविडता संयुक्ताक्षरों के आधिक्य, रेफवर्णों के निरन्तर प्रयोग तथा समास आदि के कारण आती है। दण्डी के अनुसार समस्त पदों की बहुलता ओज है[४]। दण्डी ने दोनों मार्गों के गद्य-काव्य के प्राण रूप में स्वीकृत किया है। ओज गुण पदों के समास पर आधारित है। पद का निर्माण करने वाले दीर्घ एवं लघु वर्णों की बहुलता अल्पता आदि के आधार पर ओज के कई भेद हो जाते हैं। भोज ने भी समास की बहुलता को ओज गुण माना है[५]। विद्यानाथ और भोज ने वस्तुत: दण्डी से ओज गुण का लक्षण ग्रहण किया है। जब छन्द में अधिक

१- समासवद्भिर्बहुविचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोज: परिकीर्त्यते ।।

- नाट्यशास्त्र, १७।१०१, पृ० ३०४

२- केचिदोजोऽभिधित्सन्त: समस्यन्ति बहून्यपि।

- काव्यालंकार, २।२, पृ० २६

३- गाढबन्धत्वमोज:।

- का० सू० वृ० ३।१।५, पृ० ११६

४- ओज: समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ।।

- काव्यादर्श, १। ८०, पृ० ५५

५- ओज:समासभूयस्त्वम्।

- सरस्वती०, १।१०, पृ० ५६

समस्त पदों का प्रयोग होता है, तब उसमें एक विशेषता आ जाती है । इस प्रकार के शब्दों को पढ़ने से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है । यही ओज गुण है । अर्थात् समास प्रयोग के कारण सशक्त पद-विन्यास ही ओज है ।

११- सुशब्दता :

सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों के प्रयोग की जो निपुणता है अर्थात् नाम और धातु रूपों के प्रयोग में कुशलता सौशब्द्य है[1]। भोज ने इसे ही सुप्तिङ्-व्युत्पत्ति कहा तथा इसे सुशब्दता गुण माना[2]। सुप् तिङ् संस्कार की चर्चा भोज के पूर्व भी हुई थी किन्तु, गुण के रूप में उसे ग्रहण नहीं किया गया था । गुण की स्फुटता के फलभूत काव्य-पाक की चर्चा के क्रम में वामन ने सुप् तिङ् संस्कारों का उल्लेख किया था[3]। विद्यानाथ ने सुशब्दता को गुण रूप में भोज से ग्रहण किया है । सुशब्दता को काव्य में शब्द प्रयोग की कुशलता के नाम से अभिहित किया गया है । इसके लिए व्याकरण ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है ।

१२- प्रेय :

प्रीति प्रकाशक शब्दों के प्रयोग में प्रेय गुण होता है । यह गुण चाटूक्तियों में रहता है । अर्थात् जहां चाटु कथन में प्रिय लगने वाले शब्दों का प्रयोग हुआ करता है वहां प्रेय गुण होता है[4]। भोज ने भी चाटूक्ति द्वारा प्रिय

१- सुपां तिङां च व्युत्पत्तिः सौशब्द्यं परिकीर्त्यते ।
- प्रतापरु०, गुण प्र०, पृ० ३८१

२- व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता ।
- सरस्वती० १।७५ पृ० ६२

३- सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत् ।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ।।
- का० सू० वृ० ३।२, पृ० १५८

४- प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते ।
- प्रतापरु०, गुण प्र०, पृ० ३८२

कथन को प्रेय गुण माना है[१]। यह प्रेय गुण धारणा दण्डी की प्रेय अलंकार धारणा के समान है। दण्डी के अनुसार प्रिय लगने वाली उक्ति प्रेय अलंकार है[२]। विद्यानाथ ने इसे परुष दोष का विपर्यय माना है।

१३- औजित्य :

बन्ध की गाढ़ता औजित्य है[३]। भोज के अनुसार भी बन्ध की गाढ़ता को शब्दगत औजित्य कहते हैं[४]। सन्दर्भ की महाप्राणता को गाढ़त्व कहते हैं। जिस छन्द में महाप्राणता का सन्निवेश होता है, उसमें औजित्य उपस्थित समझा जाता है[५]। महाप्राणता का अभिप्राय, ऐसे वर्णों का क्रम से वाक्य में सन्निवेश है जिसके कारण छन्द में बीच-बीच में अवरुद्धता तथा गति आती रहती है। भोज ने वामन के शब्द गुण ओज की परिभाषा को लेकर औजित्य नामक नवीन गुण की सृष्टि कर ली है। भोज का औजित्य वामन के गाढबन्धत्व ओज से अभिन्न है[६]। विद्यानाथ ने भी भोज का ही अनुसरण करते हुए गाढबन्धत्व को औजित्य गुण मान लिया है।

१- प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते।

- सरस्वती० १।१२, पृ० ६१

२- प्रेयः प्रियतराख्यानं - - - - - - ।

- काव्यादर्श २।२७५, पृ० २११

३- औजित्यं गाढबन्धत्वम्।

- प्रताप० गुण प्र०, पृ० ३८३

४- औजित्यं बन्धता। - सरस्वती० १।११, पृ० ६०

५- ऊर्जितो महाप्राणस्तस्य भाव औजित्यं तत्र सन्दर्भस्य महाप्राणता गाढत्वमन्तरान्तराविलम्बितनयद्भिः प्रयोगैः कुण्ठलत्वम्।

- सरस्वती रत्नेश्वर, पृ० ६०

६- गाढबन्धत्वमोजः।

- का० सू० वृ० ३।१।५, पृ० ११६

१४- <u>समाधि :</u>

अन्य धर्मों का अन्य में जो आरोपण है वह समाधि है। अर्थात् एक वस्तु के धर्म का अन्यत्र आरोप समाधि गुण है[१]। दण्डी के अनुसार जहां लोक-व्यवहार का पालन करने वाला कवि एक वस्तु के गुण क्रिया आदि धर्म का दूसरी वस्तु पर आधान करता है वहां समाधि गुण होता है[२]। लोक सीमा के भीतर ही अन्य धर्म का किसी धर्म पर आधान माना है। जहां लोक सीमा का अतिक्रमण कर एक धर्म पर दूसरे धर्म का आधान हो वहां दण्डी समाधि गुण नहीं मानते। इस प्रकार यह समाधि गुण दण्डी के अतिशयोक्ति अलंकार से, जिसमें प्रस्तुत वस्तुगत विशेष का लोकमर्यादा का अतिक्रमण करने वाला वर्णन होता है अभिन्न नहीं कहा जा सकता है[३]। भरत के अनुसार प्रतिभा-सम्पन्न जन को कोई अपूर्व अर्थ परिलक्षित होता है उस अर्थ से युक्त रचना में समाधि गुण होता है[४]। वामन ने शब्द समाधि को आरोह और अवरोह का क्रम माना है[५]। विद्यानाथ ने समाधि गुण की धारणा दण्डी और भोज से ली है। भोज के अनुसार भी जहां दूसरे पदार्थों के धर्मों का दूसरे पदार्थ

१- समाधिरन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम् ।

- प्रतापः०, गुण प्र०, पृ० ३८३

२- अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।।

- काव्यादर्श, १।९३, पृ० ६१

३- विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ।।

- काव्यादर्श, २।२१४, पृ० १५३

४- अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्येहोपलभ्यते ।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्तितः ।।

- नाट्यशास्त्र, १७।९९, पृ० ३०३

५- आरोहावरोहक्रमः समाधिः ।

- का० सू० वृ० ३।१।१२, पृ० १२४

पर अध्यारोप किया जाता है वहां समाधि गुण माना है । वस्तुत: समाधि गुण साध्यवसाना लक्षणा पर आधारित काव्य गुण है । साध्यवसाना लक्षणा में विषयी विषय का निगरण कर लेता है[1]। विषयी के धर्म के कथन से ही विषय के धर्म का बोध हो जाता है । अत: समाधि गुण में भी प्रस्तुत के धर्म का कथन न होकर अप्रस्तुत के धर्म का कथन होना चाहिए ।

१५- विस्तर :

विद्यानाथ के अनुसार वर्णित अर्थ की पुष्टि के लिए विस्तारपूर्वक उसका वर्णन विस्तर गुण है । अर्थात् जहां कथ्य के अल्प होने पर भी उसका वर्णन विस्तार से किया जाता है वहां विस्तर गुण होता है[2]। भोज ने इसे व्यासउक्ति कहा है[3]। जिसका अनुसरण विद्यानाथ ने दूसरे शब्दों में किया है । विस्तर गुण वामन के अर्थगत ओज गुण लक्षण से अंशत: मिलता है । यह वामन द्वारा कथित 'पदार्थे वाक्य रचना' है । अर्थात् जहां एक पद से ही व्यक्त हो सकने वाले अर्थ के बोध के लिये पूरे वाक्य की योजना होती है[4]।

१६- सम्मितत्व :

सम्मितत्व गुण भोज की नवीन कल्पना है । भोज की सम्मितत्व गुण की परिभाषा को विद्यानाथ ने थोड़ा शब्दभेद के साथ उद्धृत किया है । विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने के लिये जितने पदों का प्रयोग

१- विषय्यन्त:कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ।

- काव्यप्रकाश २।११, पृ० ६१

२- समर्थनप्रपञ्चोक्तिरुक्तस्यार्थस्य विस्तर: ।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३८४

३- व्यासेनोक्तिस्तु विस्तर: ।

- सरस्वती०, १। ९५, पृ० ६६

४- पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा - - - - - ।

- का० सू० वृ० ३।२।२, पृ० १४१

अपेक्षित हो ठीक उतने ही पदों का प्रयोग सम्मितत्व गुण है[1]। शब्दगुण सम्मितत्व विस्तर और संक्षेप गुणों का मध्यवर्ती है। इसमें न तो विस्तर की तरह थोड़े अर्थ के लिये विस्तृत पदावली की योजना होती है और न इसके विपरीत संक्षेप की तरह विस्तृत अर्थ का संक्षिप्त पदों द्वारा अभिधान होता है। इसमें अर्थ के अनुपात में पद प्रयोग होता है। भोज ने इसकी परिभाषा में कहा है कि जितना अर्थ हो उतने ही पदों का प्रयोग सम्मितत्व गुण में होता है[2]। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भोज ने कहा है कि इसमें शब्द और अर्थ इस प्रकार समान मात्रा में रहते हैं जैसे कवि ने दोनों को तराजू पर तौलकर बराबर प्रयोग किया है[3]। अपेक्षित पदों से कम पदों का प्रयोग न्यूनपदत्व तथा अधिक का प्रयोग अधिकपदत्व होता है। सम्मितत्व गुण इन दोनों दोषों का परिहार है।

१७- गाम्भीर्य :

विद्यानाथ ने शब्द की ध्वनिमत्ता को गाम्भीर्य गुण माना है[4]। विद्यानाथ ने गाम्भीर्य गुण की परिभाषा शब्दशः सरस्वतीकण्ठाभरण से ली है। भोज ने भी गाम्भीर्य गुण शब्द की ध्वनिमत्ता को ही कहा है[5]।

१- यावदर्थपदत्वं तु संमितत्वमुदाहृतम्।

- प्रता०प०, गुण प्र०, पृ० ३८४

२- यावदर्थपदत्वं च सम्मितत्वमुदाहृतम्।

- सरस्वती० १।१६, पृ० ६७

३- अत्रार्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत्तुल्यत्वेन सम्मितत्व।

- सरस्वती० १।१६, पृ० ६७-६८

४- ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्।

- प्रता०प०, गुण प्र०, पृ० ३८५

५- ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्।

- सरस्वती० १।१६, पृ० ६५

१८- संक्षेप :

विद्यानाथ ने संक्षेप में अर्थ का वर्णन संक्षेप गुण माना है[१]। भोज के संक्षेप गुण की परिभाषा में थोड़ा फेरबदल करके विद्यानाथ ने संक्षेप की परिभाषा दी है[२]। शब्दगत संक्षेप गुण विस्तर गुण के विपरीत स्वभाव का है। भोज ने इसे समास कथन कहा है। इस प्रकार विस्तृत अर्थ का जहां कम शब्दों में प्रतिपादन हो जाता है, वहां संक्षेप गुण होता है। यह गुण वामन के अर्थ ओज प्रौढि के ही एक भेद 'वाक्यार्थे पदाभिधा' पर कल्पित है। इस प्रौढि में वामन ने सम्पूर्ण वाक्य में वर्णित होने योग्य अर्थ का एक पद में वर्णन होना माना है[३]। यह व्यास शैली के विपरीत समास शैली है। भामह के काव्यालङ्कार में भी भोज के संक्षेप से मिलती-जुलती धारणा मिलती है। किन्तु भामह ने उसकी गणना गुण में नहीं की है[४]।

१९- सौक्ष्म्य :

विद्यानाथ के अनुसार शब्दों का जो अन्त: संजल्पन रूप है वह शब्दों की सूक्ष्मता है[५]। विद्यानाथ ने सौक्ष्म्य गुण की परिभाषा शब्दश: भोज के

१- संक्षिप्तार्थाभिधानं यत् तत् संक्षेप: प्रकीर्त्यते।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३८५

२- समासेनाभिधानं यत् स संक्षेप उदाहृत:।

- सरस्वती० १।८८, पृ० ६७

३- पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासमासौ च साभिप्रायत्वमेव च।।

- का० सू० वृ० ३।२।२ पृ० १४१

४- कथमेकपदेनैव व्यञ्ज्येरन्नस्य ते गुणा:।
इति प्रयुञ्जते सन्त: केचिद्विस्तरभीरव:।।

- काव्यालङ्कार, ५।६०, पृ० १३६

५- अन्त:संजल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३८६

सरस्वतीकंठाभरण से उद्धृत की है[1]। भोज की सौक्ष्म्य गुण की धारणा सर्वथा नवीन है। भोज के अनुसार इस गुण में ऊपर से शब्द का कुछ और अर्थ जान पड़ता है पर भीतर कुछ और ही अर्थ छिपा रहता है। इसमें सहृदय को विशेष प्रकार की अर्थ विच्छित्ति का बोध कराने वाले शब्दों का प्रयोग होता है। भरत ने गूढार्थ को काव्य दोष माना है[2]।

२०- प्रौढि :

विद्यानाथ के अनुसार प्रौढि नामक गुण को काव्य-वेत्ता उक्ति का परिपाक मानते हैं[3]। विद्यानाथ की यह धारणा भोज के शब्दगत प्रौढि गुण पर आधारित है। भोज ने पाक को प्रौढि गुण माना है[4]। पाक का अभिप्राय वाक्य में शब्दों के ऐसे सटीक प्रयोग से है कि एक भी शब्द को हटाकर किसी शब्द से उस स्थान की पूर्ति नहीं हो सके। कवि अपने विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने के लिए ऐसे शब्दों का चयन करता है जो उस अर्थ को व्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ होते हैं। अत: सफल कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दों में से एक शब्द का भी परिवर्तन बिना भाव को क्षति पहुंचाए सम्भव नहीं होता। सभी पर्याय-वाची शब्द भी एक समान ही व्यंजक नहीं होते ऐसे सभी शब्दों के अर्थ के समान होने पर भी सन्दर्भ विशेष में कोई विशेष शब्द अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक

१- अन्तस्संजल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते।

- सरस्वती० १।१५, पृ० ६४

२- गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं - - - - - - - - - वै दश काव्यदोषा: ।।

- नाट्यशास्त्र, १७। ८७, पृ० २९७

३- प्रौढिरुक्ते: परीपाक इति काव्यविदो विदु:।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३८७

४- उक्ते: प्रौढ: परीपाक: प्रौच्यते प्रौढिसंज्ञया।

- सरस्वती०, १।२४, पृ० ७१

भावाभिव्यंजक होता है[1]। वामन ने प्रौढ़ि गुण का उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु अर्थगत ओजगुण को उन्होंने अर्थ की प्रौढ़ि कहा है।

२१- उक्ति :

विद्यानाथ के अनुसार 'विदग्ध-भणिति' ही उक्ति नामक गुण है[2]। कवि-प्रतिभा से जिस विशेष प्रकार की उक्ति की सृष्टि होती है वह लोकोत्तर उक्ति ही उक्ति गुण है। वैसी उक्ति से कवि और सहृदय ही परिचित रहते हैं। विद्यानाथ की यह विदग्धभणिति भोज की विशिष्टभणिति रूप उक्ति के ही समान है[3]। भोज की इस धारणा को और अधिक व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए रत्नेश्वर ने कहा है कि लोक प्रचलित भणिति-प्रकार का अतिक्रमण कर कवि-प्रतिभा से जिस विशेष प्रकार की उक्ति की सृष्टि होती है वह लोकोत्तर उक्ति ही उक्तिगुण है। वैसी उक्ति से कवि और सहृदय ही परिचित रहते हैं। वह भणिति काव्य का शब्दगत गुण है[4]। इस प्रकार काव्य की समग्र चमत्कारपूर्ण उक्तियों को उक्ति गुण मान लिया गया है। विद्यानाथ ने उक्ति को अश्लीलत्व दोष का परिहार माना है।

१- उक्तिर्वाक्यं तस्यायं पाकः सा प्रौढ़िः। शब्दानां पर्याय-
परिवर्तासहत्वं - - - - शब्दपाकं प्रवदन्ति इति।
- सरस्वती० रत्नेश्वर, पृ० ७१

२- विदग्धभणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः।
- प्रताप०, गुण प्र०, ३८७

३- विशिष्टाभणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः।
- सरस्वती० १।२३, पृ० ७०

४- लोकोत्तरास्सन्ति हि भणिति प्रकाराः लोकप्रसिद्धाः। - - - -
एतत्प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या काचित् कवि प्रतिभया
भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा। - - - कविसहृदयानामेव
तादृशोक्तिपरिचयसम्भवात्।
- सरस्वती० रत्नेश्वर, पृ० ७०-७१

२२- रीति :

विद्यानाथ ने भोज की तरह ही रीति गुण को उपक्रम का निर्वाह कहा है[१]। भोज के अनुसार शब्दगत रीति गुण में पदविन्यास की एक रूपता की अपेक्षा रहती है[२]। यही उपक्रम का निर्वाह है। जबकि शब्दगत समता गुण में किसी एक बन्ध या मार्ग का रचना में आद्यन्त निर्वाह अपेक्षित है। इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि शब्दगत रीति-गुण शब्द समता से भिन्न है। विद्यानाथ रीति गुण को पतत्प्रकर्षत्व दोष का अभाव मानते हैं।

२३- भाविक :

विद्यानाथ के अनुसार जहां भाव के कारण वाक्य निष्पन्न होता है वहां भाविक गुण होता है[३]। विद्यानाथ ने भोज की परिभाषा को ही उद्धृत किया है। भोज का यह वाक्य-गुणभाव एवं रस से सम्बद्ध है। रस के आधार पर ही इसके गुणत्व का निर्णय हो सकता है। गुण को प्राचीन आचार्यों ने बन्ध या पदरचना का धर्म माना था। ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे रसाश्रित सिद्ध किया। भोज ने सरस्वती कंठाभरण में गुण को शब्दाश्रित ही कहा है, किन्तु इस भाविक शब्द गुण की परिभाषा में उसे भावाश्रित या रसाश्रित माना गया है[४]। रत्नेश्वर ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इष्ट आदि भाव में जब चित्त मग्न हो जाता है तब अनेक प्रकार के उक्ति भेद स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने लगते हैं[५]। भावावेश

१- यथोपक्रमनिर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३८८

२- उपक्रमस्य निर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।

- सरस्वती० १।२२, पृ० ६६

३- भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम्।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३८६

४- भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम्।

- सरस्वती० १।२०, पृ० ६८

५- इष्टादिभावितचेतसो हि वीचिप्राया उक्तिभेदाः प्रादुर्भवन्ति।

- सरस्वती० रत्नेश्वर, पृ० ६८

में मनुष्य जो कुछ बोलता है उसमें कभी-कभी क्रम का अभाव दिखाई पड़ता है। उसके एक कथन से दूसरे कथन में भेद हो जाया करता है। भावदशा में होने वाला यही उक्ति भेद भाविक गुण माना गया है।

२४- गति :

स्वर का सुरम्य आरोह एवं अवरोह गति नामक गुण है[१]। भोज ने भी आरोह अवरोह के क्रम को शब्दगत गति गुण माना है[२]। रत्नेश्वर का मत है कि यह गुण छन्द पर आधारित है। अत: इसे स्वरगत गुण मानना चाहिए। इसका स्वरूप बताना कठिन है। लोग इसका अनुभव मात्र कर सकते हैं। इसलिये रत्नेश्वर ने इसे आनुभविक गुण कहा[३]। भोज ने गतिगुण के उदाहरण के स्पष्टीकरण के क्रम में इसे स्वरगत आरोह और अवरोह का गुण बताया है[४]। यह गुण वामन के शब्द समाधि गुण से अभिन्न है। वामन ने स्वर के आरोहावरोह क्रम को समाधि गुण कहा है और उसे शब्द गुण भी में रखा है[५]।

१- गतिनाम सुरम्यत्वं स्वरारोहावरोहयो:।

- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३८६

२- गतिनाम क्रमो य: स्यादिहारोहावरोहयो:।

- सरस्वती०, १।२१, पृ० ६८-६६

३- इयं तु वृत्तोचिती कथ्यते।- - - - सोऽयमानुभविको गुण:
श्लोकार्द्धश्लोका पादश्लोकांश क्रमेण नरसिंहवद्भवति।

- सरस्वती० रत्नेश्वर, पृ० ६६

४- अत्र पूर्वार्द्धे स्वरस्यारोहात् उत्तरार्द्धे चावरोहात् गति:।

- सरस्वती०, १।२१, पृ० ६६

५- आरोहावरोहक्रम: समाधि:।

- का० सू० वृ० ३।१।१२, पृ० १२४

गुण और अलंकार

विद्यानाथ ने गुण और अलंकार का पारस्परिक भेद दिखाया है । गुण धारणा में अधिकांशत: भोज से प्रभावित होने पर भी विद्यानाथ ने अर्थ गुण का सद्भाव नहीं माना है । वे गुण को शब्द या संघटना पर आश्रित मानते हैं । अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित होते हैं । अत: उनके अनुसार आश्रय भेद से गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट है[१]। यद्यपि विद्यानाथ ने उद्भट के समान ही गुण और अलङ्कार दोनों को ही शोभाकर धर्म माना । किन्तु, वह उद्भट के समान दोनों में अभेद नहीं स्वीकार करते[२]। विद्यानाथ के अनुसार गुण और अलंकार में यह साम्य है कि दोनों ही काव्य के शोभाकर धर्म हैं । किन्तु दोनों में यह विषमता है कि इनमें आश्रय भेद है । गुण सङ्घटना पर आश्रित है और अलंकार शब्दार्थ पर । आचार्य दण्डी[३] और वामन[४] ने भी गुण का संघटनाश्रयत्व स्वीकार किया है । विद्यानाथ आनन्दवर्धन की भांति गुणों को रसधर्म नहीं मानते । उन्होंने आनन्दवर्धन के तीन गुणों को न स्वीकार कर प्राचीन आचार्यों के श्लेषादि गुणों को मान्यता दी है ।

प्राचीन आचार्यों में भरत ने गुण की अलग से कोई परिभाषा नहीं की है और न अलंकार से उसका भेद ही स्पष्ट किया है । उन्होंने प्रकारान्तर

१- संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन च गुणालंकाराणां व्यवस्थानम् ।
- प्रताप०, गुण प्र०, पृ० ३६०

२- उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायश: साम्यमेव सूचितम् ।
- अलङ्कारसर्वस्व सञ्जीविनी, भूमिका, पृ० ८

३- इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा: स्मृता: ।
- काव्यादर्श, १। ४२, पृ० २४

४- काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा: । ये खलु शब्दार्थयोर्धर्मा: काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणा: ।
- का० सू० वृ० ३।१।१, पृ० ११२

से गुण तथा अलंकार के समानाश्रयत्व का समर्थन ही किया। समता गुण की एक परिभाषा में भरत ने गुण और अलंकार के परस्पर विभूषण होने पर बल दिया।[1] दण्डी ने सर्वप्रथम गुण एवं अलंकारों का भेद निरूपण किया। दण्डी ने काव्य में शोभा का आधान करने वाले सभी तत्वों को सामान्यतः अलंकार कहा[2]। किन्तु वे गुण को अलंकार कहने पर भी दोनों को भिन्न मानते हैं। वे गुण को मार्ग विभाजक असाधारण धर्म मानते हैं और अलंकार को साधारण धर्म। वामन के अनुसार काव्य की शोभा के हेतु मूल धर्मगुण हैं[3]। अलंकार काव्य की शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म हैं[4]। स्पष्ट है कि गुण के अभाव में काव्य में सौन्दर्य नहीं रह सकता। अलंकार काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। वे काव्य में शोभा के रहने पर ही उसकी वृद्धि कर सकते हैं। गुण और अलंकार की पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध में भोज की धारणा वामन की धारणा से मिलती जुलती है। भोज ने रस के अवियोग की तरह गुण के योग को काव्य में नित्य माना है किन्तु, अलंकार योग अनित्य माना है[5]। उनकी मान्यता है कि गुणवत् काव्य में ही अलंकार

१- अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः।
अलंकारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता मताः।।

- नाट्यशास्त्र, १७।९८, पृ० ३०३

२- काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।

- काव्यादर्श, २।१, पृ० ७०

३- काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।

- का० सू० वृ० ३।१।१, पृ० ११३

४- तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

- का० सू० वृ० ३।१।२, पृ० ११६

५- नित्यो हि काव्ये गुणयोग इव रसावियोगः।
- पं० परि० पृ० ९८४

कदाचिदलंकारयोगोऽपि त्यज्यते। न तु रसावियोगः गुणयोगश्च
व्यभिचरितसम्बन्धाविति।

- सरस्वती०, पंचम परि०, पृ० ९८४

रहता है । अत: काव्य में जहां कहीं अलंकार की सत्ता रहेगी वहां गुण के साथ उसका संकर अवश्य होगा । वामन की तरह भोज ने भी गुण को काव्य का अनिवार्य अङ्ग मानकर उसे अलङ्कार से अधिक महत्व दिया है । गुण हीन काव्य अलंकृत होने पर भी सुन्दर नहीं होता[1]। आनन्दवर्धन ने भी अलंकार और गुण का भेद आश्रयभेद के द्वारा स्पष्ट किया है । उनके अनुसार गुण आत्मा के धर्म हैं । वे काव्य के आत्मभूत रसादिरूप अर्थ में रहकर उसका उत्कर्ष करते हैं । अलंकार मानव शरीर के कटक कुंडल आदि आभूषण की तरह हैं । वे काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को आभूषित करते हैं[2]। मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में दोषरहित, गुण सहित तथा प्राय: सालङ्कार किन्तु, कभी-कभी अलङ्कार रहित शब्दार्थ को काव्य माना है[3]। वे अलंकार हीन शब्दार्थ को काव्य मानते हैं किन्तु, काव्य पद की प्राप्ति के लिए शब्दार्थ का सगुण होना आवश्यक मानते हैं ।

स्पष्टत: सभी आचार्यों ने गुण और अलंकार में भेद निरूपित किया है । यह भेद अधिकांशत: आश्रय भेद के रूप में है । जहां इन दोनों में साम्य दिखाया गया है वहां यही कहा गया कि ये दोनों ही काव्य के शोभाधायक धर्म हैं । विद्यानाथ ने भी प्राचीन आचार्यों के मत का ही अनुसरण करते हुए गुण तथा अलंकार में साम्य और वैषम्य स्वीकार किया है ।

१- अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयो: ।।

- सरस्वती० १। ২५, पृ० ४९

२- तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा: स्मृता: ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा: मन्तव्या: कटकादिवत् ।।

- ध्वन्यालोक २।६, पृ० २१६

३- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि ।

- काव्यप्रकाश १। सू० १ पृ० १९

गुण और रीति–

विद्यानाथ ने काव्य प्रकरण में रीतियों का उल्लेख करते हुए गुणों से उनके सम्बन्ध का उल्लेख किया है । वे वैदर्भी आदि रीतियों को शब्द-गुणों पर आश्रित मानते हैं[1]। उन्होंने रीति के स्वरूप के बारे में कहा, गुणों से आश्लिष्ट पदों की रचना को आचार्यों ने रीति माना है[2]। यहां विद्यानाथ ने गुणात्मक पद-रचना को रीति कहा । अर्थात् उनके अनुसार पद-रचना ही रीति है जिसका आधार गुण है । विद्यानाथ की यह धारणा वामन तथा दण्डी से मिलती जुलती है । दण्डी के अनुसार गुण रीति नियामक हैं । उनके अनुसार दस गुण मार्ग विभाजक अलंकार हैं[3]। वामन ने भी गुण से युक्त विशिष्ट पद रचना को रीति कहा[4]। भोज के अनुसार भी गुणवत् रचना ही रीति है[5]। इसीलिए भोज गुणों के विपर्यय में रीति का भङ्ग मानते हैं । विद्यानाथ ने प्राचीन आचार्यों के समान ही गुण के आधार पर रीति की स्थिति स्वीकार की है, न कि रीति के आधार पर गुण की । गुण प्रकरण में विद्यानाथ ने रुद्रभट्ट की धारणा को स्वीकार करते हुए गुण को संघटनाश्रित माना है । यही कारण है कि उन्होंने अर्थगत गुणों को अस्वीकार कर दिया है ।

१- वैदर्भ्यादिरीतीनां शब्दगुणाश्रितानामथ - - - - ।

- प्रताप०, काव्य प्रकरण, पृ० ८१

२- रीतिनाम गुणाश्लिष्टपदसंघटना मता ।

- प्रताप०, काव्य प्रकरण, पृ० ८१

३- कश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।

- काव्यादर्श, २।३, पृ० ७२

४- विशिष्टपदरचना रीतिः ।

- का० सू० वृ० १।२।७, पृ० १६

५- गुणवत्पदरचना रीतिः ।

- सरस्वती०, रत्नेश्वर, द्वि० परि०, पृ० १४७

गुण और रस -

विधानाथ ने गुणों को केवल शब्दगत माना है । वे उसे आनन्दवर्धन की भांति रसधर्म नहीं मानते । यही कारण है कि उन्होंने आनन्दवर्धन के तीन गुणों को न स्वीकार कर प्राचीन आचार्यों के श्लेषादि गुणों को मान्यता दी है । किन्तु, काव्य प्रकरण में विधानाथ ने गुणों को शौर्यादिवत् कहा है[1]। जिसमें आनन्दवर्धन की गुणालङ्कार धारणा की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है । ध्वनिकार के अनुसार, जिस प्रकार शरीर में शौर्यादि गुण आत्मा के आश्रय में रहते हैं उसी प्रकार काव्य में रस आदि अङ्गी का आश्रय लेकर गुणों की स्थिति होती है । ध्वनि सम्प्रदाय के ही आचार्य मम्मट ने भी कहा, गुण तो काव्य के आत्मा रूप अङ्गी रस के धर्म हैं तथा उसका निश्चय रूप से उत्कर्ष करते हैं । काव्य में इनकी स्थिति उसी प्रकार है जैसे शरीर में शौर्य की[2]। विधानाथ ने भी व्यंग्यमेव (रसादि) को शब्दार्थ शरीर की आत्मा कहा और गुणों को आत्मा का उत्कर्ष करने वाले शौर्यादि गुणों की भांति कहा । इस कथन के आधार पर टीकाकार कुमारस्वामी ने यह माना है कि विधानाथ प्राचीन आचार्यों के गुण सिद्धान्त के अनुयायी होने

१- श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः ।

- प्रतापरुद्र०, काव्य प्रकरण, पृ० ५४

२- ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।

- काव्यप्रकाश, ८ । सू० ८६, पृ० ३८०

पर भी हृदय से आनन्दवर्धन की मान्यता के पक्षपाती थे[1]। स्पष्ट है कि विद्यानाथ के विचारों में विसंगतियां हैं। यदि गुण को केवल शब्द-धर्म माना जाये जैसा कि गुण प्रकरण में कहा है तो उसे शौर्यादि की तरह आत्मा का उत्कर्ष-साधक कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुत: विद्यानाथ आनन्दवर्धन की गुणधारणा की उपेक्षा नहीं कर सके थे।

-0-

१- वस्तुतस्तु भामहादिमतेनान्तर्भावे श्लेषादिगुणानां रसधर्मत्वम्। अलंकाराणां तु शब्दार्थधर्मत्वमिति विद्यत एव स्वरूपभेद इति रहस्यम्। अतएव स्वयमेवोक्तवान काव्यप्रकरणे -- हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय:। श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिता:।। आत्मोत्कर्षावहा:` इति।।

- प्रताप०, रत्नापण, पृ० ३६१

षष्ठ अध्याय

-०-

नायक विवेचन
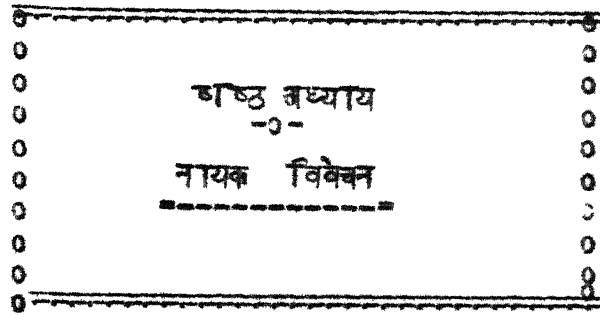
नायक

आचार्य विद्यानाथ ने नायक को नाटक प्रकरण से पृथक् लिखा है जोकि एक विलक्षण मार्ग है । अन्य आचार्यों ने नाटक प्रकरण में ही नायक का उल्लेख किया है । विद्यानाथ ने नायक प्रकरण की उपयोगिता बताते हुए किसी उत्तम चरित को प्रबन्ध का उदाहरण बनाने के लिये जोर दिया है । उनका कथन है कि पुण्यश्लोक, पवित्र कीर्ति वाले किसी महानुभाव के चरित को उदाहरण बनाना चाहिए, किन्तु प्राचीन आचार्यों ने अपने प्रबन्धों में किसी पुण्यश्लोक को आभरण नहीं बनाया है । यहां तक कि विद्यानाथ ने प्रबन्ध तथा प्रबन्ध निर्माताओं की कीर्ति और प्रतिष्ठा का कारण वर्णनीय नेता के गुण निरूपण को बताया है[1] ।

यथा राम के गुणों का वर्णन रामायण ग्रन्थ तथा आदि कवि वाल्मीकि की महाप्रतिष्ठा का कारण है । वैसे ही प्रतापरुद्र महापुरुष के गुणों का वर्णन भी प्रस्तुत प्रबन्ध की महाप्रतिष्ठा का कारण हो जायेगा । जैसे वेदशास्त्र एवं पुराण आदि से हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति होती है वैसे ही उत्तम पुरुष का आश्रयण करने वाले काव्य से भी हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति होगी[2] । महान् पुरुषों के चरित से उदार

१- यद्यप्यसौ प्रबन्धेषु प्राचां साधु निरूपिता ।
तथाप्यस्याः समं नेतुर्नोदाहरणमाहृतम् ॥ ५॥
पुण्यश्लोकस्य चरितमुदाहरणमर्हति ।
न कश्चित्तादृशः पूर्वैः प्रबन्धाभरणीकृतः ॥ ६ ॥
प्रबन्धानां प्रबन्धृणामपि कीर्तिप्रतिष्ठयोः ।
मूलं विशेष्यभूतस्य नेतुर्गुणनिरूपणम् ॥ ७ ॥ प्रताप०,नायक प्र०, पृष्ठ ७

२- यथा रामगुणवर्णनं रामायणवाल्मीकिजन्मनोर्महाप्रतिष्ठाकारणं, तथा महापुरुष वर्णनेन हि श्रेयस्करी प्रबन्धस्थितिः । यथा वेदशास्त्रपुराणादेर्हितप्राप्तिरहितनिवृत्तिश्च, तथा सदाश्रयात् काव्यादपि ।

— प्रताप०, नायक प्र०, पृ० ८

आचरण सुनने को मिलते हैं अत: जिस काव्य में उत्तम पुरुषों के चरित का उपनिबन्धन नहीं है वह काव्य नि:सन्देह परित्याज्य है । ऐसे ही काव्यों के सम्बन्ध में कवि लोग स्मरण करते हैं कि काव्य विषयक आलापों को वर्ज देना चाहिये[1]। यह केवल काव्य ही नहीं सभी शास्त्रों के बारे में है । वैशेषिक आदि शास्त्र जगत् में इसलिए पूज्य है क्योंकि वे ईश्वर के महाप्रतिष्ठापक हैं । उसी प्रकार महाभारतादि प्रबन्धों का भी महापुरुषों के चरित के वर्णन करने के कारण ही विश्व में उत्कर्ष है[2]। वेदान्तों का भी परम उत्कर्ष ब्रह्म के प्रतिपादन से ही है[3]। इसीलिए प्रतापरुद्रदेव के गुणों का आश्रयण करके बनाया गया अलङ्कार प्रबन्ध सज्जनों के कानों के लिये उत्सव हो । काकतीय राजा के यश को अलंकृत करने के लिये की गयी यह विद्यानाथ की कृति स्वयं उनके यश से अलंकृत हो रही है[4]।

इस तथ्य को दण्डी ने भी कहा है कि आदि राजा इस लोक में सर्वप्रथम राजा मनु के यश के प्रतिबिम्ब ने आदर्श स्थानीय वाङ्मय को जो प्राप्त

१- यत्र पुनरुत्तमपुरुषाचरितं न निबध्यते, तत् काव्यं परित्याज्यमेव । तन्मूला चेयं स्मृति:-काव्यालापांश्च वर्जयेत इति ।

- प्रताप० ना० प्र०, पृ० ९-१०

२- न केवलं काव्यस्यायं पन्था: । किन्तुशास्त्रजातस्यापि सदाश्रयत्वेन महान् लोकादर: । तथा वैशेषिकादेरीश्वरप्रतिष्ठापकतया जगत्पूज्यता । तथा महाभारतादीनामपि महापुरुषवर्णनपरतयैव विश्वातिशायित्वम् ।

- प्रताप० नायक,प्र०, पृ० १०

३- वेदान्ता अपि ब्रह्मप्रतिपादकतया परमुत्कृष्यन्ते ।

- प्रताप० नायक प्र०, पृ० १०

४- प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मित: ।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्त: कर्णोत्सवोऽस्तु ।। ६ ।।

- प्रताप० नायक प्र०, पृ० ११

कर लिया है उसी का यह प्रतिफल है कि आज भी नष्ट नहीं हो रहा है[1]। प्रतिपाद्य की महिमा से ही प्रबन्ध की महिमा है । इस तथ्य को प्राचीन आचार्य भामह ने भी कहा है - प्रशंसनीय व्यक्ति के माहात्म्य से ही काव्य सम्पत्तियां उज्ज्वल होती हैं[2]। उद्भट ने भी यही कहा है कि गुण एवं अलंकारों से सुन्दर हुआ भी काव्य महान् पुरुष के आश्रय से अधिक सुन्दर हो जाता है। जैसे सुवर्ण पर्वत मेरु के आश्रयण से अमरद्रुम देवदारु पूजनीय हो गया है[3]। रुद्रभट्ट ने भी कहा है कि उदार पुरुषों के चरित से ही प्रबन्ध की प्रतिष्ठा है[4]। इसी बात का प्रपञ्चन साहित्यमीमांसा में भी किया गया है कि नायक के संसार के प्रवाह को आगे ले जाने वाले नेता के गुणों (रज्जु) से गुंथी हुई पुण्यात्माओं की सूक्ति मालाएं कल्प पर्यन्त स्थायी होने में समर्थ होती हैं[5]। भोजराज ने भी इसका निरूपण किया है कि कवि की थोड़ी भी वाणी विद्वानों के लिए कर्णाभूषण बन जाती है। यदि उस वाणी के द्वारा सर्वसाधारण की अपेक्षा

१- तदुक्तं दण्डिना -

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ।। इति

२- सैकैव प्रतिपाद्यमहिम्ना प्रबन्धमहत्ता । तदुक्तं प्राचा भामहेन --
`उपश्लोक्यस्य महात्म्याडुज्ज्वला: काव्यसम्पद: ।` इति ।

३- प्रतिपादितं चोद्भटेन -- `गुणालङ्कारचारुत्वयुक्तमप्यधिकोज्ज्वलम् ।
काव्यमाश्रयसंपत्त्या मेरुणेवामरद्रुम: ।। इति

- प्रताप० नायक प्र०, पृ० १२-१३

४- रुद्रभट्टेनापि कथितम् - `उदारचरितनिबन्धना प्रबन्धमहाप्रतिष्ठा`
इति ।

- प्रताप० ना० प्र०, पृ० १३

५- प्रपञ्चितं च साहित्यमीमांसायाम् - `नायकगुणग्रथिता: सूक्तिस्रज:
सुकृति नामाकल्पमाकल्पन्ति इति ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १३

उत्कृष्ट गुणों से युक्त उत्तम नायक का वर्णन किया गया हो[1]। अत: जहां नायक के कुल, आचार, सौजन्य, तेज आदि का वर्णन रहता है वही काव्य आचार्यों द्वारा सम्मत है[2]। अथवा कहीं पर यह भी मत है कि प्रतिपक्ष शत्रु के बहुत गुणों का वर्णन करके पुन: उसे जीत लेने से जहां प्रकृत नायक के उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है वह काव्य श्रेष्ठ है[3]।

स्पष्ट है कि उत्कृष्ट गुणशाली नायक का वर्णन काव्य में होना चाहिए जिससे प्रबन्ध तथा प्रबन्धकर्ता दोनों का ही यश बढ़ता है। इस प्रकार विद्यानाथ ने विस्तृत उदाहरण देकर नायक प्रकरण का औचित्य स्पष्ट किया है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजा का चरित्र जिसमें हो वह अभिनेय काव्य है। चरित्र की ख्याति प्रधान नायक की दृष्टि से ही होती है। इसलिए शोभाधान के लिए उस प्रधान नायक के अनुयायी अप्रसिद्ध चरित्र भी नाटक में उपनिबद्ध किये जाते हैं। इसलिए बहुत से राम काव्यों में सीताहरण तथा पुन: प्राप्ति के युद्धों में गौण पात्र भी पाये जाते हैं[4]।

१- निरूपितं च भोजराजेन - कवेरल्पाऽपि वाग्वृत्तिर्विद्वत्कर्णावतंसति।
नायको यदि वर्ण्येत लोकोत्तर गुणोत्तर:।। इति।
- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १३

२- कुलाचारयश: शौर्यश्रुतशीलादिवर्णनम्।
क्रियते नेतुरेव यत्तदेव बहुसम्मतम्।। ६७।।
- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ५१

३- अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून्।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित्।। ६८
- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ५१

४- ख्यातार्थराजस्य चरितं यत्रेत्यन्यपदार्थ:। - - - - चरितख्यातत्वं च प्रधानचरितापेक्षया। ततस्तदनुयायीनि शोभकत्वार्थख्यातान्यपि चरितानि क्रियन्ते। तेन बहुषु रामप्रबन्धेषु सीताहरणानयनोपायानां युद्धानां गौण पात्राणि।
- ना० द०, प्र० वि०, पृ० १८

नाट्यदर्पणकार के अनुसार नाटकों में केवल पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजाओं को ही नायक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है वर्तमान या भविष्य के राजाओं को चरित नायक के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिये।[१]

अभिनवभारती के प्रथम अध्याय में इस विषय की विवेचना विस्तार से की है। भरत ने 'तदन्ते नुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः' श्लोक में इन्द्र की सभा में देवताओं द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने के कथानक के अभिनय किये जाने की बात लिखी है। इस आधार पर किन्हीं पूर्ववर्ती टीकाकारों ने यह परिणाम निकाला है कि अपने स्वामी राजा आदि को प्रसन्न करने के लिये कभी-कभी उनके चरित्र का भी अभिनय उनको दिखाना चाहिए। परन्तु अभिनवगुप्त इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए उन्होंने प्रथम अध्याय की ५७ वीं कारिका की व्याख्या के प्रसंग में इस प्रश्न को उठाकर उसका खण्डन किया है। जिसका अभिप्राय है कि प्रभुराजादि को प्रसन्न करने के लिए कभी-कभी उसके चरित्र का अभिनय उसको दिखाना चाहिए ऐसा जो लोग मानते हैं उनका कथन उचित नहीं है। क्योंकि दशरूपकों के लक्षण में कुछ नाटकादि प्रसिद्ध चरितवाले माने जाते हैं और समवकार आदि कुछ भेद उत्पाद्य-चरित अर्थात् कल्पित चरित्र के आधार पर निर्मित माने गये हैं। वर्तमान राजादि का चरित्र इन दोनों में किसी श्रेणी में नहीं आता है अतः उसका अभिनय उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में दूसरी उक्ति है कि वर्तमान चरित्रों में देखने वालों का रागद्वेष माध्यस्थ्य आदि होने से उनका न मनोरंजन होगा और न उनको कोई शिक्षा ही मिलेगी। अर्थात् नाटक के दोनों ही प्रयोजन व्यर्थ हो जायेंगे अतः वर्तमान चरित का अभिनय नहीं करना

१- आद्येति पूर्वः, तेन वर्तमानभविष्यतोर्निरासः। कविना हि रञ्जनार्थं किञ्चित् सदप्युपेक्ष्यते, किञ्चिदसदप्याद्रियते। वर्तमाने च नेतरि तत्कालप्रसिद्धिबाधया रसहानिः स्यात्। पूर्वमहापुरुषचरितेष्वु च अश्रद्धानं स्यात्। भविष्यस्तु वृत्तं चरितमपि न भवति।

— ना० द०, प्र० वि०, पृ० १६

चाहिए। इसी विषय में अभिनवगुप्त ने तीसरी युक्ति यह दी है कि वर्तमान चरित में यदि धर्मादि का फल तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है तो नाटक के प्रयोग का कोई लाभ सामाजिक को नहीं मिलता है और यदि धर्मादि फल का प्रत्यक्ष नहीं होता तो उससे कोई शिक्षा नहीं मिल पाती है। अत: वर्तमान चरित का अभिनय उचित नहीं है[1]। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी वर्तमान चरित्र के अभिनय को अनुपयुक्त ठहराया है। यद्यपि उनकी युक्तियां अभिनवगुप्त की युक्तियों से भिन्न हैं[2]। किन्तु विद्यानाथ ने उपर्युक्त खण्डनों के बावजूद भिन्न-भिन्न आचार्यों का उदाहरण देकर तथा तर्कों के द्वारा राजा के चरित्र वर्णन को उचित ठहराया है। विद्यानाथ ने शृङ्गार प्रधान नायिकाओं के वर्णन के पश्चात् पुन: काव्य में उत्तम चरित का वर्णन करने के लिये ज़ोर दिया है कि रसों के समन्वयकारी विन्यास से युक्त काव्य में गुण एवं अलंकारों का विलास शब्द और अर्थ से स्फुरित होने पर हृदय के लिए अतीव आनन्ददायक होता है। उस आनन्ददायक काव्य में भी

१- प्रभुपरितोषाय प्रभुचरितं कदाचिन्नाट्ये वर्णनीयमिति, यथा दैत्या: सुरैर्जिता: इत्येतस्माल्लभ्यत इति केचिदाहु:। तदसत्। दशरूपक लक्षण युक्ति विरोधात् तत्र हि किञ्चित् प्रसिद्धचरितं, किञ्चिदुत्पाद्य चरितमिति कथ्यते। न च वर्तमान चरितानुकारौ युक्तौ, क्रियानां तत्र रागद्वेषमध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतिसाक्षेत व्युत्पत्तेरप्यभावात्। वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्मफलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम्। अप्रत्यक्षत्वे भविष्यति प्रमाणाभावात्, इति न्यायेन व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम्। एतच्च दशरूपकाध्याय वितनिष्याम इत्यास्तां तावत्।

- अभि० भारती, १।५७ पृ० १४५-४६

२- राजेति दात्रियमात्रं - - - - - - - - - - - - न ते सम्यगमंसतेति।

- ना० द०, प्र० वि०, पृ० २०

झरते हुए अमृत के माधुर्य से सुभग एवं पुण्यश्लोक प्रशंसनीय यशवाले वीररुद्र नृपति (उत्कृष्ट नायक) का अनुबन्धनकारी उन्मेष सबसे उत्कृष्ट है[1]।

उपस्कार (सुन्दरता) के हेतु एवं उसके अतिशय का सम्पादन करने वाले गुण एवं अलंकारों का प्रयोजन तभी सम्पादित होगा जब निर्माणीय ग्रन्थ में गुणों के सदृश गुणनीय और अलंकारों के सदृश अलंकार्य कोई उत्तम पुरुष होगा। तथा उस उत्तम पुरुष का वर्णन करने वाला ललितोचितविन्यास प्रधान शब्दार्थ युगलात्मा काव्य होगा।

लोकन्याय के अनुसार जो अलंकार जिस अंग में धारण किया जाता है वह उसी अंग का अलंकार होता है तथा उसका जो आश्रय है वही अलंकार्य माना जाता है। इससे उत्तम पुरुष सम्बन्धी वर्णना प्रधान काव्य ही गुण एवं अलंकारों का आश्रय है[2]। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने रसादि को अलंकार्य माना है। तथापि जिस प्रकार हारनूपुरादि के द्वारा अलंकार्य शरीर ही है, किन्तु निर्जीव या आत्मा रहित शरीर शरीर नहीं होता उसमें प्रधान आत्मा है, इसलिये प्रधान की मान्यता के आधार पर आत्मा को अलंकार्य कहा जाता है, उसी प्रकार गुण, रीति, अलंकार, दोषाभाव और वृत्तियों की अपेक्षा रस ही प्रधान है। अत: प्रधानता का अनुरोध करके ही रस को अलंकार्य कहा जाता है। वस्तुत: अलङ्कार्य काव्य ही है। रसादि को काव्य की आत्मा कहने में उनके कारण काव्य का जीवित होना ही हेतु है। उनमें कहीं पर रस प्रधान है कहीं पर अलंकार प्रधान है

१- गुणालङ्काराणां रसमहति काव्ये विलसितं,
स्फुरच्छब्दार्थाभ्यां तदपि हृदयानन्दि भवति।
तयोरप्युन्मेषः प्रवदमृतमाधुर्यसुभगः,
परं पुण्यश्लोकं चरितमनुबन्धन् विजयते ॥

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४४-४५

२- उपस्कारहेतूनां गुणालंकाराणां सदृशेऽलंकार्ये सति चरितार्थत्वम्।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४६

कहीं पर वस्तु की प्रधानता है[1]।

गुण और अलंकार से युक्त काव्य की शब्द अर्थ तथा शब्दार्थोभय के स्फुरण से सुन्दरता होती है। त्रिविध स्फुरणों[2] से युक्त तथा त्रिविध ध्वन्यात्मक काव्य सहृदयों के हृदय को तभी आनन्द देते हैं जब उनमें किसी श्रेष्ठ नायक का वर्णन होता है[3]। जहां नायक के कुल, आचार यश शौर्य श्रुत शील सौजन्य तेज आदि का वर्णन रहता है वही काव्य आचार्यों द्वारा सम्मत है[4]।

१- उपस्कारहेतूनां गुणालङ्काराणां सद्भावेऽलंकार्ये सति चरितार्थत्वम् यस्यालंकाराश्रयत्वं तदेव लोकन्यायेनालंकार्यम्। तेन गुणालंकाराणां काव्यमेवाश्रयभूतमिति तदेवालंकार्यम्। रसादेरलंकार्यत्वोक्तिः प्राधान्येनात्मन इव हारनूपुराद्यलंकार्यत्वम्। जीवितभूतत्वाद्रसादेः काव्यात्मता। क्वचिद्र-
सस्य प्राधानम्। क्वचिदलंकारस्य प्राधानम्। क्वचिद्व-
स्तुनः प्राधान्यं च।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४६

२- शब्दस्यस्फुरणं नाम प्रौढबन्धस्यडम्बरः। अचुम्बितार्थसम्पत्तिरर्थस्फुरणमिष्यते।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४८-४९

३- काव्यमाश्रित्य गुणालंकाराणां विलासः। तच्च काव्यं शब्दस्फुरणेनार्थस्फुरणेन तदुभयस्फुरणेन च सहृदयहृदयानन्दि भवति।। शब्दार्थ तदुभयेषामपि पुण्यश्लोकचरितवर्णनेन सहृदयहृदयानन्दित्वम्। अतो नायकस्यैव काव्ये प्राधान्यम्।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४८-५०

४- कुलाचारयशः शौर्यश्रुतशीलादिवर्णनम्।
क्रियतेनेतुरेवं यत्तदेव बहुसम्मतम्।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ५१

अथवा कहीं पर यह भी मत है कि प्रतिपक्ष (दुश्मन) के बहुत गुणों का वर्णन करके फिर उसके जीत लेने से जहां प्रकृत नायक के उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है वह काव्य श्रेष्ठ है ।

विद्यानाथ ने प्रतापरुद्र को भगवान का अवतार माना है और उन्हें ही अपने ग्रन्थ का नायक बनाया है । उनका कथन है कि जिस प्रकार नायक के गुण और स्वरूपादि का वर्णन होना चाहिए वह वर्णन किसी कृत्रिम राजा नायक के वर्णन में संभव नहीं होता । अत: इसके लिये प्रसिद्ध नायक के कुल का नाम ग्रहण करके वर्णन करना चाहिए । इस प्रकार के नायक को वह स्वत: सिद्ध कहते हैं । कृत्रिम नायक को उत्पाद्य नायक कहा है । इस प्रकार स्वत: सिद्ध और उत्पाद्य भेद से नायक दो प्रकार के होते हैं[1] ।

नायक के गुण :-

विद्यानाथ ने नायक के निम्नलिखित गुण बतलाये हैं -- महाकुलीनता, उज्ज्वलता, महाभाग्यता, उदारता, तेजस्विता, विदग्धता और धार्मिकता आदि[2]। जिन्हें पूर्वाचार्यों ने भी बताया है । विद्यानाथ ने पूर्वाचार्यों

१- एवंविधवर्णनमुत्पाद्ये नायके न घटते । तस्य लोकप्रसिद्धयर्थं कुलव्यपदेशादयो बहुधा वर्णयितुमेवोचिता: । स्वत:सिद्धे तु नायके द्वैविध्यमपि संभवति । तस्य कुलव्यपदेशादीनां लोकप्रसिद्धत्वात् कविभिर्बलवत्प्रतिपक्षविजयवर्णनं युक्तम् । एवं स्वत: सिद्धोत्पाद्यभेदेन नायकस्य द्वैविध्यम् ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ५१

२- महाकुलीनतौज्ज्वल्यं महाभाग्यमुदारता ।
तेजस्विता विदग्धत्वं धार्मिकत्वादयो गुणा: ।।
पूर्वशास्त्रानुसारेण कतिचित् कथिता इमे ।
प्रतापरुद्रदेवस्य गुणा वाचामगोचरा: ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १३-१४

नाट्यदर्पणकार, और भरत के ही नायक गुण कथन को शब्द भेद के साथ उद्धृत किया है। नायक के गुणों की व्याख्या करते हुए विद्यानाथ कहते हैं -महानकुल में उत्पन्न होने का नाम ही महाकुलीनता है। देह की रूप सम्पन्नता को औज्ज्वल्य कहते हैं। पृथ्वी का भरण-पोषण करने का जो आधिपत्य है उसे महाभाग्य कहते हैं। दान करने के स्वभाव को औदार्य कहते हैं। जगत्प्रकाशन कर्तृत्व को तेजस्विता कहते हैं। कर्तव्य कार्यों में जो प्रयोग कुशलता है उसे वैदग्ध कहते हैं। जिसका चित्त एकमात्र धर्म के ही आयत्त हो उसे धार्मिक कहते हैं। आदि पद से महामहिमत्व एवं पाण्डित्य प्रभृति गुणों का निदर्शन है। व्यक्ति का देवता स्वरूप हो जाना महामहिमत्व है। समस्त विद्याओं में जो आधिक्य है वह पाण्डित्य कहलाता है[1]।

नाट्यदर्पण में नायक के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है - मुख्य नायक में उनके सत्व से उत्पन्न तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्थिरता, गम्भीरता, उदारता, लालित्य ये आठ गुण रहते हैं[2]। सागरनन्दी के अनुसार नायक के गुण इस प्रकार हैं -- नायक के सहज शारीर गुण आठ होते हैं शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य तथा तेज[3]। वस्तुत: आचार्य भरत द्वारा वर्णित नायक

१- महाकुलीनता नामकुले महति सम्भव: ।- - - रूपसम्पन्नदेहत्वमौज्ज्वल्यं परिकीर्त्यते ।- - - - विश्वंभराधिपत्यं यत्तन्महाभाग्यमुच्यते ।।- - - यद्वित्राणनताशीलत्वमौदार्यं तन्निगद्यते ।- - -जगत्प्रकाशकत्वं यत्तेजस्वित्वं तदुच्यते ।- - -कृत्यवस्तुषु चातुर्यं वैदग्ध्यं परिकीर्त्यते ।- - धर्मैकायत्तचित्तत्वं धार्मिकत्वमुदीर्यते ।- - -आदिग्रहणान्महामहिमत्वपाण्डित्यप्रभृतय: ।यथा- तन्महामहिमत्वं स्याद्या पुनर्देवतात्मता ।- - सर्वविद्याधिकत्वं यत् पाण्डित्यं --

- प्रताप०, ना० प्र०,पृ० १४-१६

२- तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गम्भीरता ।
औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्वजा: ।।

- नाट्यदर्पण, ४।१६१, पृ० ३७२

३- एतास्वेव वृत्तिषु नाटकादौ नायकस्याष्टौ महागुणा: प्रदर्श्यन्ते ।
तद्यथाचार्य: - शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
ललितौदार्यतेजांसि सत्वभेदास्तु पौरुषा: ।।

- ना० ल० र० को० १४०, पृ० १३६

के आठ गुणों का ही उल्लेख परवर्ती आचार्यों ने कुछ हेर फेर के साथ किया है[1]।

नायक का स्वरूप -

नायक के गुणों के निरूपण के बाद विद्यानाथ ने नायक के स्वरूप का निरूपण किया है - यश (विद्या वैभव) प्रताप से सुभग । धर्म, अर्थ, काम में तत्पर, राज्य की धुरा को धारण करने वाला गुणाढ्य (नायकनायिकोभय साधारण गुण एवं पुरुष मात्र नियत शोभादि आठ गुणों से सम्पन्न)नायक कहलाता है[2]।

रुद्रट के अनुसार - रति उपचार में चतुर, कुलीन, रूपवान,नीरोग, स्वाभिमानी, सुन्दर और उज्ज्वल परिधान धारण करने वाला, सौम्य चेष्टाओं से युक्त, स्थिर-प्रकृति, ऐश्वर्यवान्, कलाओं में दक्ष, तरुण, त्यागी, मधुर-भाषी, चतुर तथा गम्यानारियों का विश्वास करने वाला व्यक्ति शृङ्गार रस का नायक होता है[3]।

१- शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ पौरुषाः सात्विका गुणाः ।।

- ना० शा० २४।३१, पृ० २७१

२- यशः प्रतापसुभगो धर्मकामार्थतत्परः ।
धुरंधरो गुणाढ्यश्च नायकः परिकीर्तितः ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २१

३ - रत्युपचारे चतुरस्तुङ्गकुलो रूपवानरुङ्मानी ।
अग्राम्योज्ज्वलवेषोऽनुल्बणचेष्टः स्थिर प्रकृतिः ।।
सुभगः कलासु कुशलस्तरुणस्त्यागी प्रियंवदो दक्षः ।
गम्यासु च विस्रम्भी तत्र स्यान्नायकः स्यातः ।।

- काव्यालङ्कार १२ । ७-८, पृ० ३७६

दशरूपककार के अनुसार नायक का स्वरूप इस प्रकार है - नेता विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान् प्रज्ञावान्, स्मृतिसम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए[1]।

नाट्यदर्पण के अनुसार नायक का लक्षण इस प्रकार है - प्रधान फल को प्राप्त करने वाला, व्यसन से रहित मुख्य नायक होता है। व्यसन का अर्थ है स्त्री आदि के प्रति आसक्ति अथवा विपत्ति[2]।

सागरनन्दी के अनुसार- नायक वह होता है जो 'बीज' बिन्दु आदि से युक्त नाटक को पूर्णता की ओर ले जाकर नेतृत्व करे तथा धर्म, अर्थ या काम की उपलब्धियों का अधिकारी या भोक्ता होता है। अर्थात् जो नाटक के मूल उद्देश्यों से अतिशय सामीप्य रखते हुए सारे कार्यों को सिद्ध करता या पूर्ण करता हो उसे नायक समझना चाहिए[3]।

१- नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरोयुवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामान समन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥

- दशरूपक, २।१-२, पृ० १०६

२- प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः । व्यसनं स्त्र्याद्यासक्तिः विपद्वा ।

- नाट्यदर्पण, ४। १६०, पृ० ३७२

३- नायका इति । बीजबिन्द्वादिसंवलितस्य नाटकस्य नाट्यमन्तं नयतीति नायकः । स एव धर्मकामार्थफलभाग् भवति ।

- ना० ल० र० को०, पृ० २७

रुद्रभट्ट ने नायक को त्यागी, कुलीन, रतिकार्यों में कुशल, कला, कलाकार, युवा, धनाढ्य, भव्य, क्षमाशील, सुन्दर, अभिमानी और स्त्रियों के मन को जानने वाला बताया है[1]।

नायक के भेद -

नायक-नायिका भेद की दृष्टि से काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के दो वर्ग हैं --

१- शृङ्गार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ - इन ग्रन्थों में रुद्रट का काव्यालङ्कार, भोज का सरस्वतीकंठाभरण और शृङ्गारप्रकाश, रुद्रभट्ट का शृङ्गारतिलक आदि ग्रन्थ आते हैं।

२- केवल नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ जैसे भानुमिश्र का रसमंजरी और रूपगोस्वामी का उज्ज्वलनीलमणि। विद्यानाथ का ग्रन्थ प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आता है। जिसमें उन्होंने दो प्रकार से नायक भेद किया है। प्रथम- विशेष गुणों के आधार पर तथा द्वितीय नायक के नायिका के प्रति प्रेम व्यवहार के आधार पर। विद्यानाथ ने नायकों के गुण एवं स्वरूप निरूपण के पश्चात् ' ' नायक विशेषों का निरूपण किया है। ये नायक चार प्रकार के होते हैं, जिनके पूर्व में धीर शब्द का प्रयोग होता है जैसे - उदात्त, उद्धत, ललित एवं शान्त[2]। इस प्रकार धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीर-शान्त ये चार इनके नाम हैं। नाट्यदर्पण के अनुसार नायक के धीर विशेषण से युक्त उद्धत, उदात्त, ललित और प्रशान्त चार प्रकार के स्वभाव केवल मध्यम

१- त्यागी कुलीन: कुशलो रतेषु कल्प: कलाविततरुणोधनाढ्य: ।
भव्य: क्षमावान्सुभगोऽभिमानी स्त्रीणां मतज्ञ: किल नायक: स्यात् ।।

- शृङ्गारतिलक, १।२७, पृ० ७

२- उदात्त उद्धतश्चैव ललित: शान्त इत्यपि ।
धीर पूर्वा इमे पूर्वैश्चत्वारो नायका: स्मृता: ।।

- प्रतापरु०, ना० प्र०, पृ० २४

तथा उत्तम दो रूपों में ही वर्णन करने चाहिए[1]। धीर का अर्थ है धैर्य युक्त अर्थात् भारी विपत्ति में भी न घबड़ाने वाला[2]। इस प्रकार धीर शब्द का अर्थ है अकातरत्व[3]। वह चारों नायकों में समान रूप से रहता है।

आचार्य भरत ने स्त्री पुरुषों की प्रकृति तीन प्रकार की बताई है - उत्तम, मध्यम तथा अधम। मध्यम तथा उत्तम प्रकृति के नायक के चार प्रकार बताये हैं -- धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त, धीरप्रशान्त[4]। आचार्य भरत के बाद रुद्रट का काव्यालङ्कार ही प्रथम काव्यशास्त्र है, जिसके नायक-नायिका भेद प्रकरण को मूलरूप में अपनाकर समय-समय पर परिवर्द्धन एवं परिष्करण होता रहा है। दशरूपक में भी नेता (नायक) के विशेष गुणों की दृष्टि से चार भेद किये गये हैं - धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत[5]।

१- उद्धतोदात्त-ललित-शान्ताधीरविशेषणाः।
वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतृणां मध्यमोत्तमाः ।।
- ना० द० १।६, पृ० २५

२- धीरो धैर्यं महाव्यसनेऽप्यकातर्यं - - - - - - ।
- ना० द०, पृ० वि०, पृ० २५

३- अकातरत्वं धीरशब्दस्यार्थः सर्वत्र समान एव।
- ना० द०, पृ० वि०, पृ० २८

४- समासस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ।।
पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा ।....
मध्यमोत्तमायां प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः ।।
धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः ।।
- नाट्यशास्त्र, ३४।१-२, १६-१७, पृ० ४५७-५८

५- भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् । -दशरूपक, द्वि०प्र०, पृ० ११२

नाट्यदर्पणकार ने भी नायकों के मध्यम तथा उत्तम के धीर विशेषण से युक्त उद्धत, उदात्त , ललित और शान्त चार प्रकार के स्वभाव बताये हैं[1]। इसी प्रकार सागरनन्दी ने भी नायक के प्रकृति भेद से धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त ये चार प्रकार बताये हैं[2]। विद्यानाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यों का ही अनुसरण किया है और कहा कि इन चारों धीरोदात्त आदि नायकों में शृङ्गारादि नवों रस साधारण रूप से रहते हैं[3]। इन धीरोदात्तादि नायकों के लक्षण इस प्रकार से बताये हैं --

१- धीरोदात्त -

धैर्ययुक्त, महासत्व, अतिगम्भीर, कृपावान्, अविकत्थन नायक धीरोदात्त कहलाता है। यह सर्वोत्कर्षशालिनी वृत्तिवाला होने से उदात्त होता है[4]। अत: धीरोदात्त नायक में क्रमोचित रस की सम्पूर्ति करनी चाहिए। अर्थात् धीरोदात्त नायक में हास्यादि तथा अन्य रसों का कीर्तन अनुभावों के मन्द उपम के

१- उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणा: ।
वर्ण्या: स्वभावाश्चत्वारो नेतृणां मध्यमोत्तमा: ।।

- ना० द०, १।६, पृ० २५

२- स खलु नायक: चतु: प्राकृतिक: धीरोद्धत:, धीरललित:, धीरोदात्त धीरप्रशान्तश्च ।

- ना० ल० र० को०, पृ० २७

३- तत्र सर्वरससाधारणाश्चत्वारो नायका: धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललित-धीरशान्ता: ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २५

४- महासत्वोऽतिगम्भीर: कृपावानविकत्थन: ।
प्रतापरुद्रवद्धीरो धीरोदात्त: स संमत: ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २५

द्वारा करना चाहिए[1]। दशरूपककार के अनुसार जो उत्कृष्ट अन्तःकरण वाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढ़व्रती हो वह नायक धीरोदात्त कहलाता है[2]। नाट्यदर्पण के अनुसार - धीरोदात्त नायक अत्यन्त गम्भीर, न्यायप्रिय, शोक-क्रोध आदि के वशीभूत न होने वाला, क्षमाशील, और स्थिर होता है[3]। सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त स्वभाव वाले नायक होते हैं[4]। आचार्य भरत और सागरनन्दी ने भी मन्त्री और सेनापति को धीरोदात्त स्वभाववाला बताया है[5]।

२- धीरोद्धत -

जिसमें दर्प, शौर्यादि मद एवं मात्सर्य, असहनशीलता बहुत अधिक है जिसकी वृत्तियां क्रूर हैं, जो आत्मप्रशंसा में तत्पर है, जो मायावी है और थोड़े में ही क्रोध करता है वह धीरोद्धत नायक कहलाता है[6]। धीरोद्धत नायक में बाह्य

१- कार्योऽतो रससम्पूर्तिस्तस्मिन्नप्युचितक्रमा ।।
हास्यादीनां तथान्येषां रसानामपि कीर्तनम् ।
मन्दोत्साहाभावं स्याद्धीरोदात्ते तु नेतरि ।।
- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २५

२- महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।
- दशरूपक, २।१६, पृ० ११६

३- धीरोदात्तोऽतिगम्भीरो न्यायी सत्त्वी क्षमी स्थिरः ।
- ना० द०, १।८, पृ० २८

४- - - - - धीरोदात्ताः सैन्येश मन्त्रिणः ।
- ना० द० १।७, पृ० २६

५- सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।
- ना० शा० ३४। १८, पृ० ४५८

- - - धीरोदात्तस्सेनापतिरमात्यश्च — ना० ल० र० को०, पृष्ठ २७

६- दर्पमात्सर्यभूयिष्ठश्चण्डवृत्तिविकत्थनः ।
मायावी लघुक्रोधः स धीरोद्धत उच्यते ।।
- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २६

संभ्रम (बाहरी तड़कभड़क) वाले रौद्र रस का वर्णन किया जाता है[1]। दशरूपककार के अनुसार जिसमें दर्प और मात्सर्य अधिक होता है, जो माया और कपट में तत्पर होता है और अहंकारी, चंचल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघा करने वाला है वह धीरोद्धत नायक है[2]। नाट्यदर्पणकार के अनुसार -- धीरोद्धत नायक अस्थिर चित्त, भयंकर, अभिमानी, छली, आत्मश्लाघी होता है[3]। देवता धीरोद्धत स्वभाव के नायक हो सकते हैं[4]। यही मान्यता सागरनन्दी की भी है[5]। आचार्य भरत ने भी देवता को धीरोद्धत स्वभाव का नायक माना है[6]।

३- धीरललित -

मित्र पुत्र और सचिव वगैरह के द्वारा राजकीय कार्यों के सम्पन्न कर देने से जो चिन्ता-रहित है अतएव नाना प्रकार की कलाओं में आसक्त है तथा

१- धीरोद्धते यथा रौद्रो वर्ण्यते बाह्य संभ्रम: ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ५२

२- दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायण: ।।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थन: ।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १२०

३- धीरोद्धतश्चलश्चण्डो दर्पी दम्भी विकत्थन: ।

- ना० द०, १।८, पृ० २८

४- देवा धीरोद्धता: - - - - - - - ।

- ना० द० १।७, पृ० २६

५- तत्र धीरोद्धता देवता - - - - - - - - - ।

- ना० ल० र० को०, पृ० २७

६- देवा धीरोद्धता ज्ञेया - - - - - - - - ।

- ना० शा० ३४।१८, पृ० ४५८

सुखी है और कोमल स्वभाव वाला है वह नायक धीरललित है[१]। धीरललित नायक में बहुविध भावकारी शृङ्गार रस का वर्णन किया जाता है[२]। दशरूपक के अनुसार-चिन्तारहित, कलाओं का प्रेमी, सुखी और कोमल स्वभाव वाला नायक धीरललित है[३]। विद्यानाथ ने इसका लक्षण शब्दश: दशरूपक से लिया है। नाट्यदर्पण में भी धीरललित का इसी प्रकार से वर्णन है — धीरललित नायक शृङ्गारप्रिय, कलाओं का प्रेमी, निश्चिन्त, सुखी और कोमल स्वभाव का होता है[४]। सागरनन्दी ने राजा को धीरललित नायक माना है[५]। आचार्य भरत भी राजा को धीरललित नायक मानते हैं[६]।

४- <u>धीरशान्त</u> -

जो धीर है, शान्त है एवं जिसका अन्त:करण प्रसन्न है वह धीरशान्त नायक कहलाता है[७]। कुमार स्वामी के अनुसार जो सत्कर्म एवं असत्कर्मों

१- निश्चिन्तो धीरललित: कलासक्त: सुखी मृदु: ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २७

२- - - - - - यथा च धीरललिते शृङ्गारोबहुभावकृत् ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ५२

३- निश्चिन्तो धीरललित: कलासक्त: सुखी मृदु: ।।

- दशरूपक, २।३, पृ० ११४

४- शृङ्गारी धीरललित: कलासक्त: सुखी मृदु: ।

- ना० द० १।६, पृ० २८

५- धीरललितो नृपति: - - - - - - ।

- ना० ल० र० को०, पृ० २७

६- - - - - - ललितास्तु नृपा: स्मृता: ।

- ना० शा०, ३४।१८, पृ० ४५८

७- धीर: शान्त: प्रसन्नात्माधीरशान्तो द्विजादिक: ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २८

का विवेचक है तथा क्लेश-सहिष्णु है वही धीर है[१]। दशरूपक में सामान्य गुणों से युक्त द्विजादि नायक को धीरप्रशान्त नायक कहा है[२]। नाट्यदर्पण में सर्वथा अहंकार रहित दयालु, विनयशील और नीति का अवलम्बन करने वाले को धीर-प्रशान्त नायक कहा गया है[३]। वणिक् तथा ब्राह्मण धीरप्रशान्त स्वभाव के होते हैं[४]। आचार्य भरत ने भी वणिक् और ब्राह्मण को धीरप्रशान्त स्वभाव का माना है[५]।

गुणों के आधार पर नायक का भेद करने के पश्चात् विद्यानाथ ने शृङ्गारी नायकों का निरूपण किया है। अर्थात् नायक का नायिका के प्रति प्रेमव्यवहार के आधार पर चार भेद किया है - अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ[६]।

१- विवेचक: क्लेशसहिष्णुर्वा धीर:। शमप्रधान: शान्त:।

- प्रताप०, रत्नापण, पृ० २८

२- सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिक:।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० ११४

३- धीरशान्तोऽनहङ्कार: कृपालुर्विनयी नयी।

- ना० द०, ११६, पृ० २८

४- धीरशान्ता वणिग्-विप्रा: - - -- - -।

- ना० द०, ११७, पृ० २६

५- धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा: वणिजस्तथा।

- ना० शा०, ३४।१६, पृ० ४५८

६- अथ शृङ्गार विषयाश्चत्वारो नायका इमे।

अनुकूलो दक्षिणश्च धृष्ट: शठ इति स्मृता:।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० २६

आचार्य रुद्रट ने भी शृङ्गारी नायक के यही चार भेद किये हैं[1]। दशरूपककार ने अनुकूल आदि को नायक की शृङ्गार रस सम्बन्धी अवस्थाएं माना है। रुद्रभट्ट के अनुसार अनुकूल आदि भेद क्रिया के आधार पर हैं[2]। नायक के अनुकूल इत्यादि चारों भेदों का लक्षण इस प्रकार दिया है --

१- अनुकूल :-

एक ही नायिका में जो विशेष अनुरक्त होता है वह अनुकूल नामक नायक है[3]। अनुकूल नायक के सम्बन्ध में रुद्रभट्ट और दशरूपककार की भी यही मान्यता है[4]।

२- दक्षिण :-

जो नायक अनेक नायिकाओं में बिना भिन्नता के स्नेह से अनुवर्तन करता है, वह दक्षिण नायक कहलाता है[5]। धनिक के अनुसार जो अन्य नायिका के द्वारा अपहृत-चित्त होकर भी ज्येष्ठ (पूर्व) नायिका के प्रति हृदय

१- एवं स चतुर्धा स्यादनुकूलो दक्षिण: शठो धृष्ट: ।
तत्र प्रेम्ण: स्थैर्यादनुकूलोऽनन्य रमणीक: ।।
- काव्यालंकार, १२।६, पृ० ३७६

२- तस्यानुकूलदक्षिणशठधृष्टा इत्यमत्र चत्वार: ।
भेदा: क्रिययोच्यन्ते तदुदाहृतयश्च रमणीया: ।।
- शृङ्गारतिलक, १।२८, पृ० ७

३- एकायत्तोऽनुकूल: स्यात्, एकस्यां नायिकायां विशेषानुकूलो नायक: ।
- प्रतापरु०, ना० प्र०, पृ० २६

४- अनुकूलतया नार्यां सदा त्यक्तपराङ्गन: ।
सीतायां रामवत्सोऽयमनुकूल: स्मृतो यथा ।।
- शृङ्गारतिलक, १।२६, पृ० ७

- - - - ऽनुकूलस्त्वेकनायिक: । - दशरूपक, २।७, पृ० १२५

५- तुल्योऽनेकत्र दक्षिण: ।
- प्रतापरु०, ना० प्र०, पृ० ३०

के साथ व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक है[1]। शृङ्गारतिलक में इसका उल्लेख इस प्रकार है -- जो अन्य स्त्री में चित्त अनुरक्ति वाला होते हुए भी पहली स्त्री के प्रति गौरव, भय, प्रेम और दाक्षिण्य के भाव का त्याग नहीं करता, वह दक्षिण नायक कहलाता है[2]।

३- धृष्ट :-

अपराधों के व्यक्त होने पर भी जो निर्भीक है वह नायक धृष्ट कहलाता है[3]। शृङ्गारतिलक के अनुसार- अपराध करके भी निःशङ्क रहने वाला (नायिका से) मार खाकर भी निर्लज्ज रहने वाला और अपराध पकड़ा जाने पर भी झूठ बोलने वाला (पुरुष) धृष्ट नायक कहलाता है[4]। दशरूपककार के अनुसार जिस नायक के अङ्गों में विकार स्पष्ट प्रकट होते हैं वह धृष्ट नायक होता है[5]।

१- योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः ।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १२३

२- यो गौरवं भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति ।
न मुञ्चत्यन्यचित्तोऽपि ज्ञेयोऽसौ दक्षिणो यथा ।।

- शृङ्गारतिलक, १।३१, पृ० ७

३- व्यक्तागा गतभीर्धृष्टः ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३१

४- निःशङ्कः कृतदोषोऽपि निर्लज्जस्ताडितोऽपि सन् ।
मिथ्यावाग्दृष्टदोषोऽपि धृष्टोऽयं कथितो यथा ।।

- शृं० ति०, १।३६, पृ० ६

५- व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो ।

-दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १२४

४- शठ :-

छिपे-छिपे जो अप्रिय करता है वह शठ नायक है अर्थात् जिसकी बुराई केवल नायिका जानती हो वह शठ नायक है[१]। विद्यानाथ ने दशरूपक के शठ नायक के लक्षण का शब्दश: उल्लेख कर दिया है[२]। शृङ्गारतिलक के अनुसार जो सामने प्रिय बोलता है और पीठ पीछे अत्यन्त अप्रिय कार्य करता है। अपराध करने पर भी चेष्टाओं से वैसा ज्ञात नहीं होता वह शठ नायक कहा गया है[३]।

इस प्रकार विद्यानाथ ने नायक के ३२ भेद किये हैं -- धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त (४) x अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट, शठ (४) x स्वत: सिद्ध, उत्पाद्य (२) = ३२। दशरूपककार ने नायक के ज्येष्ठ, मध्यम और अधम भेद मानकर ४८ भेद माने हैं। जबकि आचार्य भरत ने धीरोद्धतादि के उत्तम तथा मध्यम भेद से केवल आठ भेद माने हैं।

नायक के सहायक -

उपर्युक्त नायकों के शृङ्गार रस के उपयोगी, नायिकाओं की अनुकूलता लाने में, पीठमर्द, विट, चेट एवं विदूषक आदि सहायक होते हैं[४]। शृङ्गारतिलक में नायक के सहायक को नर्मसचिव कहा है। यह नर्मसचिव मन्त्र (गुप्त बात) को छिपाने वाला, शुचि, वाग्मी, भक्त, नर्मव्यापार में चतुर और क्रुद्ध स्त्री को

१- गूढविप्रियकृच्छठ: ।। नायिकामात्रविदितविप्रियकारी शठ: ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३२

२- गूढविप्रियकृच्छठ: ।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १२४

३- प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम् ।
मुक्तापराधचेष्टश्च शठोऽसौ कथितो यथा ।।

- शृं० ति० १।३३, पृ० ८

४- एषां नायिकानुकूलने पीठमर्दविटचेटविदूषकनामान: सहाया: ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३३

प्रसन्न करने वाला होता है। इन्होंने नर्मसचिव तीन प्रकार के माने हैं -- पीठमर्द, विट, और विदूषक[1]। नाट्यदर्पणकार ने युवराज, सेनापति, पुरोहित और सचिव आदि को नायक का सहायक माना है[2]। आचार्य रुद्रट ने भी नायक के सहायक नर्म सचिव को तीन प्रकार का माना है। पीठमर्द, विट और विदूषक। यह भक्त, गुप्तमन्त्रणा देने वाला, क्रीडा में निपुण, पवित्र, चतुर, वाक् कुशल, चित्त को भांपने वाला, प्रतिभावान् व्यक्ति होता है[3]। नाट्यदर्पणकार के अनुसार युवराज, सेनापति, पुरोहित और सचिव आदि धीरोदात्तादि नायकों के सहायक होते हैं। धीरललित नायक तो इन सहायकों के आयत्तसिद्धि वाला ही होता है अर्थात् स्वयं कार्य नहीं करता है। सहायकों द्वारा धीरललित नायक के सारे कार्यों का सम्पादन होता है।

१- <u>पीठमर्द :</u>

विद्यानाथ के अनुसार- नायक में जो गुण बतलाये गये हैं उनमें से कुछ कम गुणों वाला व्यक्ति पीठमर्द होता है[4]। रुद्रट के अनुसार, नायक का वह

१- गूढमन्त्रः शुचिर्वाग्मी भक्तो नर्मविचक्षणः।
स्यान्नर्मसचिवस्तस्य कुपितस्त्री प्रसादकः।। पीठमर्दो विटश्चापि
विदूषक इति त्रिधा।।

- शृ० ति०, १।३६-४०, पृ० १०

२- युवराज-चमूनाथ-पुरोधः-सचिवादयः।
सहाया एतदायत्तकर्मैव ललितः पुनः।।

- ना० द०, ४।१६६, पृ० ३७७

३- भक्तः संवृत्तमन्त्रो नर्माणि निपुणः शुचिः पटुवाग्मी।
चित्तज्ञः प्रतिभावांस्तस्य भवेन्नर्मसचिवस्तु।।
त्रिविधः स पीठमर्दः प्रथमोऽथ विटो विदूषकस्तदनु।

-काव्यालंकार, १२।१३,१४, पृ० ३७७

४- किंचिदूनः पीठमर्द - - -- - - - ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३३

अनुचर जो नायक के गुणों से युक्त हो पीठमर्द कहलाता है[1]। शृङ्गारतिलक के अनुसार पीठमर्द नायिका और नायक का अनुसरण करने वाला होता है[2]। दशरूपक के अनुसार - प्रधान नायक से दूसरा पताका नायक होता है, जो पीठमर्द कहलाता है। वह चतुर होता है उसका (प्रधान नायक का) अनुचर तथा भक्त होता है और उसके गुणों से कुछ न्यून गुण वाला होता है[3]।

२- विट :-

जितनी विद्याओं को नायक जानता है उनमें से किसी एक विद्या का जानकार विट होता है[4]। रुद्रभट्ट ने भी एक विद्या में निपुण नर्मसचिव को विट कहा है[5]। भरत ने विट का उल्लेख अधिक स्पष्ट रूप से किया है। उनके अनुसार वेशोपचार में कुशल, मधुर, कवि, वाक्कुशल तथा चतुर है वह विट है[6]।

१- नायकगुणयुक्तोऽथ च तदनुचरः पीठमर्दोऽत्र ।।

- काव्यालंकार, १२।१४, पृ० ३७७

२- संभवेत्प्रथमतत्र नायिकानायकानुगः ।।

- शृं० ति०, १।४०, पृ० १०

३- पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ।।

- दशरूपक, २।८, पृ० १२७

४- - -- - एकविद्यो विटः स्मृतः ।

- प्रतापः०, ना० प्र०, पृ० ३३

५- एकविद्यो विटः प्रोक्तः - - - -- ।

- शृं० ति०, १।४१, पृ० १०

६- वेश्योपचारकुशलः मधुरो दक्षिणः कविः ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ।।

- ना० शा०, ३५।५५, पृ० ४६७

दशरूपक में भी विट को किसी एक विद्या का जानकार बताया है[1]। रुद्रट के अनुसार जिसने नायक के साथ एक स्थान पर शिक्षा पाई हो, उसे विट कहते हैं[2]।

३- चेट :

नायिकाओं को नायक से मिलाने वाला सहायक चेट कहलाता है[3]। अधिकांश आचार्यों ने चेट को नायक के सहायक के रूप में वर्णित नहीं किया है। विद्यानाथ ने भी चेट का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। आचार्य भरत ने चेट का उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया है किन्तु बाद के आचार्यों ने सम्भवत: हीन पात्र समझकर चेट का उल्लेख नहीं किया है।

४- विदूषक :

हास्य प्रधान व्यवहार करने वाला नायक का सहायक विदूषक कहलाता है[4]। दशरूपक में भी विदूषक का स्वरूप इसी प्रकार बताया गया है[5]। शृङ्गारतिलक के अनुसार- अपने शरीर, वेष तथा भाषा से हास्य उत्पन्न करने वाला एवं अपने कर्म को ठीक से जानने वाला नर्म-सचिव विदूषक कहलाता है। आचार्य रुद्रट के अनुसार - नायक का मनोरंजन

१- एकविद्यो विट: - - - - - - ।

-दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १२८

२- विट एकदेशविद्यो - - - - - - ।

- काव्यालङ्कार १२। १५, पृ० ३७८

३- संधानकुशलश्चेटो - - - - - - ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३३

४- - - - हास्य प्रायो विदूषक: ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३३

५- - - - हास्यकृच्च विदूषक: ।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १२८

६- - - - -- क्रीडाप्रायो विदूषक: ।

स्ववपुर्वेषभाषाभिर्हास्यकारी स्वकर्मवित् ।।

- शृ० ति० १।४१, पृ० १०

करने के कारण उसका खिलौने सदृश हो, और जिसका आकार, वेश और वचन हंसाने वाला हो, वह विदूषक है[1]। आचार्य भरत ने विदूषक का लक्षण अधिक स्पष्ट किया है[2]।

नायिका-भेद

नायक-नायिका भेद का प्रसंग शृङ्गार रस का विषय रहा है। कारण स्पष्ट है स्त्री और पुरुष के पारस्परिक रति-सम्बन्ध पर ही ये भेद अवस्थित हैं। रति-सम्बन्धी कौशल-प्रदर्शन की न्यूनता अथवा आधिक्य के आधार पर ही नायक के अनुकूल आदि भेद स्वीकृत हुए हैं। मानवती नायिका के मान करने का कारण केवल एक ही है - नायक द्वारा पर नारी के साथ रति-सम्बन्ध। इसी प्रकार स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाएं नायकगत प्रेम और रति सम्बन्ध की प्राप्ति और अप्राप्ति के ही फलस्वरूप विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती हैं। विद्यानाथ ने शृङ्गारनायिका के आठ भेद इस प्रकार किये हैं - स्वाधीनपतिका, वासकसज्जिका, विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका, अभिसारिका[3]। दशरूपक में

१- - - - - - -विदूषक: क्रीडनीयकप्राय: ।
निजगुणायुक्तो मूर्खो हासकराकारवेशवचा: ।।
- काव्यालङ्कार, १२।१५, पृ० ३७८

२- वामनोदन्तुर: कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः ।
खलपि पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषक: ।।
- ना० शा०, ३५।५७, पृ० ४६७

३- अथाष्टविधा: शृङ्गारनायिका: ।
स्वाधीनपतिकाचैव तथा वासकसज्जिका ।
विरहोत्कंठिता चैव विप्रलब्धा च खंडिता ।।
कलहान्तरिता चैव तथा प्रोषितभर्तृका ।
तथाभिसारिका चेति क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।।
- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३४

कहा है कि नायिका की ये जो आठ अवस्थायें हैं इनमें से किसी एक का दूसरी में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । इसलिये इन आठों को अलग-अलग मानना चाहिए। इन आठ अवस्थाओं में नायिका की सभी दशाओं का समावेश हो जाता है । ये आठ नायिकाओं की अवस्थाएं हैं । यद्यपि नायिका होना भी नायिका की अवस्था ही है तथापि ये अवस्थाएं उनके धर्म हैं[१]। इन आठ प्रकार की नायिकाओं का स्वरूप इस प्रकार है —

१- स्वाधीनपतिका :-

विद्यानाथ के अनुसार जो नित्य प्रिय के द्वारा उपलालित की जाती है वह स्वाधीनपतिका नायिका होती है[२]। नाट्यदर्पणकार के अनुसार (प्रिय के) अपने वश में और सदा समीपवर्ती होने पर अपने को सुन्दर समझने वाली नायिका स्वाधीनभर्तृका कहलाती है[३]। इसी प्रकार शृङ्गारतिलक में भी स्वाधीनपतिका नायिका का उल्लेख है जिसके रति-गुण से आकृष्ट पति कभी संग नहीं छोड़ता और जो विचित्र हावभाव से युक्त तथा अपने पति में आसक्त रहती है, उसे स्वाधीनपतिका कहते हैं[४]। दशरूपक के अनुसार जिस नायिका का पति समीप में स्थित है तथा उसके अधीन है और जो प्रसन्न रहती है वह

१- स्वाधीनपतिकावासकसज्जा - - - अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेद:

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १५०

२- प्रियोपलालिता नित्यं स्वाधीनपतिका मता ।।

- प्रताप० ना० प्र०, पृ० ३४

३- सुभगम्मानिनी वश्यासन्ने स्वाधीनभर्तृका ।

- ना० द० ४। सू० २६७, पृ० ३८३

४- यस्या रतिगुणाकृष्ट: पति: पार्श्वं न मुञ्चति ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्वाधीनपतिर्यथा ।।

- शृं० ति० १। १३३, पृ० ३४

स्वाधीनपतिका है[1]।

२- वासकसज्जिका -

विद्यानाथ के अनुसार प्रिय के आगमन की बेला पर बार-बार केलिगृह और अपने आपको सजाती है वह वासकसज्जिका होती है[2]। वास एव वासक: आवासगृह। वास एव वासक: परिधानवासनम्। इस प्रकार यहां वासक शब्द के दो अर्थ हैं आवासगृह तथा परिधान। अर्थात् केलिगृह को और परिधान से अपने को सजाती है वह वासकसज्जिका नायिका है। दशरूपक के अनुसार प्रिय के आगमन की आशा होने पर जो अपने को सजाती है वह वासकसज्जा है[3]। नाट्यदर्पण में पति के आने की आशा होने पर प्रसन्न होकर अपने को सजाने में लगी हुई नायिका को वासकसज्जा कहा है[4]। इसी प्रकार शृङ्गारतिलक में भी कहा है कि वासकसज्जिका नायिका वह है जो अपने अंगों एवं रतिसदन को सजाकर पति के आगमन का निश्चय करके द्वार की ओर आंख लगाये रहती है[5]।

१- आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।

- दश०, द्वि० प्र०, पृ० १५२

२- प्रियागमनवेलायां मण्डयन्ती मुहुर्मुहु:।
केलिगृहं तथात्मानं सा स्याद्वासकसज्जिका।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३५

३- मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये।

- दशरूपक, २।२४, पृ० १५३

४- हृष्टा वासकसज्जात्मान्यलंकृतिपरेष्यति।।

- ना० द० ४। १७८, पृ० ३८३

५- भवेद्वासकसज्जासौ सज्जिताङ्गरतालया।
निश्चित्यागमनं भर्तुर्द्वारेक्षणपरा यथा।।

- शृङ्गारतिलक, १। १३७, पृ० ३६

३- विरहोत्कण्ठिता -

विद्यानाथ के अनुसार प्रिय के देर करने पर जो विरह में उन्मना होती है उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं[१]। दशरूपक के अनुसार निरपराध होते हुए भी प्रिय के देर करने पर उत्कण्ठित रहने वाली नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है[२]। नाट्यदर्पण में भी यही कहा गया है अपना कोई अपराध न होने पर भी (प्रिय के) विलम्ब करने पर उत्सुका नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है[३]। शृङ्गारतिलक में विरहोत्कण्ठिता न कहकर इसे ही उत्का कहा गया है। उनके अनुसार जिसके संकेत स्थल पर प्रिय नहीं आता, जो उसके न आने के कारण को व्याकुल होकर सोचती है वह उत्का (नायिका) है[४]।

४- विप्रलब्धा -

विद्यानाथ के अनुसार किसी स्थान विशेष में किसी समय विशेष का संकेत देकर भी नहीं आने वाले प्रिय से वञ्चित की गयी तथा काम-विह्वला नायिका को कलाविद् लोग विप्रलब्धा नायिका कहते हैं[५]। नाट्यदर्पण

१- चिरयत्यधिकं कान्ते विरहोत्कंठितोन्मना: ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३५

२- चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मना: ।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १५४

३- विलम्बयत्यदोषेऽपि विरहोत्कण्ठितोत्सुका ।

- ना० द० ४।२६५, पृ० ३८२

४- उत्काभवति सा यस्या: संकेतं नागत: प्रिय: ।
तस्यानागमने हेतुं चिन्तयत्याकुला यथा ।।

- शृं० ति०, १।१३५, पृ० ३५

५- क्वचित् संकेतमावेद्य दयितेनाश वञ्चिता ।
स्मरार्ता विप्रलब्धेति कलाविद्भि: प्रकीर्त्यते ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३६

के अनुसार संकेत करके और दूती को भेज कर प्रिय के न आने पर नायिका की जो अवस्था है वह विप्रलब्धा कहलाती है[1]। दशरूपक के अनुसार प्रिय के निश्चित समय पर न आने के कारण अत्यधिक अपमानित होने वाली नायिका विप्रलब्धा कहलाती है[2]। शृङ्गारतिलक में भी जिस नायिका का प्रिय स्वयं दूती भेजकर और संकेतस्थल बताकर भी नहीं आता वह विप्रलब्धा कहलाती है[3]।

५- खण्डिता -

विद्यानाथ के अनुसार किसी अन्य नायिका के सहवास से विकृत प्रिय को जानकर जब नायिका कोप करती है तब यही कुपिता नायिका खण्डिता मानी गयी है[4]। दशरूपक के अनुसार नायक को दूसरी नायिका के सहवास से चिह्नित जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है वह खण्डिता है[5]। नाट्यदर्पण के अनुसार खण्डिता नायिका पति की अन्य स्त्री के प्रति आसक्ति के कारण ईर्ष्या युक्त होकर उसके वस्त्रों को खंडित कर देती है[6]। शृङ्गारतिलक

१- विप्रलब्धाससंकेते प्रेष्य दूतीमनागते ।

- नाट्यदर्पण, ४।१७६, पृ० ३८१

२- विप्रलब्धोक्तसमयप्राप्तेऽतिविमानिता ।

- दशरूपक, २।२७, पृ० १५५

३- प्रेष्य दूतीं स्वयं दत्वा संकेतं नागतः प्रियः ।
यस्यास्तेन विना दुःस्था विप्रलब्धा तु सा यथा ।।

- शृंगारतिलक, १।१५१, पृ० ३७

४- नीत्वाऽन्यत्र निशां प्रातरागते प्राणवल्लभे ।
अन्यासंभोग चिह्नस्तु कुपिता खण्डिता मता ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३७

५- ज्ञातेऽन्यासङ्ग विकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ।

- दशरूपक, २।२५, पृ० १५४

६- खण्डितावण्ड्यत्यसक्त्या वासकर्मीर्ष्यिता ।

- नाट्यदर्पण, ४। २६३, पृ० ३८२

में खंडिता नायिका का लक्षण कुछ भिन्न है, उचित वस्त्रादि से सज्जित होने पर भी जिसका प्रिय कहीं से नहीं आता उसके न आने से सन्तप्त वह नायिका खंडिता मानी जाती है[१]। विप्रलब्धा और खंडिता नायिका में यह भेद है कि विप्रलब्धा नायिका के प्रिय की आसक्ति दूसरी स्त्री में नहीं होती है जबकि खंडिता नायिका का नायक अन्य स्त्री में आसक्त होता है ।

६- <u>कलहान्तरिता</u> -

कलह के कारण जिसके प्रियसंगम अन्य सुख में व्यवधान हो जाये वह कलहान्तरिता कहलाती है[२]। अर्थात् पहले तो कोप के आवेश में प्रिय को डांटती है किन्तु बाद में पश्चाताप करती है । नाट्यदर्पण के अनुसार ईर्ष्या कलह के कारण पति के बाहर चले जाने पर दुखी होने वाली कलहान्तरिता नायिका कहलाती है[३]। शृंगारतिलक में कलहान्तरिता को अभिसन्धिता कहा गया है जो नमित हुए प्रिय को पहले क्रोध में तिरस्कृत कर देती है और बाद में उसके बिना दुखी होती है वह अभिसन्धिता नायिका है[४]। दशरूपक के अनुसार क्रोध से

१- कुतश्चिन्नागते यस्या उचिते वासके प्रिय: ।
तदनागमसन्तप्ता खण्डिता सा मता यथा ।।
- शृंगारतिलक, १। १४२, पृ० ३७

२- कोपात् प्रियं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता ।
कलहान्तरिता नाम सूरिभि: परिकीर्तिता ।।
- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ३८

३- ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते कलहान्तरितार्तिभाक् ।।
- नाट्यदर्पण, ४। १७७, पृ० ३८२

४- निरस्तो मन्युना कान्तो नमन्नपि यया पुरा ।
दु:स्थिता तं विना साभिसंधिता कथिता यथा ।।
- शृङ्गारतिलक, १। १३६, पृ० ३६

अपराधयुक्त नायक को तिरस्कृत करके पश्चाताप की पीड़ा का अनुभव करने वाली कलहान्तरिता नायिका है[1]। कलहान्तरिता और खंडिता में यह अन्तर है कि कलहान्तरिता अपने किये पर पश्चाताप करती है, किन्तु खंडिता प्रिय के प्रति ईर्ष्या रखती है।

७- प्रोषितभर्तृका -

विद्यानाथ के अनुसार कान्त के देशान्तर चले जाने से जो खिन्न हो रही है वह प्रोषितभर्तृका नायिका है[2]। नाट्यदर्पण के अनुसार कार्यवश प्रिय के बाहर चले जाने पर शरीर को सजाकर न करने वाली प्रोषितपतिका नायिका कहलाती है[3]। शृंगारतिलक के अनुसार जिसका पति लौटने की अवधि का निर्देश करके किसी कारणवश विदेश चला जाता है, अत्यन्त दु:खिनी वह नायिका प्रोषितपतिका कहलाती है[4]। दशरूपक के अनुसार जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूसरे देश में स्थित होता है वह प्रोषितपतिका नायिका कहलाती है[5]।

१- कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १५५

२- देशान्तरगते कान्ते खिन्ना प्रोषितभर्तृका।

- प्रताप० ना० प्र०, पृ० ३६

३- कार्यत: प्रोषिते पत्यावभूषा प्रोषितप्रिया।

- नाट्यदर्पण, ४।२६१, पृ० ३८१

४- कुतश्चित्कारणाद्यस्या: पतिर्देशान्तरं गत:।
दत्वावधिं मृशार्ती सा प्रोषितप्रेयसी यथा।।

- शृंगारतिलक, १। १४७, पृ० ३६

५- दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यत: प्रोषितप्रिया।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १५६

८- अभिसारिका -

जो नायिका कामार्त्त हो जाने के कारण कान्त के यहां अभिसार के लिये उत्सुक हो जाती है वह अभिसारिका कहलाती है[1]। नाट्यदर्पण के अनुसार रमण करने की इच्छा से स्वयं प्रिय के पास जाने वाली अथवा प्रिय को अपने पास बुलाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है[2]। शृङ्गारतिलक के अनुसार जो बहुत अधिक कामभाव के कारण निर्लज्ज होकर स्वयं प्रिय के पास जाती है उसे अभिसारिका कहते हैं[3]। अभिसारिका के कुलजा, अन्याङ्गना और वेश्या ये तीन प्रकार माने गये हैं। दशरूपक में भी जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है वह अभिसारिका नायिका मानी गयी है[4]।

उपर्युक्त आठ प्रकार की शृङ्गार नायिकाओं में स्वाधीनपतिका, वासकसज्जिका और अभिसारिका इन तीनों के वर्णन में सम्भोग शृङ्गार होता है। शेष विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहान्तरिता और प्रोषितभर्तृका नायिकाओं के वर्णन में विप्रलम्भ शृङ्गार होता है। नायिकाओं की ये आठों अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं। जैसे वासकसज्जा का स्वाधीनपतिका में

१- कान्ताभिसरणोत्सुका स्मरार्ता साऽभिसारिका ॥

- प्रतापरु०, ना० प्र०, पृ० ३६

२- सरन्ती सारयन्ती वा रिरंसुरभिसारिका ॥

- नाट्यदर्पण, ४। १७६, पृ० ३८४

३- या निर्लज्जीकृतं बाढं मदेन मदनेन वा ।
अभियाति प्रियं साभिसारिकेति मता यथा ॥

- शृङ्गारतिलक, १। १४५, पृ० ३८

४- कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥

- दशरूपक, २। २७, पृ० १५६

अन्तर्भाव नहीं हो सकता । वासकसज्जा का पति पास में नहीं रहता इसलिए वह स्वाधीनपतिका नहीं कहला सकती । वासकसज्जा खण्डिता भी नहीं कहला सकती, क्योंकि उसे प्रिय का अपराध ज्ञात नहीं है । वह प्रोषितप्रिया भी नहीं है क्योंकि वह रति की इच्छा में प्रवृत्त है । प्रोषितपतिका रति की इच्छा में प्रवृत्त नहीं होती । वासकसज्जा अभिसारिका भी नहीं है क्योंकि वह नायक के प्रति स्वयं नहीं जाती, न ही नायक को अपने पास आने की प्रेरणा देती है । इसी प्रकार विरहोत्कण्ठिता भी वासकसज्जा से भिन्न है क्योंकि वह प्रिय के आगमन के उचित समय का अतिक्रमण हो जाने पर उत्कण्ठित होने वाली है । विप्रलब्धा भी पूर्वोक्त नायिकाओं से भिन्न है । उसका प्रिय वचन देकर भी नहीं आता इस प्रकार वहां वञ्चना की अधिकता है । अत: विप्रलब्धा वासकसज्जा और विरहोत्कंठिता से भिन्न है क्योंकि वे दोनों प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा तो करती हैं किन्तु वहां वञ्चना नहीं होती । इसी प्रकार कलहान्तरिता नायिका खंडिता के समान पति के अपराध को जानती है वह पहले प्रिय के अनुनय को नहीं मानती, फिर पश्चाताप द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट करती है, किन्तु खंडिता में यह बात नहीं है[१]।

काव्यशास्त्र में नायिका के रति-विकास के आधार पर भी भेद किये गये हैं । विद्यानाथ ने इस आधार पर तीन भेद किये हैं -- मुग्धा, मध्या और प्रौढा[२]। रुद्रट ने भी आत्मीया नायिका के यौवन जनित विकार के आधार पर मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये तीन भेद किये हैं[३]। नाट्यदर्पणकार ने भी कुलजा,

---

१- न च वासकसज्जादे: - - -- - - तत स्थितमेतदष्टावस्था इति ।

- दशरूपक, धनिक की टीका, द्वि० प्र०, पृ०१५१-५२

२- संक्षेपेण नायिका त्रिविधा-मुग्धा, मध्या प्रौढा चेति ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४१

३- आत्मीया तु त्रेधा मुग्धा मध्या प्रगल्भा च ।।

- काव्यालङ्कार, १२।१७, पृ० ३७८

दिव्या, क्षात्रिया और गणिका इन चारों नायिकाओं के मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा ये तीन भेद किये हैं[१]। शृङ्गारतिलक में भी स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन भेद माने गये हैं[२]। इसी प्रकार दशरूपक में भी स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये तीन भेद किये गये हैं[३]। आचार्य रुद्रट, रुद्रभट्ट और धनञ्जय ने केवल आत्मीया या स्वकीया नायिका के ही ये तीन भेद किये हैं जबकि नाट्यदर्पणकार ने सभी नायिकाओं के ये तीन भेद किये हैं। विद्यानाथ इस आधार पर नाट्यदर्पण का ही अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने भी सभी नायिकाओं के मुग्धा, मध्या और प्रौढा ये तीन भेद किये हैं। इन तीनों का स्वरूप इस प्रकार है —

१- मुग्धा :

जिस नायिका में लज्जा के कारण काम जनित विकार तिरोहित रहते हैं ऐसी उदीयमान यौवन वाली नायिका को मुग्धा नायिका कहते हैं[४]। दशरूपक के अनुसार जिसकी अवस्था तथा काम-भावना नवीन होती है, जो रति क्रीडा में विमुख और क्रोध करने में कोमल होती है वह मुग्धा नायिका है[५]। रुद्रट के अनुसार

१- मुग्धामध्या प्रगल्भेति त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः ।

- नाट्यदर्पण ४। २५७, पृ० ३८०

२- मुग्धा मध्या प्रगल्भा च स्वकीया त्रिविधा मता ।

- शृंगारतिलक, १।४७, पृ० ११

३- मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ।।

- दशरूपक, २।१५, पृ० १३५

४- उदययौवना मुग्धा लज्जाविजितमन्मथा ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४१

५- मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

- दशरूपक, द्वि० प्र०, पृ० १३६

मुग्धा नवयौवन जनित मन्मथोत्साह होती है[1]। नाट्यदर्पण के अनुसार स्वल्प मानवाली तथा रति व्यापार में प्रतिकूल नायिका मुग्धा कहलाती है[2]। शृंगार-तिलक के अनुसार नववधू मुग्धा कहलाती है। उसकी तीन विशेषताएं हैं -- नवयौवनविभूषिता, नवानङ्गरहस्या और लज्जाप्रायरति[3]।

२- मध्या :

विद्यानाथ ने लज्जा और काम के विकारों के बीच की अवस्था वाली उदितयौवना नायिका को मध्या कहा है[4]। रुद्रट ने मध्यानायिका को आविर्भूतमन्मथोत्साहा और किंचिद्धृतसुरत-चातुर्या कहा है[5]। नाट्यदर्पण के अनुसार मध्यम आयु, मध्यम काम और मध्यम मानवाली, रतिकाल में मूर्छा पर्यन्त पहुंच जाने वाली मध्या नायिका होती है[6]। दशरूपक के अनुसार तारुण्य और

१- मुग्धा तत्र नवोढा - - - - - तुष्यति च ।।

- काव्यालङ्कार १२।१८,१६,२०, पृ० ३७८-७६

२- मुग्धा वामा रते स्वल्पमाना रोहद्वय:-स्मरा ।।

- नाट्यदर्पण, ४।२५८, पृ० ३८०

३- मुग्धा नववधूस्तत्र नवयौवनभूषिता ।
नवानङ्गरहस्या च लज्जाप्रायरतिर्यथा ।।

- शृङ्गारतिलक १। ४८, पृ० १२

४- लज्जामन्मथमध्यस्था मध्यमोदितयौवना ।।

- प्रतापरु०, ना० प्र०, पृ० ४१

५- आरूढयौवनभरा - -- - विमुह्यति च ।।

- काव्यालङ्कार, १२।२१,२२, पृ० ३७६

६- मध्या मध्यवय:-काम-माना मूर्छान्तमोहना ।

- नाट्यदर्पण, ४।२५६, पृ० ३८०

काम-भाव प्राप्त कर चुकने वाली तथा मोह की अवस्था पर्यन्त सुरत के योग्य नायिका मध्या होती है[1]। दशरूपक में मध्या के धीरा, अधीरा और धीरा-धीरा ये तीन भेद माने हैं। शृङ्गारतिलक के अनुसार आरूढ यौवना प्रादुर्भूत-मनोभवा, किंचित्प्रगल्भवचना और विचित्र सुरता नायिकाएं मध्या कहलाती हैं[2]। शृङ्गारतिलक में मध्या नायिका के धीरा, मध्या और अधीरा ये तीन भेद किये हैं।

३- प्रौढा :

विद्यानाथ के अनुसार कामोद्रेक के कारण जिसकी लज्जा मन्द पड़ गयी है और जिसमें यौवन का पूर्ण विकास हो गया है वह प्रौढा कहलाती है[3]। अन्य आचार्यों ने इसे प्रगल्भा कहा है। रुद्रट ने प्रगल्भा को रतिकर्म पण्डिता कहा है[4]। दशरूपक के अनुसार गाढ यौवनवाली, कामोन्मत्त नायिका प्रगल्भा नायिका है[5]। नाट्यदर्पण में पूर्ण रूप से दीप्त आयु, काम तथा मानवाली और स्पर्शमात्र से

१- मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ।।

- दशरूपक, २। १३, पृ० १३६

२- आरूढयौवना मध्या प्रादुर्भूतमनोभवा ।
प्रगल्भवचना किंचिद्विचित्रसुरता यथा ।।

- शृङ्गारतिलक, १। ५८, पृ० १५

३- स्मरमन्दीकृतव्रीडा प्रौढा सम्पूर्णयौवना ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४२

४- लब्धायतिः प्रगल्भा रति कर्मणि पण्डिता विमुग्धा ।

- काव्यालङ्कार १२। २४, पृ० ३७६

५- यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ।।

- दशरूपक, २। १८, पृ० १४२

मूर्च्छित हो जाने वाली नायिका को प्रगल्भा नायिका कहा गया है[1]। शृङ्गार-तिलक के अनुसार प्रगल्भा नायिका लब्धायति, समस्तरतिकोविदा, आक्रान्तनायका और विराजद्विभ्रमा होती है[2]। प्रगल्भा नायिका भी धीरा मध्या और अधीराभेद से तीन प्रकार की होती है।

विद्यानाथ ने नायक प्रकरण में प्रसंगवश ही नायिका की अवस्थाओं तथा भेदों का उल्लेख कर दिया है। उन्होंने विस्तार से नायिका के स्वरूप गुणों और भेदों का वर्णन नहीं किया है। सम्भवत: आचार्य अपने नायक प्रतापरुद्र का अत्यन्त आदर्श स्वरूप प्रस्तुत करना चाहते हैं इसीलिए उन्होंने नायिका का विस्तृत वर्णन नहीं किया है और जहां कहीं नायक-नायिका का अतिशृङ्गारिक वर्णन आता है वहां विद्यानाथ पृथ्वी अथवा राजलक्ष्मी को नायिका मान लेते हैं। जबकि नायिका भेद के प्रसंग में अथवा रस वर्णन के प्रसंग में इस प्रकार के ग्रन्थों में घोर शृङ्गारिक वर्णन प्राप्त होते हैं जो कि विद्यानाथ के उदाहरणों में नहीं है।

रुद्रट ने काव्यालंकार में तीन प्रकार की नायिकाएं मानी हैं -- आत्मीया, अन्या और सर्वसक्ता। आत्मीया के रति विकास के आधार पर मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये तीन भेद किये हैं। मध्या और प्रगल्भा के प्रिय द्वारा प्राप्त प्रेम के आधार पर ज्येष्ठा और कनिष्ठिका ये दो भेद किये हैं। पुन: मानव्यवहार के आधार पर इनके तीन भेद किये हैं -- धीरा, अधीरा और मध्या। इस प्रकार ये बारह भेद तथा मुग्धा का एक भेद मिलाकर आत्मीया के १३ भेद हैं। अन्या अथवा परकीया के कन्या और अन्योढा ये दो भेद किये हैं।

१- प्रगल्भेद्धवयो-मन्यु-कामा स्पर्शेऽप्यचेतना।

- नाट्यदर्पण, ४। १७५, पृ० ३८१

२- लब्धायति: प्रगल्भा स्यात्समस्तरतिकोविदा।
आक्रान्तनायका बाढं विराजद्विभ्रमा यथा ॥

- शृङ्गारतिलक, १। ६६, पृ० १८

वेश्या का एक ही भेद है । इस प्रकार नायिका के कुल १६ भेद हैं । परवर्ती आचार्यों ने प्राय: इसी प्रकार से नायिका के मुख्य १६ भेद माने हैं । आचार्य रुद्रट ने पुन: आत्मीया के स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका ये दो भेद माने। जो अन्या और वेश्या में सम्भव नहीं है । आत्मीया, परकीया और वेश्या के अभिसारिका और खंडिता दो भेद किये हैं । इसके अतिरिक्त रुद्रट ने भरत सम्मत स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद और उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद भी वर्णित किये हैं[१]। अत: १६ प्रकार की नायिकाओं के साथ इन भेदों को मिलाने से नायिका भेद (१६ x ८ x ३ =) ३८४ की संख्या तक पहुंच जाता है ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार नायिका कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया और वेश्या चार प्रकार की होती हैं । इनमें से वेश्या ललितोदात्त, कुलजा उदात्त तथा अन्य दोनों (दिव्या और क्षत्रिया) धीरा, ललिता और उदात्ता तीन प्रकार की होती हैं ।

उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार की प्रकृति से पुन: प्रत्येक के तीन-तीन भेद हो सकते हैं । उत्तम, मध्यम और अधम यह तीन प्रकार की प्रकृति अनुरूपा, विरूपा और रूपानुरूपिणी भेद से पुन: तीन प्रकार की होती हैं । कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया और गणिका ये चारों नायिकाएं मुग्धा, मध्या और

१- आत्मीया परकीया वेश्या चेति मूलभेदत्रयम् । आत्मीया च मुग्धा मध्या प्रगल्भा चेति पुनस्त्रेधा । पुनश्च मध्याप्रगल्भयोर्धीराधीरा मध्या चेति प्रत्येकं भेदत्रयम् । पुनश्च ज्येष्ठकनिष्ठात्वेन मध्या-प्रगल्भयोर्भेदद्वयम् । मुग्धा त्वेकभेदैव । काव्येषु तथा प्रसिद्धे: । - - - - - परकीया, कन्या परिणीता चेति द्विभेदा । वेश्या त्वेकरूपैवेति ।

- काव्यालंकार, नमिसाधु की टीका, १२ ।४०, पृ० ३८२

प्रगल्भा भेद से तीन प्रकार की होती हैं । पुन: प्रकारान्तर से नायिकाओं के प्रोषितपतिका आदि ये आठ भेद किये हैं । इस प्रकार नाट्यदर्पण के अनुसार नायिका के भेदों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है ।

रुद्रभट्ट ने कलाओं में निपुण नायिकाओं के तीन प्रकार बताये हैं - स्वकीया, परकीया और सामान्या । स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये तीन भेद हैं । इनमें मध्या और प्रगल्भा नायिकाएं धीरा मध्या अधीरा भेद से तीन-तीन प्रकार की होती हैं । नायक के प्रेम के आधार पर मध्या और प्रगल्भा नायिकाएं ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो प्रकार की होती हैं । अन्यदीया या परकीया नायिका दो प्रकार की हैं - कन्या और ऊढा । वेश्या का कोई भेद नहीं है । तत्पश्चात् पूर्ववर्णित नायिकाएं अवस्थाभेद से पुन: आठ प्रकार की होती हैं -- स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकसज्जा, अभिसन्धिता, विप्रलब्धा, खंडिता, अभिसारिका तथा प्रोषितपतिका । इनमें से अभिसारिका तीन प्रकार की होती हैं - कुलजा, अन्याङ्गना, तथा वेश्या । इस प्रकार स्वकीया १३ प्रकार की, परकीया २ प्रकार की, और वेश्या एक प्रकार की तथा पुन: अवस्था भेद से आठ प्रकार की होती है । फिर ये सभी नायिकाएं उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार की होकर (१६ x ८ x ३ =) ३८४ भेदों को प्राप्त करती हैं ।

दशरूपककार के अनुसार नायिका नायक के समान गुणवाली होती है और तीन प्रकार की होती हैं - स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री इनमें स्वकीया नायिका, मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन प्रकार की होती है । मध्या नायिका के धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन भेद हैं । प्रगल्भा नायिका के भी धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा तीन भेद माने गये हैं । मध्या और प्रगल्भा नायिकाएं दो प्रकार की होती हैं - ज्येष्ठा और कनिष्ठा । इस प्रकार स्वकीया नायिका के १३ भेद होते हैं --

मुग्धा	- १	= १
मध्या	- धीरा, अधीरा, धीराधीरा x ज्येष्ठा, कनिष्ठा	= ६
प्रगल्भा	- धीरा, अधीरा, धीराधीरा x ज्येष्ठा, कनिष्ठा	= ६
		१३

परकीया स्त्री दो प्रकार की होती है कन्या और विवाहिता । साधारण स्त्री (वेश्या) एक प्रकार की होती है । इन नायिकाओं की आठ अवस्थाएं होती हैं । इस प्रकार नायिकाओं के १२८ भेद बतलाये हैं । इन पूर्वाचार्यों की तुलना में विद्यानाथ ने बहुत कम भेदों को गिनाया है । उन्होंने आठ स्वाधीन-पतिका आदि भेद और उनके तीन-तीन मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा भेद के आधार पर २४ भेद ही नायिकाओं के बताये हैं ।

नायिका की सहायिकायें -

विद्यानाथ ने नायिकाओं की नायकों के अनुकूल करने में सहायता करने वाली स्त्रियां इस प्रकार बताई हैं -- दासी, सखी, कारु, धात्रेयी प्रतिवेशिनी, लिङ्गिनी, शिल्पिनी आदि स्त्रियां और आत्मीय की स्त्री ये सब नायक को नायिका के अनुकूल करने वाली सहायिका कहलाती है[१]। दासी अर्थात् नौकरानी, सखी का अर्थ है स्नेहयुक्त सहचरी, कारु का अर्थ है धोबिन आदि, धात्रेयी अर्थात् उपमाता (धाय) की पुत्री, प्रतिवेशिनी अर्थात् पड़ोसिन, लिङ्गिनी अर्थात् किसी सम्प्रदाय विशेष के वेश को धारण करने वाली, शिल्पिनी अर्थात् चित्र आदि बनाने वाली स्त्री, स्वा की व्याख्या करते हुए कुमारस्वामी ने कहा है स्वा अर्थात् स्वयं नायिका अथवा अपने बन्धु-बान्धव की स्त्री । ये सब स्त्रियां नायिका की सहायिकायें हैं । इनके अतिरिक्त कामशास्त्र में वर्णित पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी आदि जाति-विशेष को भी जान लेना चाहिये । दशरूपक के अनुसार दासी, सखी, कारु, धात्रेयी, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पिनी एवं स्वयं नायिका ये दूती होती हैं और नायक के मित्र पीठमर्द इत्यादि जिन गुणों से युक्त होते हैं नायिका

१- आसां नायकानुकूलने सहायाः ।
दूत्यो दासी सखी कारुधात्रेयी प्रतिवेशिनी ।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वा च सहायाः परिकीर्तिताः ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ४१

को सहायिकायें भी उन्हीं गुणों से युक्त होती हैं[1]। नाट्यदर्पण में धात्रेयी, परिव्राजिका, पड़ोसिन, शिल्पिनी, दासी और सखी गुप्ता अर्थात् रहस्य को धारण करने में समर्थ, चतुर अहंकाररहित और चपलता रहित स्त्रियों को नायिका की सहायिकायें कहा गया है[2]। ये स्त्रियां नायक के साथ मिलन कराने में सहायिका होती हैं। शृङ्गारतिलक के अनुसार कारु, दासी, नटी, धात्री, प्रतिवेश्या, शिल्पिनी बाला और प्रव्रजिता ये नायिकाओं की सखियां हैं। कलाओं में कुशलता, उत्साह, स्वामिभक्ति, दूसरे के अभिप्राय को समझना अच्छी स्मृति वाणी में चतुरता, नर्म सम्बन्धी बातें जानना और बोलने की अच्छी शक्ति ये सखियों के गुण हैं। इन सहायिकाओं के कार्य इस प्रकार हैं -- मनोरञ्जन, शृङ्गार करके सजाना, शिक्षा, उलाहना देना, प्रसन्न करना, समागम कराना और विरह की दशा में आश्वासन देना[3]।

-o-

१- अथासां सहायिन्या --

दूत्यो दासी सखी कारुधात्रेयी प्रतिवेशिका ।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विता: ।।

- दशरूपक, २।२६, पृ० १६०

२- सहायिन्यस्तु धात्रेयी लिङ्गिनी प्रतिवेशिका: ।
शिल्पिनी चेटिका सख्यो गुप्ता दक्षा मृदु स्थिरा: ।।

- नाट्यदर्पण, ४।१६१, पृ० ३६२

३- कारुदासी नटी धात्री प्रतिवेश्याथ शिल्पिनी ।
बाला प्रव्रजिता चेति स्त्रीणां ज्ञेय: सखीजन: ।।
कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृति: ।
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणा: ।।
विनोदोमण्डनं शिक्षोपालम्भोऽथ प्रसादनम् ।
सङ्गमो विरहाश्वास: सखीकर्मेति तद्यथा ।।

- शृङ्गारतिलक, २।१०२-४, पृ० ६६

सप्तम अध्याय

-0-

रूपक विवेचन

नाट्य

साहित्य समीक्षकों में प्राय: इस बात पर मतैक्य देखा जाता है कि काव्य की सर्वोत्कृष्ट विधा रूपक है। संस्कृत अलंकारशास्त्र में सर्वप्रथम वामन ने कहा था कि समस्त निबन्धों में रूपक उत्कृष्टतम हैं क्योंकि उनमें चित्र के समान विविधता, पूर्णता और आश्चर्यमयता के एक साथ दर्शन होते हैं।[1] जिस प्रकार नाटकों में उसके पात्र जीवन्त व्यक्तियों के सदृश प्राणमय दिखाई देते हैं इसी प्रकार इनके पात्रों को भी सजीव होना चाहिए। वास्तविकता का यह तत्त्व नाटक में पाया जाता है, क्योंकि उसमें कथा में वर्णित जीवन को फिर से जीने का प्रयत्न होता है। काव्य में यह बात नहीं मिलती क्योंकि वह केवल श्रव्य है दृश्य नहीं। काव्य में कवि अपनी ओर से वस्तु की व्याख्या करता है जबकि नाटककार को नटों पर आश्रित रहना पड़ता है। नट का भाव या कर्म[2] नाट्य कहलाता है। अपने पात्रों के बहाने वस्तुत: कवि ही बोला करता है। क्योंकि मनुष्य होने के कारण उसे इस बात का पता रहता है कि मनुष्य में कहां पर किस प्रकार की भावनाएं सम्भावित हो सकती हैं। इसका कारण यह हुआ कि कवि वस्तु को विश्वात्मकता प्रदान करता है और इसी साधारणीकरण के कारण पाठक या दर्शक काव्य या नाट्य के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

१- संदर्भेषु दशरूपकं श्रेय:। तद्धि चित्रं, चित्रपटवत् विशेषसाकल्यात्। ततोऽन्यभेद क्लृप्ति:। ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्ति: कल्पनमिति। दशरूपकस्यैव हीदं सर्वं विलसितम्। यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।

- का० सू० वृ० १।३।३०-३२, पृ० ६०-६२

२- नायक मुखेन कविरेव मन्त्रयते निश्चिनोति चेति केचित्।

- रुद्रट पर नमिसाधु की टीका, १६। १८, पृ० ४१८

लगभग यही विचार विद्यानाथ के टीकाकार कुमारस्वामी ने भी व्यक्त किया है[1]। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी साहित्यिक रचनाओं में रूपक को सर्वांगपूर्ण माना है। वे कहते हैं कि रस का पूर्णपरिपाक अर्थात् उसमें रसास्वादोत्कर्ष की प्राप्ति मुक्तक छन्दों में नहीं पाई जा सकती क्योंकि वहां रस निष्पत्ति की विभिन्न अवस्थाएं या उद्दीपन, विभाव, अनुभाव और संचारीभाव पूर्णत: उपस्थित नहीं रहते। अत: केवल पूर्ण काव्य या पूर्ण कथा प्रबन्ध में ही पूर्ण रसास्वाद सम्भव है। अभिनीयमान रूपक में प्रबन्ध की भी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण रसास्वाद होता है क्योंकि रूप हमें वास्तविकता की निकटतम सीमा तक पहुंचाने का प्रयत्न करता है[2]। अत: रूपक ही सर्वोत्कृष्ट रचना है क्योंकि इसी से पूर्ण रसास्वाद सम्भव है। काव्य में जो रसास्वाद प्राप्त होता है उसका कारण काव्य में नाट्यगुणों की उपस्थिति है। कवि के शक्तिशाली वर्णन कथानक को ऐसी जीवनीशक्ति प्रदान करते हैं कि सारी कविता अभिनीयमान रूपक के समान मस्तिष्क के समक्ष उपस्थित हो जाती है।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य-सिद्धान्तों की रूपरेखा के प्रथम दर्शन होते हैं। ये सिद्धान्त सम्भवत: प्राचीनतम उपलब्ध सिद्धान्त हैं। नाट्यशास्त्र में ये सिद्धान्त पर्याप्त विकसित अवस्था में हैं अत: यह कहा जा सकता है कि भरतमुनि के पूर्व भी नाट्य-परम्परा विद्यमान थी। परवर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में नाट्य को काव्यशास्त्र का ही अंग मान लिया गया है। सम्भवत: प्रारम्भ में नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र पृथक्-पृथक् रहे होंगे। नटसूत्र

१- न हि महाकविभि: वाल्मीकिप्रमुखैरविध्यानदृष्ट्या रामादीनामवस्था: प्रातिस्विका निरूप्यन्ते किन्तु रामादिकमाश्रयतया परिकल्प्य स्वप्रतिभाप्रभावलब्धा: सर्वसाधारणा इति।

प्रताप०, रत्नापण, रस प्रकरण, पृ० ३२८

२- अभिनवभारती, प्रथमोऽध्याय:, पृ० २८८

पाणिनि के काल में भी विद्यमान थे। सूत्र पद्धति में लिखे गये इन सूत्रों में सम्भवत: नाट्यकला का विवेचन था।

परवर्ती काल में हेमचन्द्र, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ही ऐसे आचार्य हुए हैं जिनकी रचनाएं नाट्यशास्त्र में आलोचनात्मक विवेचन तथा तत्सम्बन्धित परिपक्व सिद्धान्तों को परिलक्षित करती हैं। विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ऐसे अर्वाचीन लेखक हैं जिन्होंने नाट्यकला के प्रामाणिक ग्रन्थ दशरूपक को निर्दिष्ट करते हुए, उसे संक्षिप्त रूप में उद्धृत किया है। इस रूप में भी नाट्यविद्या के परवर्ती साहित्य में इन कृतियों का बड़ा महत्त्व है।

काव्यशास्त्र में काव्यप्रकाश ने जो उच्च स्थान पाया वही धनिक धनञ्जय द्वारा प्रणीत दशरूपक एवं अवलोक ने नाट्यशास्त्र में पाया है। भरत के बाद उपलब्ध ग्रन्थों में दशरूपक एवं अवलोक ही सर्वाधिक प्रामाणिक मानक ग्रन्थ माने जाते हैं और नाट्यशास्त्र के बाद दशरूपक ही सभी ग्रन्थकारों का मार्गदर्शन करता है। प्रतापरुद्रीय के नाटक प्रकरण का आधार दशरूपक ही है। किन्तु प्रतापरुद्रीयकार ने दशरूपक का पदानुसरण करते हुए भी पूर्णरूप से सिद्धान्तों का अनुगमन नहीं किया है। विद्यानाथ के अनुसार नाट्य रसाश्रय हैं अर्थात् रस को आधार मानकर नाट्य की प्रवृत्ति होती है। सात्त्विक, आंगिक, आहार्यिक और वाचिक इन चार प्रकार के अभिनयों के द्वारा नायक की धीरोदात्तादि अवस्थाओं का अनुकरण नाट्य होता है[1]। किन्तु दशरूपक की इस उक्ति, 'रस वाक्यव्यङ्ग्य हैं अत: इसमें वाक्यार्थ का अभिनय होता है,' को ग्रन्थकार ने छोड़ दिया है।

नृत्य भावप्रधान होने से भावाश्रय होता है और नृत्य ताल,लय

१- चतुर्विधैरभिनयै: सात्त्विकाङ्गिकपूर्वकै: ।
धीरोदात्ताद्यवस्थानुकृतिर्नाट्यं रसाश्रयम् ।।१।।

– प्रतापरु०, ना० प्र०, पृ० १२२

के अनुसार किया जाता है[1]। नृत्य और नृत्त नाटकादि के अंग होते हैं[2]। पुनः ये दोनों नृत्य और नृत्त मधुर तथा उद्धत के भेद से दो प्रकार के होते हैं। मधुर को लास्य कहते हैं जिसका प्रयोग स्त्रियों द्वारा होता है और उद्धत को ताण्डव कहते हैं जिसका प्रयोग पुरुषों द्वारा होता है। ये नाट्य के उपकारक होते हैं इनसे नाटकादि का अभिनय सुन्दर होता है[3]। यहां विद्यानाथ ने बहुत ही संक्षेप में नृत्य, नृत्त, लास्य, ताण्डव आदि को बताया है जबकि दशरूपक में इनका विस्तृत वर्णन है।

रूपक —

सर्वप्रथम भरत ने दस रूपकों का उल्लेख किया है[4]। तत्पश्चात् धनञ्जय ने दस रूपक इस प्रकार से बताये हैं -- नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग[5]। विद्यानाथ ने दशरूपक

१- भावाश्रयं तु नृत्यं स्यान्नृत्तं ताललयान्वितम् ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १२२

२- नृत्तनृत्ययोर्नाटिकाद्यङ्गत्वादिह - - - - - ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० ११२

३- तदुक्तं दशरूपके -

मधुरोद्धत भेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।

लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ।। इति ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १२२

४- नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ।

भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ।।

ईहामृगश्च विज्ञेयं दशमं नाट्यलक्षणम् ।

- ना० शा०, २०।२-३, पृ० २२६

५-(क) दशधैव रसाश्रयम् ।

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।

व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।। - दश०, १।८, पृ० ८

(ख) नाटकं सप्रकरणं - - - - वीथ्यङ्केहामृगा दश ।।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १२३

के ही आधार पर दस रूपकों का उल्लेख किया है और किंचित् शब्दभेद के साथ दशरूपक के उसी श्लोक को रख दिया है जिसमें दस रूपकों के नाम दिये गये हैं। ये दसों रूपक नाट्य का आधार हैं इसलिये अभिन्न हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। इन रूपकों के भेदक तत्त्व वस्तु, नेता और रस हैं[1]।

वस्तु —

दशरूपक में वस्तु का विस्तृत वर्णन है। उसमें वस्तु के भेद आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है किन्तु प्रतापरुद्रीय में वस्तु के भेद आदि का संक्षिप्त वर्णन है। विद्यानाथ के अनुसार वस्तु तीन प्रकार का होता है -- प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र[2]। दशरूपक में भी वस्तु तीन प्रकार की बताई गयी है[3]। इतिहास में जिसका निबन्धन हो वह प्रख्यात है, जो कविकल्पित हो वह उत्पाद्य है। जो संकरायत्त हो अर्थात् मिला जुला हो वह मिश्र है[4]। वस्तु के तीन भेद दिखाने के बाद विद्यानाथ ने वस्तु, नेता और रसों के भेद से रूपकों का परस्पर भेद दर्शाया है।

१- नाट्याश्रयत्वेनाभेद इति शङ्का न युज्यते।
वस्तुनेतृरसास्तेषां रूपकाणां हि भेदकाः॥

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १२३

२- वस्तु त्रिविधम् - प्रख्यातमुत्पाद्यं मिश्रं चेति। तथोक्तं दशरूपके
प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् तत्त्रिविधं मतम्, इति।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १२४

३- प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।

- दश० १। २३, पृ० १६

४- इतिहासनिबन्धनं प्रख्यातम्, कविकल्पितमुत्पाद्यं, संकरायत्तं मिश्रं चेति।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १२४

रूपकों के परस्पर भेद -

नाटक में वस्तु प्रख्यात होता है, नायक धीरोदात्त होते हैं और शृङ्गार तथा वीररस में से एक प्रधान होता है बाकी अन्य सब रसों का अंगरूप में अनुप्रवेश होता है । प्रकरण में इतिवृत्त उत्पाद्य (कविकल्पित) होता है, नायक धीरप्रशान्त होता है, शृङ्गार रस मुख्य होता है । भाण में चरित उत्पाद्य होता है, धूर्त विट नायक होता है, शृङ्गार और वीर रस की सूचना मात्र होती है । प्रहसन में वस्तु कल्प्य होता है, पाखण्डी नायक होता है, हास्य रस प्रधान है । डिम में प्रख्यात वस्तु, धीरोदात्त (देवदानवादि सोलह) नायक है, रौद्र रस प्रधान होता है, वीर और शृङ्गार का अनुप्रवेश रहता है । व्यायोग में इतिवृत्त प्रख्यात होता है, धीरोद्धत नायक होता है, वीररस प्रधान होता है । समवकार में देव एवं असुरादि बारह नायक होते हैं, इतिवृत्त कल्पित होता है और प्रसिद्ध भी, वीररस प्रधान होता है । वीथी में कल्पित वस्तु रहती है, धीरोद्धत नायक होता है और शृङ्गार रस की सूचना मात्र होती है । अंक में प्रख्यात वस्तु होती है, कोई भी प्राकृत व्यक्ति नायक हो सकता है, करुण रस प्रधान होता है । ईहामृग में मिश्र वस्तु होती है, धीरोद्धत नायक होता है, शृङ्गार रस का आभास होता है[१]।

रूपकों की सामग्री

दस प्रकार के रूपकों के भेद बताने के बाद रूपकों की सामग्री का उल्लेख किया है । इन सामग्रियों (अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों) की स्थिति को इस प्रकार बताया है -- बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पांच कथाशरीर की हेतु अर्थ-प्रकृतियां हैं । आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा,

---

१- इतिहासनिबन्धनं - - - - - - - - शृङ्गाररसस्याभासत्वम् ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृ० १२५-२६

नियताप्ति और फलागम ● ये पांचों अर्थ की अवस्थायें हैं । ये पांचों अर्थ-प्रकृतियां, इन पांचों अवस्थाओं से जब समन्वित होती हैं तब क्रमानुसार मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण संधियां होती हैं । अर्थात् बीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक अवस्था के सम्बन्ध से मुख संधि, प्रयत्न अवस्था और बिन्दु अर्थप्रकृति के सम्बन्ध से प्रतिमुख संधि, प्राप्त्याशा और पताका के सम्बन्ध से गर्भ संधि, नियताप्ति और प्रकरी के सम्बन्ध से विमर्श संधि तथा फलागम और कार्य के सम्बन्ध से निर्वहण संधि होती है[१]। सन्धि शब्द का अर्थ है -- सन्धान, मिश्रण । यहां पर किसी रूपक की कथावस्तु की सुव्यवस्थित योजना का नाम ही संधि है अर्थात् कथावस्तु को विभक्त करके ठीक रूप से संगठित करना ।

पञ्चावस्थाएं—

फल की सिद्धि के लिये किये जाने वाले नायक के व्यापार रूप उपाय ही कार्यावस्थाएं हैं । कार्य अवस्थाएं इस प्रकार हैं -- आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम । बहुत अधिक फल के लाभ के लिये केवल उत्सुकता करना आरम्भ अवस्था है । फल के प्राप्त न होने पर उसके लिये वेग-पूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है । उपाय के होने तथा विघ्न की शंका होने से जो फल प्राप्ति की सम्भावना मात्र होती है वह प्राप्त्याशा कहलाती है । जहां अपाय की (विघ्न की) निवृत्ति होने पर उपाय करने से फल प्राप्ति की निश्चयात्मिका स्थिति होती है उसे नियताप्ति कहते हैं । सम्पूर्ण फलों की जो संप्राप्ति है उसे फलागम या फलयोग कहते हैं[२]।

विद्यानाथ का पञ्चावस्थाओं का लक्षण पूर्ण रूप से दशरूपक पर

१- संधिनामैकैनप्रयोजनेनान्वितानां - - - - - - पञ्च संधय: ।। इति

- प्रताप०, पृ० १२७

२- औत्सुक्यमात्रमारम्भ: - - - - - - - - - फलागम उदाहृत: ।

- प्रताप०, पृष्ठ १२७ से १२८

आधारित है[1]। कहीं-कहीं थोड़ा शब्द भेद दिखायी देता है ।

पञ्च अर्थ प्रकृतियां -

नाटकीय कथावस्तु में पांच अर्थ प्रकृतियां होती हैं । ये पांचों अर्थ प्रकृतियां कथावस्तु की स्वभाव मानी जाती हैं । इन्हें छोड़कर कथावस्तु का कोई उद्देश्य या स्वरूप नहीं होता । ये अर्थ प्रकृतियां इस प्रकार से हैं :—

१- बीज :

नाटक के प्रमुख फल या लक्ष्य का मूलभूत कारण बीज कहलाता है जिसका आरम्भ में सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार किया जाता है, उस कार्य हेतु को बीज कहते हैं[2]। नाटक-लक्षणरत्नकोश के अनुसार - रूपक के आरम्भ में जो अल्पमात्रा में संकेतित या सूच्य होकर अपना विस्तार आगे लक्ष्यसिद्धि या फलप्राप्ति तक करता चले और फल के पूर्णत: उपलब्ध होने के बाद समाप्त हो जाये तो फलप्राप्ति तक निरन्तर विद्यमान रहने वाले अर्थप्रकृति के उस अंग को बीज कहते हैं[3]।

१- औत्सुक्यमात्रमारम्भ: -- - - - - -- फलयोगो यथोदित: ।

- दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० २१-२२

२- (क) स्तोकोद्दिष्ट: कार्यहेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।।

- प्रतापरु०, पृ० १२८

(ख) स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।।

- दशरूपक, १।२५, पृ० १८

३- बीजंनाटकार्थस्य फलभूतस्य कारणम् । तद्यथा - किंचिन्मात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति । यावत्फलावसानञ्च तद्बीजमिति कीर्तितम् ।। किंचित्स्तोकं प्रश्लेषच्छायोपक्षेपप्रभृतिभिरङ्गैस्समुद्दिष्टं कथितम् । बहुधा विसर्पति फलावसानं यावत्तद्बीजमित्यर्थ: ।

- ना० ल० र० को०, पृ० १५

२- बिन्दु :

अवान्तर अर्थों के विच्छिन्न हो जाने पर भी जो आगामी प्रयोजनों के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला कारण है[1] विद्यानाथ के अनुसार वह बिन्दु कहलाता है । अर्थात् अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाता है, वह विच्छेद हो जाने पर जो उसके सातत्य का कारण होता है वह बिन्दु कहलाता है । धनिक के अनुसार जिस प्रकार जल में तैल बिन्दु फैल जाता है उसी प्रकार यह फलोपाय नाट्य में फैला रहता है इसलिये यह बिन्दु कहलाता है[2]। सागरनन्दी के अनुसार बिन्दु जलबिन्दु के समान होता है । जैसे - जलधारा के टूट जाने पर भी जलबिन्दु बूंदों के बीच-बीच में गिरते हुए अपनी स्थिति बनाये रखता है उसी प्रकार बीच बीच में अविच्छिन्न होने पर भी अविच्छिन्न सा रहकर यह बिन्दु भी प्रयोजन की सूचना देता है । इस प्रकार बिन्दु वह है जो प्रयोजनों के बिखर जाने पर भी उसकी अविच्छिन्नता का कारण बनकर कार्य या फल की पूर्णता पर्यन्त बना रहता है[3]। इस प्रकार रूपक की कथावस्तु का एक प्रधान फल होता है जो महाकार्य कहलाता है । इसके हेतु का संक्षेप में निर्देश होता है वह बीज

१- (क) अवान्तरार्थ विच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।

- प्रताप०, पृ० १२८

(ख) अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।।

- दशरूपक, १।१७, पृ० १६

२- बिन्दुः -- जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात् ।

- दशरूपक, प्रथमप्रकाश, अवलोक, पृ० १६

३- बिन्दुरिव बिन्दुः । विच्छिन्नायामपि धारायां यथा जलबिन्दुः पटलपर्यन्तेऽवन्तरान्तरालव्यनिबनिपातः पयसां पतनमभिव्य नयति तथायमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।

- ना० ल० र० को०, पृ० १८

कहलाता है। किन्तु बीच-बीच में कथांशों के अनेक प्रयोजन हुआ करते हैं जो अवान्तर कार्य कहलाते है। जो बिन्दु कहलाता है। नाट्यदर्पण में बिन्दु का स्वरूप अधिक स्पष्ट किया गया है। तदनुसार अवान्तर कार्यों से मुख्यफल के विच्छिन्न होने लगने पर जो मुख्य फल का नायकादि के द्वारा अनुसंधान किया जाता है वही बिन्दु कहलाता है[1]। यह भी बीज के समान समस्त नाटक आदि में अन्त तक विद्यमान रहता है।

३- पताका :

प्रतिपाद्यकथा का अङ्ग होती हुई भी जो कथा प्रबन्ध-व्यापिनी होती है वह कथा पताका कहलाती है[2]। धनंजय ने कथावस्तु के भेद बतलाते हुए प्रासंगिक वस्तु के भेद के रूप में पताका और प्रकरी का उल्लेख किया है। अनुबन्ध सहित अर्थात् दूर तक चलने वाला प्रासङ्गिकवृत्त पताका कहलाता है[3]। सागरनन्दी के अनुसार पताका किसी खम्भे या बांस पर चढ़ाये गये ध्वज के समान होती है और जैसे किसी एक स्थान पर विद्यमान होकर भी ध्वज सारे सैन्य की उपस्थिति सूचित करता है वैसे ही नाटक के एक भाग में स्थित रहकर भी यह पताका सारे नाटक को प्रकाशित करती है। जैसा कि कहा भी गया है कि जो घटना किसी अन्य उद्देश्य से रखी जाने पर भी मुख्य कार्य के सम्पादनार्थ

१- हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं बहूनां बिन्दुराफलात् ।।

- ना० द० १।३२, पृ० ७७

२- प्रतिपाद्यकथाङ्गं स्यात् पताका व्यापिनी कथा ।। ७ ।।

- प्रताप०, पृ० १२६

३- सानुबन्धं पताकाख्यं - - - - - - ।।

- दशरूपक १।१३, पृ० १३

प्रमुख रूप में संयोजित की जाये तो उसे पताका समझना चाहिये[1]।

४- प्रकरी :

जो कथा प्रबन्ध व्यापिनी नहीं होती वह प्रकरी कहलाती है[2]। दशरूपककार ने भी मुख्य वस्तु के एकदेश में रहने वाली कथा को प्रकरी कहा है[3]। सागरनन्दी के अनुसार पुष्पों के ढेर के समान एक विशेष स्थान पर एकत्र करने जैसी, जिसकी अतिशय शोभा हो जाती है उसे प्रकरी कहते हैं। जैसा कि आचार्य भरत ने भी कहा है कि इसका फल किसी अन्य (मुख्य) पात्र के लिये रहता हो परन्तु फिर भी जो कथावस्तु से अविच्छिन्नता न रखे तो उसे प्रकरी समझना चाहिये[4]। अर्थात् जिसका प्रयोजन या फल दूसरे

१- ध्वजोपरि निहितपताकेव पताका। यथेयमेकदेशे स्थायिनी सकलमपि सैन्यं द्योतयति यथा -- वेयमपि नाटकैकदेशवर्तिनी नाटकं सकलमेव प्रकाशयति। तद्यथा --
यद्वृत्तं हि परार्थं स्यात्प्रधानस्योपकारकम्।
प्रधानवच्च कल्प्येत पताका साभिधीयते ।। २५ ।।

- ना० ल० र० को०, पृ० २०

२- अव्यापिनी प्रकरिका - - - - - - ।

- प्रताप०, पृ० १२६

३- - - - - - प्रकरी च प्रदेशभाक् ।।

- दशरूपक, १।१३, पृ० १३

४- पुष्पप्रकरवन्निहिता या शोभां जनयति सा प्रकरी। तद्यथा—
फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थं केवलं बुधैः।
अनुबन्धविहीनां तां प्रकरीमिति निर्दिशेत् ।। २६ ।।

- ना० ल० र० को०, पृ० २१

पात्र के लिये रखा जाता हो । यह कथा अनुबन्ध से हीन होती है । अर्थात् इसमें नैरन्तर्य या अविच्छिन्नता नहीं होती है । यह उत्पन्न होती है और समाप्त हो जाती है ।

५- कार्य :

प्रधान इष्ट के विषय में निर्वाह करने वाला जो कथा का अन्तिम अवयव है वह कार्य होता है[1]। दशरूपक में कार्य को इतिवृत्त के फल के रूप में स्वीकार किया गया है । यह फल त्रिवर्ग होता है अर्थात् धर्म,अर्थ और काम मुख्य इतिवृत्त का फल होता है । यह कभी तो शुद्ध (त्रिवर्ग में से कोई एक) और कभी एक से अनुगत तथा कभी अनेक से अनुगत होता है[2]। इस प्रकार जिसके लिये काव्य का प्रारम्भ किया जाये तथा जिसके पूर्ण होने पर काव्य की समाप्ति हो तो आनुषंगिक कार्यों के द्वारा सम्पन्न होने वाले उस अङ्ग को कार्य समझना चाहिये । जैसा कि भरत ने कहा है -- आधिकारिक (मुख्य) कार्य की पूर्ति के लिये जिसे आरम्भ किया जाता है वह कार्य कहलाता है[3]।

इस प्रकार ये पांच फल की सिद्धि के उपाय हैं । नाट्यदर्पण में अर्थ-प्रकृतियों को उपाय कहा गया है[4]। नाट्यदर्पण के अनुसार इन पांच उपायों

१- - - - - -- कार्यं निर्वाहकृत् फले ।

- प्रताप०, पृ० १२६

२- कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।।

- दशरूपक, १।१६, पृ० १७

३- यदाधिकारिकं कार्यं पूर्वमेव प्रकीर्तितम् ।
तदर्थौ या समारम्भस्तत् कार्यमिति कीर्तितम् ।। - ना० शा० २१।२७

४- बीजं पताकाप्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि ।
फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः ।।

- ना० द० १।२८, पृ० ६२

में से बीज और कार्य ये दोनों जड़ (अचेतन) हैं और बिन्दु, पताका तथा प्रकरी ये तीनों चेतन हैं। इन पांचों अर्थप्रकृतियों में बीज, बिन्दु और कार्य ये तीन आवश्यक हैं। पताका और प्रकरी का सभी रूपकों में होना अनिवार्य नहीं है। जहां प्रधान नायक को सहायक की आवश्यकता नहीं होती है वहां पर ये दोनों अंग पताका और प्रकरी भी नहीं होते[1]।

कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों के स्वरूप विवेचन से यह स्पष्ट है कि अर्थप्रकृतियां फलसिद्धि के उपाय हैं और कार्यावस्थाएं नायक का व्यापार हैं। यद्यपि नाट्यशास्त्र में इतिवृत्त के सन्दर्भ में ही अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का उल्लेख किया गया है तथापि अर्थप्रकृतियों का साक्षात् सम्बन्ध इतिवृत्त के फल के साथ है, ये उसी फल की सिद्धि के उपाय होते हैं। इन दोनों का इतिवृत्त के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है वरन् परम्परया सम्बन्ध है। इसीलिये भारतीय नाट्यशास्त्र में इन दोनों के आधार पर इतिवृत्त का पांच भागों में विभाजन किया गया है जिसे पञ्चसन्धि कहा जाता है।

<u>पञ्चसन्धियां :</u>

भरत के अनुसार - इतिवृत्त नाट्य का शरीर है, उसका विभाग पांच सन्धियों द्वारा किया जाता है[2]। दशरूपक के अनुसार पांच अवस्थाओं से समन्वित होकर पांच अर्थप्रकृतियों से क्रमशः मुख इत्यादि पांच सन्धियां बन जाती हैं[3]। एक प्रयोजन से अन्वित होने पर किसी एक अवान्तर प्रयोजन के साथ

१- सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपाया:

- ना० द०, प्रथम विवेक, पृ० ८०

२- इतिवृत्तं तु काव्यस्यशरीरं परिकीर्तितम् ।
पञ्चभि: सन्धिभिस्तस्य विभागा: परिकीर्तिता: ।।

- ना० शा०, २१।१, पृ० २३८

३- अर्थप्रकृतय: पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता: ।।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या: पञ्चसन्धय: ।।

- दशरूपक, १।२२, पृ० २४

सम्बन्ध होना सन्धि कहलाना है[1]। किसी रूपक में कई कथांश होते हैं उनके अपने प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु, वे इतिवृत्त के प्रधान प्रयोजन से समन्वित होते हैं और किसी अवान्तर प्रयोजन के साथ भी उन सब का सम्बन्ध हुआ करता है। यही सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। सन्धियों का रचनात्मक स्वरूप इस प्रकार है --

१- बीज + आरम्भ = मुखसन्धि

२- बिन्दु + प्रयत्न = प्रतिमुखसन्धि

३- पताका + प्राप्त्याशा = गर्भसन्धि

४- प्रकरी + नियताप्ति = अवमर्श सन्धि

५- कार्य + फलागम = निर्वहण सन्धि

किन्तु यदि अर्थप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ क्रमश: सम्बन्ध होने पर सन्धि का आविर्भाव होता है तो कठिनाई यह है कि अर्थप्रकृतियों में पताका के बाद प्रकरी आती है अत: सन्धि में अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं का क्रमश: सम्बन्ध कैसे सम्भव है ? इसके अतिरिक्त ये सन्धियां पताका में भी होती हैं जिन्हें अनुसन्धि कहा जाता है। फिर अर्थप्रकृति तथा अवस्थाओं के योग से सन्धि का आविर्भाव कैसे माना जा सकता है। जबकि सन्धियां कार्यावस्थाओं का अनुगमन करती हैं[2]। इस प्रकार प्रारम्भादि अवस्थाओं के अनुसार क्रमश: मुखादि पांच संधियां होती हैं। विभिन्न सन्धियों में कथावस्तु का क्रमिक विकास निहित है और नायक का फलप्राप्ति की ओर अग्रसर होना भी। अर्थप्रकृतियों के साथ सन्धियों का क्रमिक सम्बन्ध नहीं बन सकता। बीज, बिन्दु और कार्य जो किसी भी रूपक के लिये अनिवार्य अर्थप्रकृतियां है और जो कथावस्तु में व्याप्त सी रहती

१- अन्तरैकार्थसम्बन्ध: सन्धिरेकान्वये सति ।।

- दश०, १।२३, पृ० २४

२- सन्धयो मुख्यवृत्तांशा: पञ्चावस्थानुगा: क्रमात् ।

- ना० द० १। ३७, पृ० ६४

हैं, उनकी विविध अवस्थाओं का पञ्चसन्धियों से योग अवश्य रहना है, विशेषकर बीज तथा कार्य की अवस्थाओं का। इस प्रकार दशरूपक तथा उसका अनुसरण करने वाले प्रतापरुद्रीय का सन्धि का स्वरूप विवेचन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता, किन्तु इससे अर्थप्रकृतियों का विभाजन व्यर्थ नहीं हो जाता। अर्थप्रकृतियां तो कार्यसिद्धि के उपाय हैं। कथावस्तु के संघटन तथा विकास में उनका अपना महत्व है। प्रश्न उठता है कि क्या ये पांचों सन्धियां सभी प्रकार के रूपकों में अनिवार्य हैं? नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक तथा प्रकरण में पांचों सन्धियां अनिवार्य हैं किन्तु अन्य रूपकों में इनमें से कुछ को छोड़ दिया जाता है[१]।

१- मुखसन्धि :-

जहां अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है वह मुखसन्धि है[२]। बीज और आरम्भ के समन्वय से इसके बारह अंग हो जाते हैं। ये बारह अंग इस प्रकार हैं -- उपक्षेप, परिकर,

---

१- पूर्णसन्ध्यपि यत्कार्यं हीनसन्ध्यपि वा पुनः।
नियमात्पूर्णसन्धिः स्याद्धीनसन्धिस्तु कारणात्॥
एते हि सन्धयो ज्ञेया नाटकस्य प्रयोक्तृभिः।
तथा प्रकरणस्यापि शेषाणां च निबोधत॥

- ना० शा०, २१।१८,४४, पृ० २३६-४१

२-(क) मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा॥ ८॥
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्।

- प्रताप०, पृ० १२६-३०

(ख) मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्॥

- दशरूपक, १।२४, पृ० २६

परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद और करण[1]।

दशरूपककार ने सन्धि के भेदों के संग्रह का बोध कराने वाली कारिका में तो उद्भेद भेद एवं करण का इसी उक्त क्रम से उल्लेख किया और इनकी व्याख्या करने के प्रसंग में उस क्रम को तोड़कर करण का पहले और भेद का बाद में निरूपण किया है। किन्तु विद्यानाथ ने उपर्युक्त क्रम में ही इनकी व्याख्या की है। सभी भेदों का लक्षण दशरूपक के ही आधार पर किया है। भेद के लक्षण को दशरूपक के ही आधार पर भरत से भिन्न लिखा है। मुखसंधि के बारह अङ्गों का स्वरूप इस प्रकार है -- १- काव्य के इतिवृत्त का बीजरूप से उपन्यास उपक्षेप है। २- उक्त बीज का बहुलीकरण (वृद्धि) परिकर है। ३- बीज की निष्पत्ति परिन्यास है। ४- बीज के गुणों का वर्णन विलोभन है। ५- बीज के अनुकूल नाटक की रचना एवं उसके प्रयोजन का विचार युक्ति है। ६- बीज के सम्बन्ध से सुख का आगम प्राप्ति है। ७- बीज का सम्यक् आगमन समाधान है। ८- बीज से उत्पन्न होने वाले सुख एवं दुख का हेतु विधान है। ९- बीज के विषय में आश्चर्य का आवेश परिभावना है। १०- गूढबीज का प्रकाशन उद्भेद है। ११- बीज के अनुकूल प्रोत्साहन का नाम भेद है। १२- बीज

१-(क) उपक्षेप: परिकर: परिन्यासो विलोभनम् ।।

युक्ति: प्राप्ति: समाधानं विधानं परिभावना ।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थानि यथाक्रमम् ।।

- प्रताप०, पृ० १३०

(ख) उपक्षेप: परिकर: परिन्यासो विलोभनम् ।।

युक्ति: प्राप्ति: समाधानं विधानं परिभावना ।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ।।

- दशरूपक, १।२५, पृ० २७

के अनुगुण रूप से अनुकूलभाव से प्रस्तुत कार्य का आरम्भकरण है[1]।

यहां सन्धियों की क्रियाओं में कर्तव्यों में क्रम की विवक्षा नहीं है। कौन क्रिया पहले करने की है कौन बाद में ऐसी परम्परा की आवश्यकता नहीं है अत: उद्देश्य एवं प्रतिनिर्देश में वैषम्य हो गया है अत: करणभेद के पूर्वापर कथन विपर्यय में दोष नहीं है।

२- <u>प्रतिमुखसन्धि</u> :-

मुखसन्धि में उपन्यस्त बीज की जो कहीं पर लक्ष्य रूप से और कहीं पर कुछ अलक्ष्य रूप से व्यक्त करना है उसको प्रतिमुख सन्धि मानी है[2]। दशरूपक में भी प्रतिमुख संधि का लक्षण इसी प्रकार से है कि वहां उस बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है वह प्रतिमुख संधि कहलाती है[3]। बिन्दु और प्रयत्न के योग से इसके तेरह अङ्ग होते हैं -- विलास, परिसर्प, विधुत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रशमन, विरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास और वर्णसंहार[4]। इन तेरह अंगों का स्वरूप इस प्रकार है -- १- संभोग के विषय की

१-(क) बीजन्यास: उपक्षेप: - - - - - - - कार्यारम्भ: कारणम् ॥

- प्रताप०, पृ० १३०

(ख) बीजन्यास उपक्षेप:- - --- - - भेद: प्रोत्साहना मता ॥

- दश०, प्र० प्र०, पृ० २७-२८

२- लक्ष्यालक्ष्यस्यबीजस्य व्यक्ति: प्रतिमुखं मतम् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥११॥

- प्रताप०, पृ० १३१

३- लक्ष्यालक्ष्यतोद्भेदतस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥

- दश०, १।३०, पृ० ३८

४- (क) विलास: परिसर्पश्च - - - - - वर्णसंहारइत्यपि ।

- प्रताप०, पृ० १३१

(ख) विलास: परिसर्पश्च - - - - वर्णसंहारइत्यपि ।

- दश०, प्र० प्र०, पृ० ४०

इच्छा विलास है । २- पहले कुछ दिखाई पड़ा किन्तु फिर अदृश्य हो गया ऐसे पदार्थ का अनुसरण परिसर्प है । ३- अनिष्ट वस्तु का विक्षेप दूरत: परिहरण विधूत है । ४- अरति का उपशमन शम है । ५- परिहास वचन नर्म है । ६-अनुराग के प्रकाशन से उत्पन्न प्रीति नर्मद्युति है । दशरूपककार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है कि परिहास से होने वाली द्युति नर्मद्युति है । ७- उत्तरोत्तर वाक्यों से अनुराग बीज का उद्घाटन (प्रकाशन) प्रगमन है । किन्तु, रूपक के दस प्रकार हैं उन सबमें शृङ्गार रस ही नहीं रहता अन्य रस भी होते हैं अत: दशरूपक का लक्षण, उत्तरोत्तर वाक्यों से बीज का प्रकाशन प्रगमन है, अधिक उपयुक्त है । ८- किसी कारण से हित का रुक जाना विरोध है । दशरूपक में इसे निरोध कहा गया है । ९- अपने इष्ट जन का अनुनय पर्युपासना है । १०- प्रत्यक्ष में निष्ठुर वाक्य बोलना वज्र है । ११- अनुराग प्रकाशन करने वाला विशिष्ट वाक्य पुष्प है । १२- अनुराग के जनक वाक्यों की रचना उपन्यास है । १३- चारों वर्णों (ब्राह्मणादि) का एकत्र वर्णन वर्ण संहार है । इन अंगों में परिसर्प, प्रगमन, वज्र, उपन्यास एवं पुष्प की प्रधानता है[१] ।

उपर्युक्त तेरह अंगों में विधूत का लक्षण विद्यानाथ ने 'अनिष्टवस्तु निक्षेप' लिखा है और दशरूपक में अरति कहा गया है । इसी प्रकार प्रतापरुद्रीय और दशरूपक में जिस अंग को शम कहा गया है नाट्यशास्त्र में 'तापन' है । दशरूपक में जिस अंग को निरोध कहा गया है प्रतापरुद्रीय में वह विरोध है।

इस प्रकार प्रधान वृत्त का द्वितीय भाग प्रतिमुख संधि है । इसमें मुख सन्धि में न्यस्त बीज की किंचित् लक्ष्य और यत्किंचिद् अलक्ष्य रूप से अभिव्यक्ति हुआ करती है । साथ ही नायक-व्यापार की प्रयत्नावस्था का वर्णन होता है ।

१- (क) संभोगविषयमनोरथो - - - - - - प्राधान्यम् ।

- प्रताप०, ना० प्र०, पृष्ठ १३१-३२

(ख) रत्यर्थेहा विलास: - - - - - - - - - वर्णसंहार इष्यते ।

- दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ४०-४८

फलत: अवान्तर बीज अर्थात् बिन्दु या महाबीज की अभिव्यक्ति के साथ प्रयत्न अवस्था की अन्विति का नाम प्रतिमुख सन्धि है । उसके उपर्युक्त तेरह अंगों में किसी न किसी रूप में इस अन्विति के दर्शन होते हैं ।

३- गर्भसन्धि :-

प्रतिमुख सन्धि में निर्दिष्ट होने पर भी जहां दिखलाई देकर खोये हुए बीज का बार-बार अन्वेषण किया जाता है वह गर्भ संधि है । पताका रूप अर्थप्रकृति के साथ प्राप्त्याशा रूप अवस्था के सम्बन्ध से या आनुगुण्य से इसमें अंगों की कल्पना करनी चाहिये[1] । गर्भसन्धि के बारह अंग इस प्रकार हैं -- अभूताहरण, मार्ग, रूप[2], उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, संभ्रम एवं आक्षेप[2] । इनका स्वरूप इस प्रकार है -- १- प्रस्तुत कार्य के उपयोगी अर्थात् आरम्भ किये हुए कार्य को सिद्ध करने के लिये छद्म करना अभूताहरण है । २- तत्त्वभूत पदार्थ का अनुकीर्तन मार्ग है । ३- वितर्क का प्रतिपादनकारी वाक्य रूप है । ४- प्रस्तुत के उत्कर्ष का अभिधान उदाहरण है। ५- सञ्चित सम्यक् रूप से विचारित अर्थ की प्राप्ति क्रम है । ६- प्रस्तुत के साधक साम (सान्त्वनामय) एवं दान प्रधान वाक्य संग्रह है । ७- लिङ्ग से (चिन्ह

१- (क) गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहु: ।। १३ ।।

- - - अस्याप्त्याशापताकानुगुण्येनाङ्गोपकल्पनम् ।

- प्रताप, पृ० १३२-३३

(ख) गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहु: ।

द्वादशाङ्ग: पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भव: ।।

- दश०, १। ३६, पृ० ५१

२- (क) अभूताहरणं - - - - - - द्वादशाङ्गान्यनुक्रमात् ।। १५।।

- प्रताप०, पृ० १३३

(ख) अभूताहरणं - - - - - -- - क्षाणां च प्रणीयते ।।

- दशरूपक, १।३७, पृ० ५१

विशेष के द्वारा) किसी हेतु से समझना अनुमान है । ८- रोष एवं सम्भ्रम युक्त वाक्य तोटक है । यहां संभ्रम का अर्थ संवेग एवं त्वरा है । ६- इष्टजन का अतिसन्धान (वञ्चना) अधिबल है । १०- अपकारी जन से होने वाला भय उद्वेग है । ११- शंका और त्रास सम्भ्रम है । १२- इष्ट अर्थ के उपयोगी उपाय का अनुसरण आक्षेप है । इन अंगों में अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल एवं आक्षेप का प्राधान्य है[१]।

उपर्युक्त अंगों में अधिबल का स्वरूप नाट्यशास्त्र के अनुसार किसी को कपट से वंचित करना है[२]। जबकि प्रतापरुद्रीय में इष्टजन को वंचित करना अधिबल है । इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में तोटक का लक्षण है - आवेगपूर्ण वचन को तोटक कहा गया है[३]। यह आवेग हर्ष से, शोक से, या अन्य निमित्त से हुआ करता है, जबकि प्रतापरुद्रीय में आवेग के निमित्त रोषमात्र का उल्लेख है । इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में संभ्रम के स्थान पर विद्रव नामक गर्भसन्धि के अंग का निरूपण है और धनञ्जय और विद्यानाथ ने जिस अंग को आक्षेप कहा है उसे नाट्यशास्त्र में आक्षिप्ति कहा गया है ।

४- विमर्शसन्धि :-

गर्भसंधि में प्रसिद्ध अर्थात् विकसित बीजरूप अर्थ का जिस किसी हेतु से (क्रोध, व्यसन इत्यादि) किसी कारण से सम्बन्ध दिखलाया जाता है वहां विमर्श संधि होती है[४]। इसमें नियताप्ति और प्रकरी की युक्ति

१- प्रस्तुतोपयोगिच्छद्मावरणम् ।- -- - - - प्राधान्यम् ।

- प्रताप०, पृ० १३३-३४

२- कपटेनातिसन्धानं ज्ञेयं त्वधिबलं बुधैः ।

- ना० शा०, २१।८०, पृ० २४४

३- संरम्भवचनं चैव तोटकं नाम संज्ञितम् ।।

- ना० शा० २१।८६, पृ० २४४

४- गर्भसंधौ प्रसिद्धस्य बीजार्थस्यावमर्शनम् ।
हेतुना येनकेनापि विमर्शः संधिरिष्यते ।। १६।।

- प्रताप०, पृ० १३४

से १३ अंग होते हैं । दशरूपक में इसे `अवमर्श` नाम दिया गया है । गर्भसंधि में फलप्राप्ति की सम्भावना होती है, बीज का उद्भेद हो जाता है किन्तु फिर क्रोध, व्यसन, विलोभन या शाप आदि के कारण विघ्न उपस्थित हो जाने से नायक फल-प्राप्ति के विषय में विमर्श (सन्देह) करने लगता है । तत्पश्चात् विघ्न हट जाने पर फल प्राप्ति का निश्चय हुआ करता है । इस प्रकार जहां नियताप्ति (कार्यावस्था) से समन्वित होकर बीज गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक प्रकट हो जाता है वह प्रधान वृत्त का भाग विमर्श संधि है । इसमें प्राप्त्यंश की प्रधानता और अप्राप्ति अंश की न्यूनता होती है किन्तु गर्भ संधि में अप्राप्ति अंश की ही प्रधानता होती है । इस संधि के तेरह अंग इस प्रकार हैं -- अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, निरोधन, प्ररोचन, विचलन एवं आदान[1]। इनका स्वरूप इस प्रकार है -- १- दोषों का प्रख्यापन अपवाद है । २- क्रोधमयभाषण संफेट है । ३-मारकाट एवं बन्धन आदि विद्रव है । ४- गुरुजनों का तिरस्कार द्रव नामक अंग हैं । ५- विरोध का शमन शक्ति है । ६- तर्जन एवं उद्वेजन द्युति है । ७- गुरुजनों का कीर्तन प्रसङ्ग है । ८- उनकी अवमानना छलन है । ९- अपनी शक्ति की प्रशंसा व्यवसाय है । १०- क्रोध के वेग से आकुल पात्रों का परस्पर अधिक्षेप निरोधन है । ११- सिद्ध है, प्रसिद्ध है ऐसा भविष्य का कथन प्ररोचन है । १२- अपने गुणों का प्रकटन विचलन है । १३- कार्यों या कर्तव्यों का संग्रह आदान है । इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचन एवं आदान ही प्रधान हैं[2]।

---

१ (क) तत्रापवाद: ------------ तु त्रयोदश ।। १८ ।।

- प्रताप०, पृ० १३४

(ख) तत्रापवादसंफेटौ - - -- --- - च त्रयोदश ।।

- दशरूपक १।४४, पृ० ६५

२ (क) दोष प्रख्यापनमपवाद: - - - - प्ररोचनादानानि प्रधानानि ।

- प्रताप०, पृ० १३५

(ख) दोषप्रख्यानमपवाद: - - - - - - आदानं कार्यसंग्रह: ।

- दश०, प्र० प्र०, पृ० ६५-७९

नाट्यशास्त्र में विद्रव और विचलन नामक अंगों को नहीं माना गया है । नाट्यशास्त्र में संभ्रम के स्थान पर विद्रव नामक गर्भसंधि का अंग माना गया है[1]। इसी प्रकार छलन नाम के अंग के स्थान पर छादन कहा गया है[2]। प्रतापरुद्रीय में अधिकांश अंग दशरूपक के ही समान माने गये हैं ।

संक्षेप में गर्भसंधि में उद्भिन्न हुआ बीज विमर्श सन्धि में फलोन्मुख हो जाता है । फल की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है । साथ ही फल के बाधक या विघ्नों के प्रति क्रोध आदि करके क्रोधपूर्ण उक्ति (संफेट) आदि का प्रयोग किया जाता है । कभी तर्जन उद्वेजन तथा कभी गुरुजनों तक के प्रति तिरस्कारभाव का भी वर्णन होता है । इसी प्रकार फल प्राप्ति का निश्चय हो जाने से आत्मशक्ति वर्णन, आत्मश्लाघा आदि के प्रसंग भी आ जाते हैं । इसी आधार पर विमर्श सन्धि के तेरह अंग हो जाते हैं । किन्तु, ये सब अंग सभी रूपकों में नहीं होते । अपवादादि उपर्युक्त पांच अंग सर्वत्र अनिवार्य हैं । दशरूपक में विमर्श संधि को अवमर्श संधि कहा गया है ।

५- निर्वहण सन्धि :-

जहां बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुखसंधि आदि में अपने-अपने स्थान पर यथासमय बिखरे हुए प्रारम्भादि अर्थों का एक प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह निर्वहण संधि कहलाती है[3]।

१- नाट्यशास्त्र, २१। ६१, पृ० २४४-४५

२- नाट्यशास्त्र, २१।६७, पृ० २४५

३- (क) बीजादयो मुखाद्येषु विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं तत् ।। ६।।
- प्रताप०, पृ० १३५

(ख) बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।
- दश०, १।४८, पृ० ८१

इतिवृत्त का अन्तिम भाग निर्वहण संधि है। इसमें पंचम कार्यावस्था फलागम कार्य (नायक-व्यापार) नामक अर्थप्रकृति के साथ समन्वय होता है। इस प्रकार बीज की फल रूप में परिणति हो जाती है। अथवा बीज से सम्बन्ध रखने वाले जो प्रारम्भ आदि व्यापार मुख आदि संधियों में दिखलाये जाते हैं उनका मुख्य प्रयोजन से सम्बन्ध दिखलाते हुए जहां उपसंहार किया जाता है वही कथावस्तु का भाग निर्वहण सन्धि कहलाता है। निर्वहण सन्धि के चौदह अंग हैं -- संधि, विरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, आभाषण, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार और प्रशस्ति[1]। इन अंगों का स्वरूप इस प्रकार है -- १- बीजरूप अर्थ का उपगमन स्वीकार करना संधि है। २- कार्य का मार्गण खोजना विरोध है। ३- कार्य का उपक्षेप ग्रथन है। ४- बीज के अनुगुण कार्य का प्रत्यापन (प्रकृष्ट कथन) निर्णय है। ५- आपस में बातचीत करना परिभाषण है। ६- पर्युपासन प्रसाद है। ७- वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति आनन्द है। ८- दु:ख का प्रशमन समय है। ९- लब्ध अर्थ का स्थिरीकरण कृति है। १०- प्राप्त कार्य का अनुमोदन आभाषण है। ११- अद्भुत की प्राप्ति उपगूहन है। १२- अभीष्ट कार्य का दर्शन प्रतीत होना पूर्वभाव है। १३- कार्य की उपसंहृति उपसंहार है। १४- आशंसन प्रशस्ति है।

१- (क) संधिर्विरोधो ग्रथनं निर्णय: परिभाषणम् ।।२०।।
प्रसादानन्दसमया: कृत्याभाषोपगूहनम् ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ।। २१ ।।

- प्रताप०, पृ० १३६

(ख) संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णय: परिभाषणम् ।।
प्रसादानन्दसमया: कृतिभाषोपगूहना: ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ।।

- दश०, १।४६,५०, पृ० ८२

विद्यानाथ ने दशरूपक के विबोध अंग को विरोध कहा है, यद्यपि लक्षण दोनों का एक ही है। निर्णय नामक अंग दशरूपक की अपेक्षा प्रतापरुद्रीय में अधिक स्पष्ट तथा नवीनता लिये हुए है। इसी प्रकार विद्यानाथ का आभाषण का लक्षण भी दशरूपक से भिन्न है। निर्वहण संधि में बीज का फल-प्राप्ति के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है। यह फल-प्राप्ति नायक-व्यापार (कार्य) के द्वारा होती है। इसी हेतु इसे कार्य नामक अर्थप्रकृति और फलागम नामक कार्यावस्था का समन्वय कहा गया है। उपर्युक्त सभी अंगों का फलागम से सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ फलप्राप्ति को दृष्टि में रखकर जो बीज का संधान किया जाता है वही संधि नामक अंग होता है। इसी प्रकार अन्त में निर्विरोध रूप से फलप्राप्ति हो चुकने पर काव्य संहार तथा प्रशस्ति नामक अंग हुआ करते हैं।

<u>संधियों के प्रयोजन :-</u>

इस प्रकार चौंसठ अंगों से समन्वित पांच सन्धियों का प्रतिपादन किया है। इन पांचों संधियों के छ प्रयोजन हैं -- १- इष्ट अर्थ की रचना, २- गोपनीय को गुप्त रखना, ३- प्रकाशन, ४- अभिनय में राग, ५- (काव्य का) वैचित्र्य और ६- इतिवृत्त का विच्छिन्न न होना[१]।

रूपक में जिस अर्थ का समावेश करना अभीष्ट होता है उस अर्थ का समावेश कर दिया जाता है। कथावस्तु का जो अंश रंगमंच पर दिखलाना

१- (क) एतेषां षट् प्रयोजनानि सम्भवन्ति - विवक्षितार्थप्रतिपादनं, गोप्यार्थगोपनं, प्रकाश्यार्थ प्रकाशनं, अभिनयरागसमृद्धिः, चमत्कारित्वम्, इतिवृत्तविस्तरश्चेति।

- प्रताप०, पृ० १४६

(ख) इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम्।
राग: प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥

- दशरूपक, १।५५, पृ० ६५

अभीष्ट नहीं होता गोपनीय होता है उसको छिपा लिया जाता है । जिस वस्तु का विस्तार करना उपयोगी है उसका विस्तार कर दिया जाता है । अथवा प्रकाशित करने योग्य वस्तु को प्रकाशित किया जाता है । संधि के अंगों की समुचित योजना से इतिवृत्त की संघटना इतनी सुव्यवस्थित हो जाती है कि अभिनेय वस्तु के विषय में दर्शकों की रुचि (राग) बढ़ने लगती है । बार-बार सुनी गयी भी कथा किसी काव्य या नाट्य का इतिवृत्त बन जाया करती है । संध्यङ्गों की सम्यक् योजना से उसका प्रयोग भी अपूर्व सा प्रतीत होने लगता है उसमें वैचित्र्य (चमत्कार) की प्रतीति होने लगती है । नाट्यादि प्रबन्धों में कथा का विच्छेद अरुचि एवं नीरसता को उत्पन्न कर दिया करता है, सन्ध्यङ्गों की सम्यक् योजना से कथावस्तु का विच्छेद नहीं होता ।कथावस्तु के अविच्छेद से रस की पुष्टि होती है । इसलिये रस-योजना में तत्पर कवियों को संध्यङ्गों की सम्यक् योजना करनी चाहिए[१] ।

वस्तु निबन्धन की दृष्टि से वस्तु विभाजन :-

रूपक में समस्त वस्तु का दो प्रकार से विभाग किया है -- सूच्य

१- सर्वसंधीनां चाङ्गानि इतिवृत्ताविच्छेदार्थमुपादीयन्ते । इतिवृत्तस्या-विच्छेदश्च रसपुष्ट्यर्थः । विच्छेदे हि स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् कुतस्त्यो रसास्वादः ? ततो रसविधानैकतानचेतसः कवेः प्रयत्नान्तरानपेक्षं यदंगमुज्जृम्भते, तदेवोपनिबद्धं सहृदयानां हृदयमानन्दयति । अङ्गानि च स्थायि-विभावानुभाव-व्यभिचारिरूपाणि द्रष्टव्यानि । अमीषां च स्वसन्धौ सन्ध्यन्तरे च योग्यतया निबन्धः । योग्यतां च रसनिवेशैक-व्यवसायिनः प्रबन्धकवयो विन्दन्ति - - - - - - - ।

- नाट्यदर्पण, प्र० वि०, पृ० १९६-९७

और असूच्य । असूच्य श्रव्य और दृश्य दो प्रकार की होती है[1]। रूपक दृश्य होते हैं । उनका रंगमंच पर अभिनय किया जाता है । इसलिये किसी नायक के जीवन की सभी घटनाओं का रूपक में वर्णन नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त भारतीय नाट्यपरम्परा के अनुसार कुछ घटनाओं का रंगमंच पर अभिनय करना वर्जित है जैसे - मृत्यु आदि । साथ ही, रूपक रसाश्रित होते हैं अत: नीरस वस्तु का वर्णन भी रूपक में वाञ्छनीय नहीं । इस प्रकार की सभी घटनाओं का अभिनय नहीं किया जा सकता किन्तु, कथा-सूत्र को अविच्छिन्न रखने के लिए इनकी सूचना अवश्य देनी होती है । इसी आधार पर दो प्रकार की वस्तु होती है- सूच्य और दृश्य । सूच्य वस्तु का प्रतिपादन पांच प्रकार से होना चाहिए— विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, प्रवेश एवं अङ्कावतार[2]।

१- विष्कम्भक -

बीते हुए और आगे होने वाले कथा भागों का सूचक, संक्षिप्त अर्थ वाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त जो अर्थोपक्षेपक है, वह विष्कम्भक कहलाता है[3]। वह दो प्रकार का होता है -- शुद्ध और संकीर्ण । जिसमें केवल

१(क) तत्रेतिवृत्तं सूच्यमसूच्यं चेति द्विविधम् । असूच्यमपि द्विविधं-दृश्यं श्रव्यं च ।

- प्रतापः, पृ० १४६

(ख) द्वेधा विभाग: कर्तव्य: सर्वस्यापीह वस्तुन: ।

सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥

- दश०, १।५६, पृ० ६६

२- तत्र सूच्यस्य सूचनाक्रम: पञ्चविध: । तथोक्तं दशरूपके - विष्कम्भ-चूलिकाङ्कास्यप्रवेशाङ्कावतारै: इति ।

- प्रतापः, पृ० १४६-४७

३-(क) वृत्तवर्तिष्यमाणानां - - - - मध्यपात्रप्रयोजित: ॥ २२ ॥

- प्रतापः, पृ० १४७

(ख) वृत्तवर्तिष्यमाणानां - - - - - मध्यपात्रप्रयोजित: ॥

- दश०, १।५९, पृ० ६७

संस्कृत की बहुलता है वह शुद्ध है । संस्कृत एवं प्राकृत से जो मिश्रित है वह संकीर्ण है । रूपक में तीन प्रकार के पात्र माने जाते हैं - उत्तम, मध्यम और अधम । उत्तम और मध्यम संस्कृत बोलते हैं और अधम प्राकृत भाषा बोलते हैं । अत: जहां एक या अनेक मध्यम पात्र होते हैं वहां शुद्ध विष्कम्भक होता है और जहां मध्यम और अधम पात्रों द्वारा इसका प्रयोग होता है वहां संकीर्ण विष्कम्भक होता है ।

२- चूलिका -

यवनिका के भीतर स्थित पात्रों द्वारा किसी अर्थ की सूचना देना चूलिका कहलाता है[1]। विद्यानाथ का चूलिका का लक्षण शब्दश: दशरूपक पर आधारित है ।

३- अंकास्य -

जहां पूर्व अङ्क के अन्त में रहने वाले पात्र उत्तरगत अंक के अर्थ की सूचना देते हैं वह अङ्कास्य है[2]। नाट्यशास्त्र में इसे अंकमुख कहा गया है तथा अङ्कावतार के बाद रखा गया है । भरत के अनुसार जहां किसी स्त्री या पुरुष पात्र के द्वारा पूर्व अंक में दूसरे अंक की विच्छिन्न प्रारम्भिक कथा (मुख) की सूचना दी जाती है वहां अंकमुख होता है[3]। दशरूपक और प्रतापरुद्रीय में नाट्यशास्त्र के ही लक्षण का अनुसरण किया गया है ।

१- अन्तर्यवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ।

- प्रताप०, पृ० १४८

२- अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यमुत्तराङ्कार्थसूचना ।। २३ ।।

- प्रताप०, पृ० १४८

३- विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
यत्र संक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते ।।

- ना० शा०, २१।११६, पृ० २४६

४- प्रवेशक -

वृत्त एवं वर्तिष्यमाण अर्थात् पूर्व अंकों में कथित अंश से और आगे के अंकों में कथनीय अंश से अवशिष्ट कथांशों का निर्देश करने वाला प्रवेशक कहलाता है । इसका प्रयोग नीच पात्रों द्वारा किया जाता है अत: प्रथम अंक में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए[1]। प्रवेशक और विष्कम्भक में यह समानता है कि अंकों में न दिखलाने योग्य इतिवृत्त का सूचक होता है । वर्ण्य अर्थ संक्षिप्त होता है । भूत तथा भविष्यत् के कथाभाग को सूचित करके कथासूत्र को जोड़ता है। दोनों में अन्तर यह है कि विष्कम्भक में विशेषकर मध्यम पात्रों का प्रयोग किया जाता है, कभी मध्यम के साथ अधम का भी । फलत: विष्कम्भक में मुख्यत: संस्कृत भाषा का व्यवहार होता है । प्रवेशक में केवल अधम पात्रों का ही प्रयोग होता है और तदनुसार इसमें संस्कृत भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता। विष्कम्भक की योजना प्रथम अंक के आरम्भ में तथा अन्य अंकों के आरम्भ में भी हो सकती है किन्तु प्रवेशक कभी प्रथम अंक के आरम्भ में नहीं आता ।

५- अङ्कावतार-

जहां पूर्व अंक में प्रयुक्त अर्थ से अनुस्यूत उत्तर अंक का अर्थ रहे और बिना सूचना दिये ही पात्रों का प्रवेश हो वह अंकावतार है[2]। नाट्यशास्त्र के अनुसार अङ्कावतार का लक्षण है - जहां प्रयोग का आश्रय लेकर पूर्व अङ्क के अन्त में ही अग्रिम अङ्क अवतरित हो जाता है वहां बीजार्थ की उक्ति से

१- वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शक: ।
प्रवेशकस्तु नाद्येऽङ्के नीचपात्रप्रयोजित: ।। २४ ।।
- प्रताप०, पृ० १४६

२- यत्र स्यादुत्तराङ्कार्थ: पूर्वाङ्कार्थानुसंगत ।
असूचिताङ्कपात्रं तदङ्कावतरणं मतम् ।।

- प्रताप०, पृ० १४६

युक्त अङ्कावतार कहलाता है[1]। विद्यानाथ ने नाट्यशास्त्र और दशरूपक के आधार पर ही अङ्कावतार का लक्षण दिया है किन्तु विद्यानाथ का लक्षण कुछ अधिक स्पष्ट है। अङ्कावतार में पूर्व अङ्क में अग्रिम अंक की वस्तु सूचित हो जाती है। उसे सूचित करने के लिये विष्कम्भक या प्रवेशक आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। अग्रिम अंक के पात्रों की सूचना नहीं दी जाती क्योंकि पूर्व अंक के पात्र ही अग्रिम अंक के आरम्भ में रहते हैं। पूर्व अंक की कथा के प्रवाह में ही अग्रिम अंक का आरम्भ हो जाता है।

इस प्रकार विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, प्रवेशक और अंकावतार इन पांचों के द्वारा सूचनीय अंश की सूचना देकर अवशिष्ट दिखाने के योग्य अंशों को अंकों के द्वारा दिखाना चाहिये। दशरूपक में इनका क्रम इस प्रकार है -- विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अङ्कावतार। इन पांचों के वर्णन के बाद विद्यानाथ ने अंक, आमुख, आमुख के अंग, वीथी आदि का वर्णन किया है। तत्पश्चात् दसरूपकों के स्वरूप का वर्णन किया है --

दस रूपकों का स्वरूप --

१- नाटक

साङ्ग अर्थात् उपक्षेप, परिकर आदि ६४ सन्ध्यङ्गों से युक्त मुख, प्रतिमुखादि पांच सन्धियों से सम्पन्न, पूर्व अर्थात् दशरूपकों में प्रथम, प्रकरणादि का मूल, आधिकारिक एवं प्रासंगिक वृत्तवाला, जहां वीर एवं शृङ्गार में से एक का प्रधान रूप से वर्णन हो और जो प्रख्यात इतिहासादि में प्रसिद्ध नायक से

१- अङ्कान्तरेऽथवाऽङ्के निपतति यस्मात् प्रयोगमासाद्य।
बीजार्थयुक्तियुक्तो विज्ञेयोऽङ्कावतारोऽसौ ॥

- ना० शा०, २१। ११५, पृ० २४६

युक्त होता है उसे नाटक कहते हैं[1]। रूपकों में नाटक प्रतिनिधिभूत रूपक है। इसमें सभी धर्मों का कथन किया जाता है, वस्तुत: नाटक के लक्षण में वस्तु, नेता, और रस का यथावश्यक परिवर्तन करके ही प्रकरण आदि के लक्षण बन जाते हैं। दशरूपक में नाटक का लक्षण इस प्रकार बताया गया है कि आरम्भ में पूर्वरङ्ग का कार्य करके सूत्रधार चला जाता है। फिर उसी के जैसा दूसरा नट प्रविष्ट होकर काव्य की स्थापना करता है[2]। नाट्यमण्डप के विघ्नों की शान्ति के लिए अभिनेय वस्तु के प्रयोग से पहले जो अभिनेता लोग मङ्गल आदि करते हैं वह पूर्वरङ्ग कहलाता है। पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत नान्दी आदि आते हैं।

नान्दी

जहां शब्द या अर्थ से काव्यार्थ की ईषत् सूचना दी जाती है और जो आठ, बारह, अट्ठारह या बाईस पदों से युक्त है वह नान्दी है[3]। नाटकादि

१- साङ्गैर्मुखप्रतिमुखगर्भमर्शोपसंहृतैः ।
पूर्वं प्रकृतिरन्येषामाधिकारिकवृत्तवत् ।। ३५ ।।
वीरशृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते ।
प्रख्यातनायकोपेतं नाटकं तदुदाहृतम् ।। ३६ ।।
- प्रताप०, पृ० १५५

२- पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ।।
- दशरूपक, ३।२, पृ० २०६

३- अर्थतः शब्दतो वापि मनाक् काव्यार्थसूचनम् ।
यत्राष्टभिर्द्वादशभिरष्टादशभिरेव वा ।।
द्वाविंशत्या पदैर्वापि सा नान्दी परिकीर्तिता ।। ३७ ।।
- प्रताप०, पृ० १५६

रूपकों के आरम्भ में प्रयुक्त पद्य को नान्दी कहते हैं । नान्दी का अर्थ है मङ्गलाचरण । नान्दी के बाद रंगमंच पर आने वाले सूत्रधार को रंगप्रसाधन करके भारती वृत्ति के आश्रयण से श्लोकों के द्वारा अभिनेयार्थ की सूचना करनी चाहिये जैसा कि दशरूपक में कहा है - रंग का मधुर प्रसाधन करके भारती वृत्ति में निर्मित काव्यार्थ सूचक श्लोकों के द्वारा किसी सामयिक ऋतु का उपादान करे । यह प्रक्रिया नाटक के विषय में मुख्य है[1] । यह नाटक कम से कम पांच अंकों में और अधिक से अधिक दस अंकों का होना चाहिये[2] ।

२- प्रकरण

प्रकरण में वृत्त उत्पाद्य हो धीरप्रशान्त नायक हो इनसे अवशिष्ट सभी अंग नाटक के तुल्य हों वह प्रकरण होता है[3] । विद्यानाथ के अनुसार प्रकरण में लोकस्तर का कवि-कल्पित (उत्पाद्य) इतिवृत्त तथा अमात्य, विप्र और वणिक् में से कोई एक नायक रखना चाहिए, जो धीरप्रशान्त हो एवं धर्मकाम और अर्थ (त्रिवर्ग) में तत्पर हो किन्तु उसकी कार्य सिद्धि विघ्नों से युक्त हो । प्रकरण में शेष सन्धि, प्रवेशक और रस आदि नाटक के समान ही रखने चाहिए[4] । प्रकरण

१- नाटकादिरूपकाणामादौ विहितं पद्यं नान्दीत्युच्यते । - - - नान्द्यनन्तरं प्रविष्टेन सूत्रधारेण रङ्गप्रसाधनपुरः सरं भारतीवृत्त्याश्रयणेन श्लोकैः काव्यार्थः सूचनीयः । तथोक्तं दशरूपके --
"रङ्गं प्रसाध्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।।" इति । एषा मुख्या ।
- प्रताप० १५६

२- पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ।
- दश० ३।३८, पृ० २३६

३ - उत्पाद्येनेतिवृत्तेन धीरप्रशान्तप्रधानकम् ।
शेषं नाटकतुल्याङ्गं भवेत् प्रकरणं हि तत् ।। ३८।। - प्रताप०,पृ० १५७

४- अथप्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
आमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ।।
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ।।
- दश० ३।३९,४०, पृ० २३७

में नायिका दो प्रकार की होती हैं -- कुलीन नारी तथा गणिका । किसी प्रकरण में अकेली कुलीन नारी ही होती है । किसी में अकेली वेश्या और किसी में कुलीन नारी और वेश्या दोनों ही होती है[1]।

३- भाण -

जिसमें भारती वृत्ति का बाहुल्य हो, सौभाग्य और शौर्य की संस्तुति हो, विट के द्वारा निपुण उक्ति से वीर और शृङ्गार की सूचना मात्र हो, इतिवृत्त कल्पित हो, धूर्त के चरित्र का वर्णन हो, एक अंक में तथा मुख और निर्वहण दो सन्धियां हों वह भाण माना जाता है[2]। दशरूपक के अनुसार- भाण वह रूपक है जिसमें कोई कुशल एवं बुद्धिमान् विट अपने द्वारा अनुभूत या किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत सम्बोधन एवं उक्ति प्रत्युक्ति करता है, शौर्य के वर्णन द्वारा वीर रस की तथा विलास (सौभाग्य) के वर्णन द्वारा शृङ्गार रस की सूचना देता है । उसमें अधिकतर भारती वृत्ति होती है । एक अंक होता है । कथावस्तु कल्पित होती है । अपने अंगों सहित मुख और निर्वहण दो संधियां होती हैं और लास्य के दस अंग होते हैं[3]। भाण

१- नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वाचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वय क्वचित् ।।
- दश० ३।४१, पृ० २३८

२- भारतीवृत्तिभूयिष्ठं शौर्य सौभाग्यसंस्तवैः ।
सूच्येते वीरशृंगारौ विटेन निपुणोक्तिना ।। ३६।।
कल्पितेनेति वृत्तेन धूर्त चारित्रवर्णनम् ।
एकोऽङ्को मुखनिर्वाहौ यत्र भाणः स संमतः ।।४० ।।
- प्रताप०, पृ० १५७-५८

३- भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ।।
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ।।
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ।।
- दश० ३।४६-५१, पृ० २४३-४४

में किसी वीररस प्रधान या शृङ्गार प्रधान चरित का वर्णन नहीं होता अत: ये रस स्पष्टत: नहीं दिखलाये जाते, अपितु विलास वर्णन के द्वारा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है और शौर्य वर्णन द्वारा वीर रस की ।

४- प्रहसन -

जिसमें भाण की तरह अर्थात् भाण में जिन अंगों को माना गया है वे सन्धियां, वह वृत्ति तथा वर्णन हो और हास्य रस प्रधान हो वह प्रहसन होता है[1]। इसके तीन भेद हैं -- शुद्ध, वैकृत और संकीर्ण । दशरूपक में इन भेदों को शुद्ध, वैकृत और संकर कहा है । नाट्यशास्त्र तथा नाट्यदर्पण में शुद्ध तथा संकीर्ण यही दो भेद माने गये हैं । दशरूपक में प्रहसन का लक्षण स्पष्ट नहीं है । इसकी अपेक्षा प्रतापरुद्रीय में प्रहसन का लक्षण अधिक स्पष्ट है । प्रहसन के तीन प्रकार इस तरह हैं -- जो स्वानुकूल वेश एवं भाषाओं, पाखण्डी विप्र, चेट एवं चेटी पात्रों से समाकुल हो और हास्यमय वाक्यों से अन्वित हो वह शुद्ध है । जो कामुकादि की भाषा और वेश को धारण करने वाले नपुंसक, कञ्चुकी तथा तपस्वी पात्रों से युक्त होता है वह विकृत प्रहसन है, जो वीथी के अंगों से समाकीर्ण और धूर्त आदि पात्रों से संकुल हो वह संकीर्ण प्रहसन कहलाता है ।

५- डिम -

जहां युद्ध प्रसिद्ध हो, कैशिकी को छोड़कर अन्य वृत्तियां हों, देव-गन्धर्व, यक्ष, राक्षस महान सर्प भूत प्रेत एवं पिशाच आदि सोलह अत्यन्त उद्धत नेता हों, हास्य एवं शृङ्गार को छोड़कर रौद्र रस प्रधान हो, चार अंक हों, विमर्श के अतिरिक्त चारों संधियां हों, माया, इन्द्रजाल, संग्राम तथा सूर्य एवं चन्द्रमा के ग्रहण हों, बाकी सब व्यवहार नाटक की तरह हो वह डिम कहलाता

१- यत्र सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गवर्णनं भाणवन्मतम् ।

हास्यो रस: प्रधानं स्याद्भवेत्प्रहसनं हि तत् ।। ४१ ।।

- प्रताप०, पृ० १५८

है[1]। दशरूपककार ने भी डिम का लक्षण इसी प्रकार बताया है[2]।

६- व्यायोग -

व्यायोग की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है । उद्धत नायक का आश्रय लिया जाता है । गर्भ और विमर्श संधियों से रहित होता है । डिम के समान ही रस होते हैं । एक दिन के चरित को दिखाने वाला एक अङ्क होता है और महायुद्ध का वर्णन होता है[3]। दशरूपक में भी व्यायोग का लक्षण इसी प्रकार है बल्कि दशरूपक में प्रतापरुद्रीय से अधिक विस्तृत वर्णन है[4]। दशरूपक के अनुसार इसमें स्त्री पात्रों का अभाव होता है क्योंकि कैशिकी वृत्ति नहीं होती ।

७- समवकार -

जहां नाटक की तरह प्रस्तावना हो, विमर्श को छोड़कर संधियां हों, विभिन्न उद्देश्य वाले अतएव भिन्न कार्य वाले देव असुरादि बारह नायक हों, वीर प्रधान रस हों, तीन अङ्क हों, जिन अंकों में क्रमश: वस्तु स्वभाव के अनुसार अथवा दैवसंयोग एवं वैरियों के द्वारा किये गये तीन प्रकार के कष्ट हों, नगर का घेराव युद्ध एवं अग्नि के निमित्त तीन प्रकार के विद्रव हों । धर्मार्थकाम के अनुगुण तीन प्रकार की शृंगार की रीतियां हों । तीन अंक हों जिनमें प्रथम

१- यत्र वस्तु प्रसिद्धं - - - - - - स डिम: परिकीर्त्यते ।।४७।।

- प्रताप०, पृ० १५६

२- डिमे वस्तु प्रसिद्धं - - - - - - डिम: स्मृत: ।

- दश०, ३। ५७-५६, पृ० २४८

३- यत्र ख्यातेतिवृत्तं - - - - व्यायोगो महारण: ।। ४८ ।।

- प्रताप०, पृ० १६०

४- ख्यातेतिवृत्तो व्यायोग: - - - - -- जामदग्न्यजये यथा ।।

- दश० ३।६०-६१, पृ० २४६

अंक में तीन प्रहरों में, द्वितीय अंक में एक प्रहर में और तृतीय अंक में आधे प्रहर में की जा सकने वाली कथा का अभिनय हो और तत्काल समुचित कुछ वीथी के अंग हों वह समवकार होता है[1]। समवकार में प्रयुक्त तीन प्रकार के कपट की कुमार स्वामी ने इस प्रकार से व्याख्या की है कि क्रूर प्राणी आदि से उत्पन्न होने वाला वस्तु स्वभावकृत कपट है, दैवयोगात् या वायु आदि से उत्पन्न होने वाला दैवकृत है और किसी अपकारी द्वारा किया गया कपट शत्रुकृत है[2]। कपटजन्य पलायन ही विद्रव है[3]।

८- वीथी -

जहाँ भाण की तरह अंगों की कल्पना हो, कैशिकी वृत्ति हो, शृङ्गार परिपूर्ण रस होता है अतः उसकी बाहुल्येन सूचना हो, उद्घात्यक आदि अङ्ग हों, वह वीथी की तरह वीथी होती है[4]। दशरूपक में इसका लक्षण इस प्रकार बताया है - वीथी तो कैशिकी वृत्ति में होती है इसमें संधि संध्यंग तथा अंक भाण की तरह होते हैं इसका मुख्य शृङ्गार रस होता है किन्तु अन्य रसों का भी स्पर्श करना चाहिए। यह प्रस्तावना के उद्घात्यक आदि अंगों से युक्त

१- यत्रामुखं नाटकवत् - - - - - - - - कैश्चिदन्वित: ।।

- प्रताप०, पृ० १९०-९१

२- वस्तुस्वभावकपट: क्रूरसत्वादिसम्भव: । दैविक: कपटो वह्निवर्षावाता दिसंभव: । शत्रुज: कपटस्तत्र संग्रामादिसमुद्भव: ।

- प्रताप०, रत्नापण टीका, पृ० १९०

३- कपटजन्यं पलायनं विद्रव: ।

- प्रताप०, रत्नापण, पृ० १९०

४- यत्र भाणवदङ्गानां - - - - - - - - वीथी वीथिवन्मता ।।५४ ।।

- प्रताप०, पृ० १९१

होती है । इस प्रकार एक या दो पात्रों के द्वारा प्रयुक्त वीथी की योजना करनी चाहिए[1]।

९- अंक -

जहां प्रख्यात इतिवृत्त हो, करुण रस प्रधान हो, स्त्रियों की क्रीडा हो, वाक्कलह हो, प्राकृत नर नायक हों, और भाण के समान सन्धियां एवं वृत्तियां हों उसकी अंक नाम की संज्ञा है । यह उत्सृष्ट नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि पहले नाटकादि में बतलाये हुए नाना प्रकारों का उल्लंघन करके बनाया गया है[2]। यह एक अंक का रूपक है अत: इसे अंक भी कहते हैं किन्तु नाटक आदि में जो अङ्क होते हैं उनसे इनका भेद दिखलाने के लिए इसे उत्सृष्टाङ्क कहते हैं[3]। अङ्क के रचना विधान में अन्तर है ।

१०- ईहामृग -

जिसमें वृत्त मिश्र हो, चार ही अंक हों, तीन संधियां हों, नियमत: नायक और प्रतिनायक धीरोद्धत मर्त्य और दिव्य हों । किसी दिव्य अङ्गना के हरण करने की कामना करने वाले अतएव रसाभास से युक्त कामुकों में परस्पर युद्ध हों, जहां पर्यन्त में वध न हो वह ईहामृग कहलाता है[4]।

१- वीथी तु कैशिकी वृत्तौ - - - - - - -द्वयेकपात्रप्रयोजिता ।

- दश०, ३।६८-६९, पृ० २५३

२- यत्रेतिवृत्तं प्रख्यातं -------- स उत्सृष्टोऽङ्कसंज्ञक: ।। ५५।।

- प्रताप०, पृ० १६१-६२

३- उत्सृष्टाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् ।

- दश०, धनिक की टीका, तृतीय प्रकाश, पृ० २५४ ।

४- मिश्रमीहामृगे वृत्तं - - - - आभासरस्योस्तयो: ।। ५७।।

- प्रताप०, पृ० १६२

इस प्रकार विद्यानाथ ने दसरूपकों का उल्लेख करने के बाद नाटक प्रकरण में दिये गये नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर नाटक को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है । विद्यानाथ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुरूप यह नाटक एक अच्छा उदाहरण है किन्तु यदि दशरूपक और नाट्यशास्त्र के अनुसार इसे परखा जाये तो कई स्थानों पर दोष दिखाई पड़ सकता है । क्योंकि कई सिद्धान्तों में विद्यानाथ का मत इन ग्रन्थों से भिन्न है । इसके अतिरिक्त इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा ग्रन्थकार के आश्रयदाता के बारे में बहुत सारी सूचनाएं प्राप्त होती हैं साथ ही विद्यानाथ का भी कालनिर्धारण में सहायता प्राप्त होती है ।

-o-

अष्टम अध्याय

-o-

अलंकार विवेचन

अलङ्कार

विद्यानाथ ने अलङ्कार की सामान्य परिभाषा में अलंकार को काव्य के चारुत्व का हेतु कहा है । अर्थात् जिससे काव्य के शब्दार्थ शरीर को अलंकृत किया जाये उस चारुता के हेतु को अलंकार कहते हैं[१]। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है और उन्हें काव्य के अलंकार कहा है[२]। उपमा अलंकार की परिभाषा में भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि भरत उसे केवल नाट्य के क्षेत्र में सीमित अलंकार नहीं मानते थे वरन् उसे सामान्य रूप से काव्य मात्र का (श्रव्य तथा दृश्य) अलंकार मानते थे[३]। भामह तथा उद्भटादि अलंकार को काव्य सौन्दर्य के लिये काव्य का अनिवार्य धर्म मानते हैं[४]। भामह तथा उद्भट ने काव्य शोभा के साधक धर्म को अलंकार मानकर गुण, रस आदि को भी अलंकार की सीमा में समेट लिया। भामह ने काव्य के अलंकार को नारी के आभूषण की तरह मानकर कहा जैसे -

---

१- अलंक्रियतेऽनेनेति चारुत्वहेतुरलंकारः ।

- प्रताप०, शब्दालंकार प्रकरण, पृ० ३६७

२- उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।।

- ना० शा० १७ ।४३, पृ० २८६

३- यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमानाम सा ज्ञेया गुणाकृति समाश्रया ।।

- ना० शा० १७ ।४४, पृ० २८७

४- इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः
प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारितयालङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते ।

- अलंकारसर्वस्व, भूमिका, पृ० ४

रमणी का सुन्दर मुख भी भूषण के अभाव में सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार अलंकार-हीन काव्य सुशोभित नहीं होता[1]। आचार्य दण्डी ने अलंकार के व्यापक अर्थ में उसे काव्य का हेतु कहा है[2]। उन्होंने तो संधि-संध्यङ्ग जैसे चीजों को भी अलंकार के अन्तर्गत परिगणित कर लिया है[3]। वामन ने अलंकार को काव्य-सौन्दर्य का पर्याय मानकर काव्य को अलंकार के सद्भाव से ग्राह्य माना[4]। वामन ने गुण और अलंकारों में भेद करने का प्रयास किया। उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। सौन्दर्य तथा सौन्दर्य साधन। आनन्दवर्धन की अलंकार के सम्बन्ध में सामान्य धारणा है कि रस को प्रकाशित करने वाले[5] वाच्य विशेष (चमत्कारपूर्ण कथन) का चारुत्व हेतु ही रूपकादि अलंकार है। उनके अनुसार अलंकार की सार्थकता रस प्रकाशन में ही है। रस व्यंजना के साथ सहभाव

१- न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।

- काव्यालंकार १।१३, पृ० ७

२- काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।

- काव्यादर्श, २।१, पृ० ७०

३- यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥

- काव्यादर्श २। ३६७, पृ० २२१

४- काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । सौन्दर्यमलङ्कारः ।

- का० सू० वृ० १।१।१-२, पृ० ४-५

५- - - - तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः ।

- ध्वन्यालोक, द्वि० उद्योत, पृ० २३४

से आने वाले अलंकार को आनन्दवर्धन ने अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलंकार कहा[1]। आचार्य मम्मट ने काव्य-पुरुष के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना कर उसमें अलंकार का स्थान निर्धारित करने का प्रयास किया है। अलंकार काव्य-पुरुष के शरीर (शब्द और अर्थ) को विभूषित करते हैं। अत: वे मानव शरीर के हारादि आभूषणों की तरह उसके अलंकार हैं[2]। विद्यानाथ ने भी अलंकारों को हारादि के समान माना है। इसके लिये उन्होंने मम्मट के मत का उल्लेख किया है[3]। लोक जीवन में जैसे आभूषण धारण करने वाले का शरीर अलंकृत होकर लोकधारणा को प्रभावित करता है और इस प्रकार अलंकृत व्यक्ति की आत्मा का भी उपकार होता है। उसी प्रकार काव्य के अलंकार से काव्य का शब्दार्थ रूप शरीर अलंकृत होकर उसकी आत्मा रस को उपकृत करता है। आश्रयाश्रयी भाव से लोक की तरह काव्य में भी अलंकार्य (शब्द-अर्थ) तथा अलंकार भाव संगत होता है[4]। कुन्तक ने अलंकार और अलंकार्य के भेदाभेद के प्रश्न पर बहुत ही तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार अलंकार्य शब्द और अर्थ हैं[5]। प्रकृत

१- रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य: सोऽलंकारो ध्वनौ मत: ।।
- ध्वन्यालोक, २।१६, पृ० २३१

२- उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ।।
- काव्यप्रकाश, ८।६७, पृ० ३८१

३- तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे -
उपस्कुर्वन्ति तं सन्तं - - - - - उपमादय: ।
- प्रतापः०, शब्दा० प्र०, पृ० ३६८

४- यथा करचरणाद्यवयवगतैर्वलयनूपुरादिभिस्तत्तदलङ्कारतया प्रसिद्धैरवयव्येवालंक्रियते तथा शब्दार्थावयवगतैरनुप्रासोपमादिभिस्तत्तदलंकारतया प्रसिद्धैरवयवीभूतं काव्यमुपस्क्रियते। आश्रयाश्रयि भावेनालंकार्यालंकारभावो लोकवत् काव्येऽपि संगत: । - प्रताप० शब्दा० प्र०, पृ० ३६८

५- उभावेतावलंकार्यौ तयो: पुनरलंकृति: ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते ।।
- वक्रोक्तिजीवितम् १।१०, पृ० १६

शब्दार्थ अलंकृत होने पर ही काव्य की कोटि में आते हैं[1]। वे वक्रोक्ति से अलंकृत होते हैं, अतः अलंकार्य हैं। वक्रोक्ति, प्रकृत शब्दार्थ को अलंकृत करती है अतः अलंकार है। वस्तुतः शब्द तथा वाच्य अर्थ मुख्य रूप से तथा रस, भावादि परम्परया अलंकार्य माने जाते हैं और उन्हें अलङ्कृत करने वाले अनुप्रास उपमा आदि अलंकार हैं।

अलंकारों का मूलाधार -

विद्यानाथ ने अलंकारों का मूलाधार उक्तिवक्रता को माना है[2]। अलंकारों के मूलाधार का निर्देश भामह ने किया था। उनके अनुसार वक्रोक्ति ही सब अलंकारों का मूल है[3]। दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशयोक्ति कहा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी प्रकार की वक्रोक्तियों में प्रायः श्लेष का सम्पर्क भी स्वीकार किया है[4]। वामन ने अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकारों को

१- सत्यमित्याह - तत्वं सालंकारस्य काव्यता।

- वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेष, पृ० १६

२- उक्तिवक्रत्वे कथंचित संभवत्यत्येवंविधलक्षणाभावात् सर्वालंकारेभ्यो भिद्यते।

- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ४६३

३- सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।

- काव्यालंकार २। ८५, पृ० ६२

४- अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

- काव्यादर्श, २। २२०, पृ० १८०

ही चर्चा की है । अत: उनका आधार उपमा कहा जाये तो ठीक होगा[1]। रुय्यक अभिधान अर्थात् कथन के प्रकार-विशेष को अलंकार का स्वरूप मानते हैं । उनके अनुसार कवि-प्रतिभा से समुद्भूत कथन का प्रकार विशेष ही अलंकार है[2]। कुन्तक ने वक्रोक्ति के कहने के वैदग्ध्यपूर्ण ढंग को काव्य का अर्थात् शब्द और अर्थ का अलंकार कहा है[3]। आनन्दवर्धन ने 'वाग्विकल्प' अर्थात् कथन के अनूठे ढंग के प्रकार को तथा अतिशयोक्ति को अलंकार का मूलाधार माना है[4]। अभिनवगुप्त ने भी कथन के निराले ढंग के प्रकार विशेष को अलंकार माना है[5]। विद्यानाथ ने भी प्राचीन आचार्यों की धारणा का अनुसरण करते हुए उक्ति वक्रता को अलंकार का मूल आधार माना है ।

१- सम्प्रत्युपमाप्रपञ्चो विचार्यते । कः पुनरसावित्याह - प्रतिवस्तुप्रभृति-रुपमाप्रपञ्चः ।

- का० सू० वृ० ४।३।१, पृ० २२२

२- अभिधान प्रकारविशेषा एव चालङ्काराः ।

- अलंकारसर्वस्व, भूमिका, पृ० २१

३- - - - वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।

- वक्रोक्तिजीवितम्, १।१०, पृ० १६

४- अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः ।

- ध्वन्या० ३।३६ की वृत्ति, पृ० ५०५

प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्य क्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् ।

- ध्वन्या० तृतीय उद्योत, पृ० ४९८-९९

५- शब्दस्य हि वक्रता अर्थस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलंकारस्यालंकारभावः ।

- ध्वन्या० लोचन, तृतीय उद्योत, पृ० ४९९-५००

अलंकारों का वर्गीकरण -

विद्यानाथ ने आश्रयभेद के आधार पर अलंकारों के तीन प्रमुख वर्ग किये हैं -- शब्दगत, अर्थगत और उभयगत[1]। इन तीनों भेदों को चित्र काव्य का भेद माना है[2]। भामह शब्दालंकार और अर्थालंकार ये दो भेद मानते हैं[3]। काव्यप्रकाशकार के अनुसार शब्द के जैसा अर्थ भी कविसंरम्भगोचर होता है और अर्थ के समान शब्द भी रस प्रतीति में उपयोगी होता है। अत: उभयाश्रित होने से अलंकार दो प्रकार का होता है। शब्दगत, अर्थगत एवं उभयगत अलंकारों की शब्दगतता और अर्थगतता के मूलाधार के विषय में प्राय: दो आधार उपस्थित किये जाते हैं - आश्रयाश्रयि भाव एवं अन्वयव्यतिरेक। मम्मट ने प्रथम आधार का खण्डन किया है। उनके अनुसार शब्द एवं अर्थ का ऐसा अभेद है कि वे काव्य में अकेले रह ही नहीं सकते हैं। काव्यगत शब्द न तो अर्थशून्य होता है और न वहां बिना शब्द के अर्थोपलब्धि हो सकती है। अत: यह मानना चाहिए कि दोनों (शब्दार्थ) के रहने पर भी जिसके साथ किसी खास अलंकार जनित चमत्कार का नियत सम्बन्ध हो उसी के साथ उस अलंकार का सम्बन्ध भी बनाना चाहिए[4]।

१- तत्र प्रथमं शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यमलंकारवर्गस्य।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ३६८

२- चित्रं तु काव्यं शब्दार्थालंकारचित्रतया बहुविधम्।

- प्रताप०, काव्य प्र०, पृ० ११६

३- शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु न:।

- काव्यालंकार १। १५, पृ० ८

४- उच्यते - इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभाग: स: अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथाहि कष्टत्वादि- गाढत्वादि- अनुप्रासादय:, व्यर्थत्वादि प्रौढ्यादि- उपमादय:, तद्भाव- तद्भावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

- काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, पृ० ४२३

किन्तु विद्यानाथ ने इस खण्डन के बावजूद अलंकारों में शब्दों व अर्थों का विभेद करते समय अलंकारसर्वस्वकार के आश्रयाश्रयिभाव को ही स्वीकार किया है[1]। अलंकार सर्वस्वकार के अनुसार वर्गीकरण के सन्दर्भ में जो शब्दाश्रित है वह शब्दालंकार और जो अर्थाश्रित है वह अर्थालंकार होगा, यह उसी प्रकार है जैसे कान के आश्रित होने से उससे सम्बन्धित आभूषण कर्णाभूषण एवं हाथ के आश्रित रहकर हस्ताभूषण कहलाते हैं[2]।

शब्दालंकार -

शब्द और अर्थ में शब्द अर्थ की प्रतीति में अन्तरंग है। इसीलिए विद्यानाथ ने शब्दार्थालंकार के मध्य शब्दालङ्कारों को प्राथमिकता दी है[3]। शब्दालंकार में शब्द का चमत्कार प्रमुख रूप से रहता है। पहले शब्द श्रुतिगोचर हो लेता है तब अर्थ की प्रतीति होती है। अत: हृदय पर पहला प्रभाव शब्द का ही पड़ता है और हृदय उसी से आवर्जित तथा आह्लादित होता है। स्वभावत: काव्य में प्रमुखता शब्दालङ्कार की है। यह शब्द पर आश्रित रहता है फलत: अपने आश्रयभूत शब्द का पर्याय-परिवर्तन सहन नहीं कर सकता। अत: अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध किया गया है कि किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची

१- यथा करचरणाद्यवयवगतैर्वलयनूपुरादिभिस्तत्तदलंकारतया प्रसिद्धैरवयव्येवालंक्रियते - - - - शब्दार्थाश्रयास्त्वलंकारा:।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ३६८

२- लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तदलङ्कारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजके। नतदलंकारत्वे।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० ३७८

३- अथालंकारस्वरूपविभागानन्तरं शब्दार्थयोर्मध्ये शब्दस्यार्थप्रतीत्यन्तरङ्गत्वात् प्रथमं शब्दालंकारा निरूप्यन्ते।

- प्रताप० शब्दा० प्र०, पृ० ४०२

शब्द रख देने पर यदि अलंकारत्व नष्ट हो जाता है तो वह शब्दालंकार होगा।[1]

अलंकारों की संख्या के विषय में बड़ा मतभेद है चाहे वह शब्दालंकार हो या अर्थालंकार। शब्दालंकारों में वामन ने केवल अनुप्रास और यमक इन दो की ही गणना की है[2]। मम्मट ने इन दो के अतिरिक्त वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास को भी मिलाकर छ: शब्दालंकार माने हैं। विद्यानाथ ने शब्दालंकार के अन्तर्गत अनुप्रास के तीन प्रकार, यमक, पुनरुक्तवदाभास और चित्रालंकार इन छ: अलंकारों को माना है।

<u>अनुप्रास —</u>

प्राय: सभी आचार्यों ने अनुप्रास अलंकार को शब्दालंकार में स्थान दिया है, सम्भवत: इसीलिए विद्यानाथ ने भी शब्दालंकारों में सर्वप्रथम अनुप्रास अलंकार का ही उल्लेख किया है। आचार्य भामह ने 'सरूप-वर्ण-विन्यास' को अनुप्रास बताया और उसके ग्राम्या और लाटीया दो भेद बताए[3]। दण्डी ने 'पादगत या पदगत वर्णावृत्ति' को अनुप्रास कहा[4]। वह आवृत्ति बहुत व्यवहित न हो। मम्मट ने 'वर्णसाम्य' को अनुप्रास कहा है और यह भी कहा है कि वह

१- - - - - पदे परिवर्तिते नालङ्कार इति शब्दाश्रय:, अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयते इत्यर्थनिष्ठ: - - - - - - ।

- काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, पृ० ४३६

२- तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ ।

- का० सू० वृ० ४ ।१ पृ० १६०

३- सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते ।
किन्तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम् ।।

- काव्यालंकार २।५, पृ० ३१

४- वर्णावृत्तिरनुप्रास: पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ।।

- काव्यादर्श, १।५५, पृ० ४८

छेक तथा वृत्तिगत दो प्रकार का होता है[1]। अलंकारसर्वस्वकार का मत इस प्रकार है उन्होंने पौनरुक्त्य को दो प्रकार का माना- अर्थपौनरुक्त्य तथा शब्द-पौनरुक्त्य। अर्थपौनरुक्त्य पुनरुक्तवदाभास का विषय है। शब्दपौनरुक्त्य में पहले के व्यंजनमात्र और स्वरव्यंजन समुदाय पौनरुक्त ये दो भेद हैं। पहले के दो भेद हैं छेक तथा वृत्ति अनुप्रास और दूसरे को यमक कहते हैं। दूसरे में ही यदि तात्पर्य-भेदवश पौनरुक्त्य हट जाता है तो लाट हो जाता है[2]। विद्यानाथ ने अनुप्रास के उक्त तीन स्वतंत्र रूपों के अस्तित्व की कल्पना रुय्यक के आधार पर की है।

छेकानुप्रास -

छेक का अर्थ है विदग्ध। विदग्धप्रयुक्त अनुप्रास छेकानुप्रास कहलाता है। छेकानुप्रास में दो व्यंजनों के युग्म की आवृत्ति पुनरुक्ति होती है। दो व्यंजनों की जोड़ी की पुनरुक्ति अव्यवहित होनी चाहिए[3]। छेकानुप्रास सर्वप्रथम

१- वर्णसाम्यमनुप्रासः। छेकवृत्तिगतो द्विधा।

- काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, पृ० ४०४

२- इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थ पौनरुक्त्यं - - - - - ।

- - - पुनरुक्तवदाभासस्य पूर्वं लक्षणार्थः। - - - शब्दपौनरुक्त्यं व्यंजनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं च ।। संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः ।। अन्यथा तु वृत्यानुप्रासः ।। स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् ।। तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः ।।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० २३-२४

३- अभेदव्यवधानेन द्वयोर्व्यंजनयुग्मयोः।

आवृत्तिर्यत्र स बुधैश्छेकानुप्रास इष्यते ।। यत्राव्यवहितयोर्व्यंजन-

युग्मयोर्द्वयोः पौनरुक्त्यं तत्र छेकानुप्रासः।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४०४

उद्भट के काव्यालंकार में उपलब्ध होता है । उद्भट ने इसे अनुप्रास के अन्तर्गत न रखकर स्वतंत्र चर्चा की है । उद्भट के अनुसार जहां दो-दो स्वर व्यंजन समष्टियों की सुसदृश उक्ति हो वहां यह अलंकार होता है[1]। उद्भट के अनन्तर मम्मट ने इसकी चर्चा की । मम्मट ने इसको स्पष्ट रूप से अनुप्रास के अन्तर्गत लिया[2]। रुय्यक ने उद्भट की भांति इसका अलग से लक्षण किया है । रुय्यक ने इसे संख्या-नियम कहा है । संख्या नियम का यही अर्थ है कि यदि दो ही व्यंजन समष्टियों में अनेकधा सादृश्य हों तो छेकानुप्रास होता है[3]। दो के स्थान पर तीन-तीन समुदायों में साम्य होने लगे तो वहां उक्त संख्या (दो) का नियम न होने से यह अलंकार नहीं हो पायेगा ।

वृत्यानुप्रास -

विद्यानाथ के अनुसार एक, दो या तीन अथवा वर्णों की अर्थात् व्यंजनों की आवृत्ति जहां हो वहां उस पुनरुक्ति को वृत्यानुप्रास कहते हैं[4]। विद्यानाथ की यह अवधारणा मम्मट और रुय्यक के ही समान है । आचार्य मम्मट के अनुसार, एक वर्ण अथवा अनेक वर्णों का अनेक बार आवृत्ति साम्य

१- छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः ससदृशोक्तिकृतौ ।

- का० सा० सं०, प्रथम वर्ग, पृ० २५४

२- वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा ।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः ।।

- काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, पृ० ४०४

३- संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः । द्वयोर्व्यञ्जन समुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्या नियमः ।

- अलं० सर्व०, पृ० २८

४- एकद्विप्रभृतीनां तु व्यंजनानां यथा भवेत् ।
पुनरुक्तिरसौ नाम वृत्यानुप्रास इष्यते ।।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४०५

होने पर वृत्यानुप्रास होता है[1]। उद्भट ने वृत्तियों में वर्ण के साम्य को वृत्यानुप्रास कहा है[2]। रुय्यक ने संख्या नियम न होने पर व्यंजनपौनरुक्त्य होने पर वृत्यानुप्रास कहा है। संख्या नियम का अर्थ रुय्यक के टीकाकार ने छेकानुप्रास के अन्तर्गत बताया था। संख्या नियम का अर्थ है दो ही व्यंजन समष्टियों का अनेकधा सादृश्य[3]।

यमक -

वृत्यानुप्रास के बाद विद्यानाथ ने यमक अलंकार का उल्लेख किया है। उनके अनुसार स्वरों एवं व्यंजनों की जोड़ी के पौनरुक्त्य में यमक होता है। छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास में स्वर पौनरुक्त्य बिल्कुल अपेक्षित नहीं है। आनुषंगिक पुनरुक्ति वहां हो सकती है, इसके लिए निषेध भी नहीं है किन्तु यमक में स्वर की आवृत्ति व्यंजन के साथ होनी आवश्यक है वह आवृत्ति कहीं आदि में होती है, कहीं पर मध्य में होती है, कहीं पर अन्त में होती है। अतः इस प्रकार से यमक के बहुत से भेद हो सकते हैं। किन्तु विद्यानाथ ने केवल दिशामात्र

१- एकस्याप्यसकृत्परः। एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यंजनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्यानुप्रासः।

- काव्यप्रकाश ९। ७९, पृ० ४०५

२- सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥

- का० सार सं० १। १२, पृ० २६०

३- अन्यथा तु वृत्यानुप्रासः। सूत्र ६
केवलव्यंजनमात्रसादृश्यमनेकधा समुदायसादृश्यं त्र्यादीनां च परस्परसादृश्यमन्यथाभावः।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० ३०

इंगित किया है[1]। आचार्य भरत ने यमक के लक्षण में केवल शब्दावृत्ति को स्वीकार किया था[2]। भामह ने उसमें भिन्नार्थकता की शर्त जोड़ दी उनके अनुसार सुनने में समान किन्तु अर्थों में परस्पर भिन्न वर्णों की जो आवृत्ति है उसे यमक कहते हैं[3]। भामह ने यमक के पांच प्रकार के भेद माने हैं[4]। दण्डी ने कहा कि शब्दों की पुन: श्रुति व्यवहित भी हो सकती है और अव्यवहित भी[5]। दण्डी ने यमक का जितना

१- यमकं पौनरुक्त्ये तु स्वरव्यंजनयुग्मयो: ।
छेकानुप्रासे वृत्त्यनुप्रासे च स्वरपौनरुक्त्यमानुषंगिकम् । यमके तु स्वरयो: व्यंजनयुग्मयो: आवृत्ति: । तस्या आदिमध्यान्तगतत्वेन बहवो भेदा: । अत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४०६

२- शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनञ्चास्य गदतो मे निबोधत ।।

- ना० शा०, १७।६२, पृ० २०८

३- तुल्य श्रुतीनां भिन्नानामभिधेयै: परस्परम् ।
वर्णानां य: पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।।

- काव्यालंकार २।१७, पृ० ३६

४- आदिमध्यान्तयमकं पदाभ्यासं तथावली ।
समस्तपादयमकमित्येतत्पञ्चधोच्यते ।।

- काव्यालंकार २।६, पृ० ३२

५- अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहते: ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ।।

- काव्यादर्श ३।१, पृ० २२३

विस्तार किया है उतना संस्कृत के किसी दूसरे आचार्य ने नहीं किया । काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद की ७७ कारिकाओं में यमक का निरूपण है । आचार्य रुय्यक के अनुसार स्वर और व्यंजन दोनों का पौनरुक्त्य यमक है । इसमें पुनरुक्त पदों के अर्थ कहीं भिन्न-भिन्न होते हैं, कहीं अभिन्न और कहीं एक अर्थरहित रहता है तथा दूसरा सार्थक, इस प्रकार संक्षेप में तीन भेद होते हैं[1]। विद्यानाथ ने रुय्यक का ही अनुसरण किया है ।

पुनरुक्तवदाभास -

जहां आरम्भ में अर्थ कुछ पुनरुक्त-सा मालूम पड़े वहां पुनरुक्तवदाभास अलंकार है । पुनरुक्तवदाभास में पहले अर्थ पुनरुक्त सा लगता है किन्तु अन्वय वेला में पुनरुक्त नहीं होता[2]। पुनरुक्तवदाभास अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने किया है । मम्मट के अनुसार विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली समानार्थता सी जो प्रतीत होती है वह पुनरुक्तवदाभास अलंकार है । भिन्न रूप से कहीं-कहीं दोनों सार्थक कहीं-कहीं दोनों या एक के अनर्थक शब्दों में आपाततः समानार्थकता प्रतीत होती है वहां पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है[3]।

१- स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् । सू० ७

अत्र क्वचिद्भिन्नार्थत्व क्वचिदभिन्नार्थत्वं क्वचिदेकस्यानर्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति संक्षेपतः प्रकार त्रयम् ।

- अलं० सर्व०, पृ० ३३

२- यत्रार्थः प्रमुखे किंचित् भासते पुनरुक्तवत् ।
पुनरुक्तवदाभासोऽलंकारः स सतां मतः ।।

- प्रताप०, पृ० ४०७

३- पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा । एकार्थतेव । भिन्नरूपसार्थकानर्थक-शब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः ।

- काव्यप्रकाश, ६। ८६, पृ० ४३८

रुय्यक के अनुसार केवल आरम्भ मात्र में भासित होने वाला अर्थ-पौनरुक्त्य पुनरुक्तवदाभास है[१]। इस अलंकार के विषय में मतभेद है। रुय्यक इसे अर्थालंकार मानते हैं[२]। मम्मट इसे शब्दालंकार मानते हैं। वैसे मम्मट ने इसका एक प्रकार वह भी माना है, जहां इसमें शब्दार्थोभयालङ्कारत्व पाया जाता है[३]। विद्यानाथ शब्द पुनरुक्ति के आश्रित होने से आश्रयाश्रयिभाव से इसे शब्दालंकार में परिगणित करते हैं[४]।

<u>लाटानुप्रास -</u>

तात्पर्य मात्र के भेद से युक्त जहां शब्द और अर्थ में पुनरुक्ति होती है उसको काव्य तात्पर्यवेत्ता लाटानुप्रास कहते हैं। अर्थात् जहां शब्द और अर्थ में तात्पर्य का केवल भेद है स्वरूप में कोई भेद नहीं है वहां लाटानुप्रास है[५]।

१- आमुखावभासनं पुनः पुनरुक्तवदाभासम्। सू० ३

- अलं० सर्व०, पृ० २५

२- अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम्।

- अलं० सर्व० पृ० २५

३- शब्दस्य - - -। तथाशब्दार्थयोरयम्॥

- काव्यप्रकाश ९।८६, पृ० ४३८-३९

४- अर्थालंकारत्वेऽप्यस्य शब्दपौनरुक्त्याश्रितत्वाच्छब्दालंकार प्रस्तावे लक्षणं कृतम्।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४०७

५- शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं यत्र तात्पर्यभेदवत्।
स काव्यतात्पर्यविदा लाटानुप्रास इष्यते॥
यत्र शब्दार्थयोस्तात्पर्यभेदमात्रं न स्वरूपभेदस्त लाटानुप्रासः।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४०८

भामह ने लाटानुप्रास का लक्षण तो नहीं दिया है । किन्तु उसका उल्लेख अवश्य किया है कि तात्पर्य भेद से शब्द और अर्थ की आवृत्ति लाटानुप्रास है[1] । उद्भट ने इसकी परिभाषा बताते हुए यह कहा है कि स्वरूपत: एवं अर्थत: अभिन्न शब्द या पद की पुनरुक्ति, जहां किसी अन्य प्रयोजन से की जाये वहां लाटानुप्रास होता है[2]। रुय्यक ने भी तात्पर्य के भेद से युक्त शब्दार्थ पौनरुक्त्य को लाटानुप्रास नामक अलंकार कहा । तात्पर्य का अर्थ है अन्वयपरता । यहां भेद केवल उसी में रहता है, शब्दार्थ स्वरूप में नहीं[3]।

चित्रालङ्कार -

जहां पद्मादि में प्रोक्त आदि पद से खड्गबन्ध आदि होता है[4] वहां चित्रालंकार होता है। ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में अलंकार की सत्ता रस पर आधारित है[5]। चित्र काव्य रसोपकारक तो नहीं ही होता प्रत्युत रस में व्याघात उत्पन्न करता है[6]।

१- लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा ।

- काव्यालंकार २।८, पृ० ३२

२- स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्ति: फलान्तरात् ।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ।

- का० सा० सं०, प्र० वर्ग, पृ० २६१

३- तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रास: । तात्पर्यमन्वयपरत्वम् । तदेव भिद्यते, न शब्दार्थ-स्वरूपम् ।

- अलं० सर्व०, सू० ८, शब्दा० प्र०, पृ० ३४

४- पद्माकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४०६

५- रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध: शक्य क्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य: सोऽलंकारो ध्वनौ मत: ।।

- ध्वन्यालोक, २।१६, पृ० २३१

६- रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो य: स चित्रविषयो मत: ।।

- ध्वन्यालोक, तृतीय उल्लास, पृ० ५२८

अतएव ध्वनिवादियों की दृष्टि में चित्रकाव्य मानना उचित नहीं है । यद्यपि ध्वनिकार ने काव्य का एक भेद चित्रकाव्य भी माना है किन्तु यह चित्रालंकार से पर्याप्त भिन्न है । चूंकि पहले भी आचार्यों ने चित्रालंकार का उल्लेख किया था अतः सम्भवतः ग्रन्थ की पूर्ति के लिए ही विद्यानाथ ने भी चित्रालंकार का उल्लेख मात्र किया है उसके अधिक भेद आदि नहीं दिखाये हैं । आचार्य मम्मट ने इसे कष्ट काव्य की संज्ञा दी है[१] ।

अर्थालंकार --

शब्दालंकार के विपरीत अर्थालंकार शब्द के अर्थ पर आश्रित रहता है । अतः एक शब्द की जगह उसी अर्थ के वाचक दूसरे शब्द को रख देने पर भी अलंकारत्व की हानि नहीं होती । कारण यह है कि शब्द के पर्याय परिवर्तन किये जाने पर भी अर्थ तो वही रह जाता है । विद्यानाथ ने अलंकारों का आश्रय-भेद के आधार पर तीन भी (शब्द, अर्थ, उभय) स्वीकार करने के बाद अर्थालंकार का द्विविध विभाजन किया है । प्रथम प्रमुख वर्गीकरण में यह बात मान्य की गयी है कि प्रत्येक अलंकार के मूल में व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ रहता ही है और वह चार प्रकार का हो सकता है -- वस्तुरूप, औपम्यरूप, स्फुटरूप तथा अस्फुट प्रतीयमान[२] । इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अलंकार के मूल में रहने वाला प्रतीयमान अर्थ दो प्रकार का होता है :- स्फुट और अस्फुट । स्फुट के तीन भेद हैं -- वस्तु औपम्य और रस भाव । विद्यानाथ के इस प्रथम विभाजन पर ध्वन्यालोककार का

१- कष्टं काव्यमेतदिति - - - - - - - - - - ।

- काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, पृ० ४३४

२- अर्थालंकाराणां चातुर्विध्यम् । केचित् प्रतीयमानवास्तवः । केचित् प्रतीयमानौपम्याः । केचित् प्रतीयमानरसभावादयः । केचिदस्फुट-प्रतीयमाना इति ।

- प्रताप०, शब्दालंकार प्रकरण, पृ० ३६६

प्रभाव उदित होता है। आनन्दवर्धन ने भी यह स्थापना दी है कि अलंकार मात्र के मूल में एक अर्थ प्रतीयमान रहता है[1]। ध्वन्यालोककार ने अतिशय को सर्वत्र व्यंग्य माना है। उसी प्रसंग में यह बताया है कि कहीं औपम्य प्रतीयमान रहता है, कहीं स्वतंत्र वस्तु प्रतीयमान रहती है। कहीं-कहीं नियमत: कोई अलंकार ही व्यंग्य रहता है, जैसे व्याजस्तुति में प्रेयोलंकार तथा उपमा एवं दीपक परस्पर एक दूसरे के गर्भ में रहते हैं[2]। इस प्रकार विद्यानाथ के प्रथम वर्गीकरण पर ध्वनिवाद का अधिक प्रभाव उदित होता है।

अर्थालंकार के मुख्य चार विभाग कर पुन: अलंकार कक्ष्या-विभाग में विद्यानाथ ने आचार्य रुय्यक के मत का अनुसरण किया है। अलंकारों के वर्गीकरण का कार्य सबसे पहले रुद्रट ने किया। रुद्रट ने अलंकारों को आश्रय के आधार पर शब्दालंकार और अर्थालंकार वर्गों में विभाजित किया पुन: अर्थालंकारों को मूल तत्वों के आधार पर वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष वर्गों में भी विभाजित किया

१- तदेवं व्यंग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलंकारा: सर्व एव गुणीभूतव्यंग्यस्य मार्ग:। गुणीभूत व्यंग्यत्वं च तेषां तथा जातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्तानां सामान्यम्। तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति।

- ध्वन्या० तृतीय उद्योत, पृ० ५०३-५

२- तेषां तु न सर्वविषयोऽतिशयोक्तिस्तु सर्वालंकारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेष:। - - - - केषाञ्चिदलंकार विशेषगर्भतायां नियम:। यथा व्याजस्तुते: प्रेयोऽलंकारगर्भत्वे। केषाञ्चिदलंकाराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति, यथा दीपकोपमयो:।

- ध्वन्या०, तृ० उ०, पृ० ५०२-३

है[१]। आचार्य रुय्यक ने सादृश्य, विरोध, शृङ्खला, न्याय (लोकन्याय तथा शास्त्रन्याय) और गूढार्थ प्रतीति के आधार पर अपने अलंकारों का वर्गीकरण किया है। सादृश्य के पुन: कुछ उपखण्ड किये हैं। विद्यानाथ ने अलंकारों के वर्गीकरण तथा लक्षण की कल्पना का आधार रुय्यक की अलंकार धारणा को बनाया है। उन्होंने रुय्यक के अनेक अलंकारों के लक्षण को ही किंचित् शब्द-भेद के साथ उद्धृत कर दिया है। विद्यानाथ के प्रमुख चार अर्थालंकार वर्ग इस प्रकार हैं --

१- प्रतीयमानवास्तव-वर्ग

रुद्रट के अनुसार जिन अलंकारों में सादृश्य अतिशय और श्लेष को छोड़कर केवल वस्तु के स्वरूप का स्पष्टरूप से कथन होता है वे वास्तव मूलक अलंकार हैं[२]। विद्यानाथ ने प्रतीयमान - वास्तव वर्ग में ऐसे अलंकारों को रखा है जिनमें अर्थ प्रतीयमान रहते हैं। विद्यानाथ ने समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय, अतिशयोक्ति, परिकर, अप्रस्तुत-प्रशंसा तथा विशेषोक्ति अलंकारों को इस वर्ग में रखा है[३]। समासोक्ति को

१- अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशय: श्लेष: ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति नि:शेषा: ।।

- काव्यालंकार ७।६, पृ० १६०

२- वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियतेवस्तुस्वरूपकथनं यत् ।

- काव्या० ७।१०, पृ० १६०

३- समासोक्तिपर्यायोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयातिशयोक्ति परिकराप्रस्तुतप्रशंसानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिषु प्रतीयमानं वस्तु काव्योपस्कारतामुपयाति ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ३६६

रुय्यक ने गम्यमानौपम्य वर्ग में रखा था तथा उपमेयोपमा को भेदाभेदतुल्यप्रधान सादृश्य-गर्भ अलंकार वर्ग में रखा है । रुद्रट द्वारा स्वीकृत २३ अलंकारों में से विद्यानाथ ने केवल परिकर अलंकार को इस वर्ग में स्वीकार किया है ।

२- प्रतीयमानौपम्य वर्ग-

रुद्रट ने, जिन अलंकारों में वस्तु-विशेष का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य से सम्यक् रूपेण तुलनात्मक प्रतिपादन किया जाता है, उन्हें औपम्य मूलक अलंकार कहा है[1]। विद्यानाथ ने प्रतीयमानौपम्य अलंकार वर्ग की कल्पना आचार्य रुय्यक के गम्यमानौपम्यसादृश्यवर्ग के आधार पर की है । इस वर्ग के अन्तर्गत रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, स्मरण, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, सहोक्ति, व्यतिरेक, निदर्शना और श्लेष अलंकार आते हैं[2]। रुय्यक के विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप को गम्यमानौपम्यवर्ग में रखने के मत को विद्यानाथ ने स्वीकार नहीं किया है । विद्यानाथ के रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान् आदि को रुय्यक ने इतर वर्गों में रखा है । विद्यानाथ ने श्लेष का शब्दालंकार तथा अर्थालंकार वर्गों में अलग-अलग उल्लेख करने की मम्मट की पद्धति की उपेक्षा कर रुय्यक की प्रणाली पर प्रतीयमानौपम्य वर्ग में उसकी गणना की और एकत्र ही उसका उल्लेख कर शब्दगत, अर्थगत तथा

१- सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ।।

- काव्यालंकार, ८।१, पृ० २४४

२- रूपकपरिणामसंदेहभ्रान्तिमदुल्लेखा - - - - पह्नवोत्प्रेक्षास्मरणतुल्ययोगितादीपकप्रतिवस्तूपमादृष्टान्तसहोक्तिव्यतिरेकनिदर्शनाश्लेषा औपम्यं गम्यते ।

- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ३६६

उभयगत भेद स्वीकार किये हैं। विद्यानाथ ने रुद्रट के इसी वर्ग में स्वीकृत २१ अलंकारों में केवल ६ अलंकारों को ही स्वीकार किया है[१]।

३- प्रतीयमानरसभावादिवर्ग -

प्रतीयमान रसभावादि वर्ग की कल्पना करके विद्यानाथ ने रसवदादि अलंकारों के वर्गीकरण की समस्या का समाधान कर दिया है। रुय्यक ने इस वर्ग के अलंकारों की समस्या बिना सुलझाये ही छोड़ दी थी। मम्मट ने भी रसवदादि अलंकारों का विवेचन अलंकार प्रकरण में न करके रस आदि के विवेचन प्रसंग में किया था। इस वर्ग में विद्यानाथ ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता आदि को रखा है[२]।

४- अस्फुटप्रतीयमानवर्ग -

इस वर्ग में निम्नलिखित अलंकार आते हैं --

उपमा, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध, विभावना, (गुणनिमित्त) विशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, व्याघात, मालादीपक, काव्यलिङ्ग, अनुमान, सार, यथासंख्य, अर्थापत्ति, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, विशेष,

---

१- उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ।।
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ।।

- काव्यालंकार ८।२-३, पृ० २४५

२- रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितभावोदयभावसंधिभावशबलतासु रसभावादि-व्यंज्यते ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ३६६

मीलित, सामान्य, असङ्गति, तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त[1]।

विद्यानाथ ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार नहीं माना है, वरन् अर्थालंकार में उसकी गणना की है। इस दृष्टि से उनकी मान्यता मम्मट से भिन्न है। उन्होंने रुय्यक की पद्धति का अनुगमन किया है।

विद्यानाथ ने उपर्युक्त अलंकार वर्गों के अतिरिक्त अलंकारों के अवान्तर विभाग भी किये हैं जो अधिकांशत: आचार्य रुय्यक के वर्गीकरण सिद्धान्त पर आधारित हैं[2]। वे अवान्तर विभाग विद्यानाथ के शब्दों में 'अलंकारवर्ग्या-विभाग' निम्नलिखित हैं --

१- साधर्म्यमूलक

(क) भेदप्रधान, (ख) अभेदप्रधान, (ग) भेदाभेदप्रधान

२- विरोधमूलक

३- न्यायमूलक

(क) वाक्यन्याय-मूलक, (ख) लोकव्यवहारमूलक, (ग) तर्कन्यायमूलक

४- शृंखलावैचित्र्यमूलक

५- अपह्नवमूलक

६- विशेषण वैचित्र्यमूलक

अलंकार के अवान्तर वर्गों में सादृश्य, विरोध, न्याय और शृंखलामूलक-वर्ग रुय्यक के वर्गों से अभिन्न हैं।

१- उपमाविनोक्त्यर्थान्तरन्यास - - - - - - स्फुटं प्रतीयमानं नास्ति।

- प्रताप०, शब्दा प्र०, पृ० ४००

२- अत्रेत्थमलंकारवर्ग्याविभाग:।

- प्रताप० शब्दा० प्र०, पृ० ४००

१- साधर्म्यमूलक -

इस वर्ग का मूल तत्व साधर्म्य है । रुय्यक के अनुसार साधर्म्य कहीं वाच्य होता है और कहीं प्रतीयमान । रुय्यक ने सादृश्यगर्भ अलंकार वर्गों के तीन भेद किये हैं[१]। उन्होंने अभेद प्रधान सादृश्य गर्भ अलंकारों के आरोपमूलक तथा अध्यवसायमूलक दो उपवर्ग किये हैं । विद्यानाथ के अनुसार साधर्म्य के तीन उपभेद हैं[२]।

(क) अभेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धन :

रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नव आदि अलंकार हैं[३]। इस वर्ग में उल्लिखित अलंकार रुय्यक के अभेदप्रधान-सादृश्यगर्भ के आरोप मूलक वर्ग में वर्गीकृत हैं ।

(ख) भेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धन :

इस वर्ग में दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप तथा व्यतिरेक अलंकार हैं[४]। रुय्यक ने इन अलंकारों को सादृश्य गर्भ अलंकार वर्ग के तीसरे भेद गम्यमानौपम्य वर्ग में रखा है । इन अलंकारों के अतिरिक्त विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत-प्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, आक्षेप आदि को भी इसी वर्ग

१- साधर्म्ये त्रय: प्रकारा: । भेदप्राधान्यं - - - - - - । अभेदप्राधान्यं - - -। द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् ।

- अलं० सर्व०, अर्थालंकार प्र०, पृ० ४०

२- साधर्म्यं त्रिविधम् - भेदप्रधानमभेदप्रधानं चेति ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४००

३- रूपकपरिणामसंदेह - - - - - अभेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धनत्वम् ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४००

४- दीपकतुल्ययोगितानिदर्शना- - - - भेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धना: ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४००

में रखा है । विद्यानाथ ने प्रतीप अलंकार को इस साधर्म्य प्रधान वर्ग के अन्तर्गत रखा है किन्तु रुय्यक ने प्रतीप को न्यायमूलक अलंकारों के लोकन्याय मूलक वर्ग में रखा है ।

(ग) भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यमूलक :

विद्यानाथ ने इस वर्ग में उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण अलंकारों को रखा है[1]। रुय्यक ने भी इन अलंकारों को भेदाभेदतुल्यप्रधान सादृश्य गर्भ अलंकार वर्ग में रखा था ।

अध्यवसाय मूलक -

इसके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार आते हैं[2]। रुय्यक ने भी अभेदप्रधानसादृश्यगर्भ अलंकार वर्ग के अध्यवसाय मूलक वर्ग में इन्हीं दोनों अलंकारों को रखा है ।

२- विरोधमूलक -

इस वर्ग में उन अलंकारों की गणना की गयी है जिनके मूल में विरोध की भावना निहित है । इसके अन्तर्गत विभावना, विशेषोक्ति, विषम, चित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतद्गुण, भाविक और विशेष अलंकारों को रखा है[3]। रुय्यक ने भी विरोध मूलक १२ अलंकार माने हैं । आचार्य रुद्रट ने अतिशय वर्ग के अलंकारों के अन्तर्गत उन अलंकारों को माना है जिनमें लोक-प्रसिद्ध के बाध के कारण, अर्थ-धर्म आदि के नियम का विपर्यय होता है और अतिलौकिक

१- उपमानन्वयोपमेयो - - - - - भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यमूलता ।

- प्रताप०, शब्द० प्र०, पृ० ४००

२- उत्प्रेक्षातिशयोक्ती अध्यवसायमूले ।

- प्रताप०, शब्द० प्र०, पृ० ४००

३- विभावनाविशेषोक्ति - - -- -- विरोधमूलता ।

- प्रताप०, शब्द० प्र०, पृ० ४००

वर्णन किया जाता है[1]। रुद्रट की अतिशय वर्ग की धारणा का मूल विरोधमूलक तत्त्व है। विद्यानाथ के विरोधमूलक वर्ग तथा रुद्रट के अतिशय वर्ग में कुछ अलंकार जैसे - विशेष, विभावना, विषम, असंगति और व्याघात सामान्य रूप से स्वीकृत हैं[2]।

३- न्यायमूलक -

विद्यानाथ ने लौकिक न्याय तथा शास्त्रीय न्याय से सम्बद्ध अलंकारों को तीन वर्गों में रखा है --

(क) वाक्यन्यायमूलक :

विद्यानाथ ने इस वर्ग में यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प एवं समुच्चय अलंकारों को रखा है[3]। आचार्य रुय्यक ने इसे वाक्य-न्याय अथवा काव्यन्याय वर्ग कहा है उन्होंने पर्याय, परिवृत्ति तथा समाधि को भी इस वर्ग में रखा है।

(ख) लोकव्यवहारमूलक :

विद्यानाथ ने इस वर्ग में परिवृत्ति, प्रत्यनीक, तद्गुण, समाधि, सम, स्वभावोक्ति, उदात्त, विनोक्ति अलंकारों को स्वीकार किया है[4]।

१- यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ।।
- काव्यालंकार ६। १, पृ० ३०३

२- पूर्व विशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्गुणाधिकविरोधाः ।
विषमसंगतिपिहितव्याघातहेतवो भेदाः ।।
- काव्यालंकार ६।२, पृ० ३०३

३- यथासंख्यपरिसंख्या - - - - - - वाक्यन्यायमूलता ।
- प्रताप०, शब्द० प्र०, पृ० ४००

४- परिवृत्तिप्रत्यनीक - - - - - - लोकव्यवहारमूला: ।
- प्रताप०, शब्द० प्र०, पृ० ४००

रुय्यक ने सम को विरोध गर्भ अलंकार वर्ग में कल्पित किया है । रुय्यक इसका औचित्य बतलाते हुए कहते हैं कि सम में विषम अलंकार का वैधर्म्य रहता है अत: इसे विरोध गर्भ अलंकार वर्ग में रखना चाहिये ।

(ग) तर्कन्यायमूलक :

इस वर्ग में काव्यलिंग, अनुमान और अर्थान्तरन्यास अलंकारों को रखा है[1]। रुय्यक ने इस वर्ग में काव्यलिंग और अनुमान दो अलंकारों को ही रखा है ।

४- श्रृंखलावैचित्र्यमूलक -

इस वर्ग के अलंकारों में पद या वाक्य अन्य पद या वाक्य के साथ श्रृंखला के रूप में सम्बद्ध रहते हैं । इस अलंकार वर्ग में विद्यानाथ ने रुय्यक के ही समान कारणमाला, एकावली, मालादीपक, तथा सार इन चार अलंकारों को रखा है[2]। इन अलंकारों में कारण, विशेषण आदि की श्रृंखलाबद्ध स्थिति रहती है ।

५- अपह्नवमूलक -

अपह्नवमूलक वर्ग विद्यानाथ की नूतन उद्भावना है । वस्तुत: अनेक अलंकारों के मूल में अपह्नव या गोपन का तत्व रहता है । उसके आधार पर एक अलंकार वर्ग की कल्पना उचित ही है । इसके अन्तर्गत व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और मीलन या मीलित अलंकारों को रखा है[3]। रुय्यक ने व्याजोक्ति और वक्रोक्ति

१- काव्यालिङ्गानुमान - - - - - - - - - तर्कन्यायमूलता ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र० पृ० ४००

२- कारणमालैकावली - - - - - - श्रृंखलावैचित्र्यमूला : ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४००

३- व्याजोक्तिवक्रोक्ति - - - - - - अपह्नवमूलानि ।

- प्रताप०, शब्दा० प्र०, पृ० ४००

को गूढार्थ प्रतीति मूलक अलंकार-वर्ग में रखा था । उनके अनुसार इस वर्ग के अलंकारों में गूढ अर्थ की प्रतीति होती है । मीलित को रुय्यक ने लोकन्याय मूलक अलंकार-वर्ग में रखा है ।

६- विशेषण-वैचित्र्य-मूलक --

विद्यानाथ ने विशेषण वैचित्र्य के आधार पर एक स्वतंत्र अलंकार-वर्ग की कल्पना की है । इसमें समासोक्ति और परिकर अलंकारों को रखा है[१]। प्रथम विभाजन में विद्यानाथ ने दोनों अलंकारों को प्रतीयमान-वास्तव वर्ग में रखा है । विशेषण-वैचित्र्य मूलक अलंकारों में विशेषण के वैचित्र्य के कारण प्रतीयमान अर्थ का (चाहे वह वस्तु रूप में हो या औपम्य रूप में) ही प्राधान्य रहता है ।

यद्यपि उपर्युक्त अलंकार वर्गीकरण रुय्यक की पद्धति पर आधारित है किन्तु फिर भी स्थान-स्थान पर विद्यानाथ के विचारों की स्वतंत्रता दिखायी पड़ती है । विद्यानाथ द्वारा प्रतिपादित कुछ मुख्य अर्थालंकारों का स्वरूप इस प्रकार है --

उपमा --

उपमा अलंकार का इतिहास सर्वाधिक प्राचीन है । विद्यानाथ ने अर्थालंकारप्रकरण में सर्वप्रथम उपमा का ही उल्लेख किया है । उपमा उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, स्मरण, रूपक आदि अनेक अलंकारों का मूल है । सम्भवत: इसीलिए विद्यानाथ ने सर्वप्रथम इसे ही रखा है । उन्होंने उपमा अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है -- जहां स्वत: सिद्ध, स्वयं से भिन्न, सम्मत (योग्य) अन्य (उपमान) के साथ किसी धर्म के कारण एक ही बार वाच्य रूप में साम्य का प्रतिपादन किया

१- समासोक्तिपरिकरौ विशेषणवैचित्र्यमूलौ ।

- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ४००

जाये वहां उपमा होती है[१]। विद्यानाथ के उपमा लक्षण की मुख्य बातें इस प्रकार हैं -- उपमान स्वत: सिद्ध हो। कविकल्पित या सम्भावित न हो। इसके द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार का निरास किया गया है। वह स्वयं (उपमेय) से भिन्न हो, क्योंकि भिन्न न होने पर उपमा न होकर अनन्वय हो जायेगा। वह संमत अर्थात् योग्य अर्थात् निर्दुष्ट हो। इससे तद्गत् उपमा दोषों की व्यावृत्ति की गयी है। उपमान और उपमेय का साम्य `धर्म` के आधार पर वर्णित किया जाये `शब्द` के आधार पर नहीं। इससे श्लेष अलंकार की व्यावृत्ति की गयी है क्योंकि वहां `शब्द` के आधार पर साम्य वर्णित होता है। अन्य अर्थात् उपमान द्वारा वर्ण्य (उपमेय) की समानता वर्णित की जाये। इससे प्रतीप अलंकार की व्यावृत्ति की गयी है। प्रतीप अलंकार में वर्ण्य उपमान हो जाता है, अवर्ण्य उपमेय। `वाच्य` विशेषण के द्वारा व्यंग्योपमा का निराकरण किया गया है। एकदा एक-वाक्यगत प्रयोग के द्वारा उपमेयोपमा का निराकरण किया गया है, जहां दो वाक्यों का प्रयोग पाया जाता है। अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमांसा में विद्यानाथ के उपमा लक्षण की कड़ी आलोचना की है और उसे दोषयुक्त कहा है। किन्तु विश्वेश्वरपंडित ने अलंकारकौस्तुभ में अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन कर विद्यानाथ के उपमा लक्षण को स्वीकार किया है[२]।

उपमा के भेद -

विद्यानाथ ने अलंकारों के प्रसंग में प्रधानत: रुय्यक का ही अनुसरण किया है। किन्तु कहीं-कहीं आचार्य मम्मट का भी आश्रय लिया है।

१- स्वत: सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मत:।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ।।

- प्रतापरु०, अर्थालंकार प्र०, पृ० ४१४

२- - - - इतिविद्यानाथीयोपमालक्षणमनूद्य - - - - - इतिचित्रमी-मांसोक्तदूषणमपास्तम्।

- अलंकारकौस्तुभ, पृ० १२

जैसे - उपमा के भेद के लिए वह मम्मट का आधार लेते हैं[१]। मम्मट के ही समान उन्होंने पहले उपमा के मुख्य दो भेद किये हैं -- पूर्णा और लुप्ता । जिसमें उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और सादृश्य प्रतिपादक इवादि इन चारों का प्रयोग होता है वह पूर्णा है । इन चारों में से किसी एक, दो अथवा तीन के लोप होने पर लुप्ता उपमा होती है । पूर्णोपमा श्रौती तथा आर्थी दो प्रकार की होती है । साक्षात् सादृश्य के प्रतिपादक यथा और इवादि का प्रयोग जहां होता है वह श्रौती है और धर्मों के व्यवधान से आर्थी है । ये दोनों उपमाएं भी वाक्य, समास और तद्धित में रहने के कारण तीन प्रकार की है । इस प्रकार विद्यानाथ पूर्णोपमा के पांच प्रकार मानते हैं । जबकि उनके वर्गीकरण के अनुसार यह ६ प्रकार की होनी चाहिये । लुप्तोपमा के १६ प्रकार बताये हैं और इस प्रकार विद्यानाथ ने मम्मट के ही आधार पर उपमा के २५ भेदों का निरूपण किया है[२]।

अनन्वय -

अनन्वय औपम्यमूलक अलंकार है । विद्यानाथ के अनुसार, एक वस्तु का ही उपमेय तथा उपमान होना अनन्वय है[३]। अनन्वय शब्द का अर्थ है कि इसका किसी दूसरे से अन्वय या सम्बन्ध सम्भव नहीं है । एक ही का उपमेय एवं उपमान, सिद्ध एवं साध्य होना, असंगत भी है । इस असंगति के कारण भी इस अलंकार को अनन्वय कहना उचित है । विद्यानाथ ने वामन के ही अनन्वय अलंकार के लक्षण को शब्दभेद से उद्धृत किया है[४]। आचार्य रुय्यक का भी यही मत है[५]।

१- काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ० ४४३-५६

२- साम्यं द्विधा - - - - त्वार्थ्येव । - प्रताप०, पृ० ४२०-२२

३- एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः ।
- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ४४०

४- एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः ।
- का० सू० वृ० ४।३।१४, पृ० २४६

५- एकस्य तु विरुद्ध धर्मसंसर्गः द्वितीय सब्रह्मचारिनिवृत्त्यर्थः ।
अत एवानन्वय इति योगोऽप्यत्र संभवति ।
- अलंकारसर्वस्व, पृ० ४४

उपमेयोपमा -

जहां पर्याय से दो वस्तुएं एक दूसरे के उपमानोपमेय बनें उसे उपमेयोपमा अलंकार कहते हैं[1]। यह प्राचीन अलंकार है। इसका निर्देश आचार्य भामह के ग्रन्थ में प्राप्त होता है[2]। भामह की परिभाषा का ही प्रभाव मम्मट, रुय्यक, विद्यानाथ आदि ने ग्रहण किया है। आचार्य उद्भट और रुद्रट की परिभाषाओं में तृतीयसदृशव्यवच्छेद के तत्व का भी समावेश है[3]। आचार्य दण्डी, रुद्रट आदि ने इसे उपमा के भेद के रूप में स्वीकार किया है।

स्मरण -

जहां सदृश पदार्थ के अनुभव से उसके सदृश अन्य वस्तु का परामर्श हो जाता है वहां स्मरण अलंकार होता है[4]। इस अलंकार का आरम्भ रुद्रट से

१- पर्यायेण द्वयोस्तस्मिन्नुपमेयोपमा मता।

- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ४४१

२- उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदितम्॥

- काव्यालंकार, ३।३७, पृ० ८०

३-(क) अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता।
उपमेयोपमामाहुस्तां पक्षान्तरहानिगाम॥

- का० सार सं०, पंचमवर्ग, पृ० ३६२

(ख) वस्त्वन्तरमस्त्यनयोर्न समिति परस्परस्य यत्रभवेत्।
उभयोरुपमानत्वं क्रममुभयोपमा सान्या॥

- काव्यालंकार, ८।६, २४६

४- सदृशानुभवादन्यस्मृतिः स्मरणमुच्यते। यत्र सदृशस्य पदार्थस्यानुभवेन सदृशवस्त्वन्तरपरामर्शो जायते तत्र स्मरणालंकारः।

- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ४४१-४२

होता है - जहां किसी विशेष वस्तु को देखकर बोद्धा उसके सदृश कालान्तर में अनुभूत किसी अन्य वस्तु का स्मरण करता है वहां स्मरण अलंकार है[१]। रुय्यक ने सदृशवस्तु के अनुभव से दूसरी सदृश वस्तु का स्मरण इस अलंकार का लक्षण किया है[२]। स्मरण के पूर्व मानसिक प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से गुजरती है- अतीत काल में किसी वस्तु का अनुभव, उस अनुभव द्वारा उत्पन्न संस्कार, सदृश वस्तु के अनुभव से पुन: उस संस्कार का उद्बोध। यही मानसिक प्रक्रिया स्मरण अलंकार के मूल में है। रुय्यक के अनुसार प्रस्तुत तथा स्मर्यमाण में उपमानोपमेय भाव या सादृश्य आवश्यक है। स्मरण अलंकार तक विद्यानाथ ने भेदाभेद साधारण साधर्म्य अलंकारों का वर्णन किया है।

रूपक -

रूपक अलंकार से विद्यानाथ का आरोप गर्भ अलंकार का प्रारम्भ होता है। आरोप गर्भ में अभेद प्रधान होता है। इन अलंकारों में सर्वप्रथम रूपक अलंकार का निरूपण किया है। उनके अनुसार- जहां आरोप्यमाण (विषयी) अतिरोहित रूप आरोप विषय (मुखादि) को अपने रंग में रंग दे, वहां रूपक अलंकार होता है[३]। इस लक्षण में मुख्य बातें इस प्रकार है -- विषयी आरोप विषय का

१- वस्तु विशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यद: स्मरणम् ॥

- काव्यालंकार ८। १०९, पृ० ३०१

२- सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृति: स्मरणम् ॥ सू० १४ ॥
वस्त्वन्तरं सदृशमेव। अविनाभावाभावान्नानुमानम्।

- अलं० सर्व०, पृ० ४७

३- आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिण:।
उपरञ्जकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम् ॥

- प्रताप०, पृ० ४४३

उपरंजक हो अर्थात् दोनों में अभेद स्थापना हो तथा विषय का उपादान किया जाये । इससे इस लक्षण में उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति की अतिव्याप्ति न हो सकेगी । क्योंकि उत्प्रेक्षा में विषय, आरोप क्रिया का विषय नहीं होता तथा अतिशयोक्ति में विषयी विषय का निगरण कर लेता है । अत: दोनों में आरोप नहीं होता । 'अतिरोहितरूपिणा:' पद के द्वारा सन्देह, भ्रान्तिमान् तथा अपह्नुति का वारण गया है, क्योंकि सन्देह, भ्रान्तिमान् अथवा अपह्नुति में क्रमश: विषय का सन्देह, अनाहार्य मिथ्याज्ञान अथवा निषेध पाया जाता है। अत: वहां विषय (मुखादि) का विषयत्व तिरोहित रहता है । 'उपरंजक पद के द्वारा समासोक्ति तथा परिणाम का व्यावर्तन किया गया है । समासोक्ति में विषयी विषय का उपरंजक नहीं होता, क्योंकि वहां रूपसमारोप नहीं पाया जाता । समासोक्ति में प्रस्तुत वृतान्त पर अप्रस्तुत वृतान्त का व्यवहार समारोप पाया जाता है । परिणाम में भी विषय का विषयी के रूप में उपरंजन नहीं पाया जाता, अपितु उल्टे विषयी स्वयं विषय के रूप में परिणत होकर प्रकृतोपयोगी बनता है । अत: सादृश्यमूलक सभी अलंकारों में रूपक विलक्षण है ।

उपमा की भांति रूपक भी प्राचीनतम अलंकार है । भरत ने चार अलंकारों में इसे गिनाया है । उनके अनुसार नाना द्रव्यों के अनुषंग आदि द्वारा जो गुणाश्रय औपम्य रूप की निर्वर्णना से युक्त होता है उसे रूपक कहते हैं[१]। भामह ने उपमान द्वारा उपमेय तत्व की गुणसाम्य के आधार पर रूपण की प्रक्रिया को रूपक बताया[२]। उद्भट ने रूपक के सम्बन्ध में बहुत महत्वपूर्ण बात

१- नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम् ।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ।।

- नाट्यशास्त्र, १७।५७, पृ० २०७

२- उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदु: ।।

- काव्यालंकार, २। २१, पृ० ३८

कही है वह यह है कि रूपक में एक पद का दूसरे पद के साथ योग होता है । यह योग शब्दत: तो दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं करता किन्तु अर्थत: दो पदों का योग होने पर एक पद प्रधान होता है और दूसरा गुणवृत्ति अर्थात् गुणभाव और प्रधानता में धर्मशील[1]। रुय्यक के अनुसार रूपक का मुख्य तत्व है अभेद की प्रतीति । इसका आधार है आरोप । अत: एक प्रकृत का दूसरे अप्रकृत के रूप में रूपित होना ही आरोप है[2]। कुछ प्राचीन आचार्यों के अनुसार रूपक या अभेद प्रक्रिया की प्रतीति की प्रक्रिया के मूल में सारोपा लक्षणा है ।

रूपक के भेद -

विद्यानाथ ने रुय्यक कृत रूपक भेदों का ही अनुसरण किया है । रुय्यक ने रूपक के आठ भेद माने हैं । उनके अनुसार पहले तीन भेद हैं -- सावयव, निरवयव, परम्परित । सावयव के दो भेद हैं -- समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति । निरवयव के भी दो प्रकार हैं -- केवल और माला । परम्परित के दो रूप इस प्रकार हैं -- श्लिष्टनिबन्धन तथा अश्लिष्टनिबन्धन । परम्परित के इन दोनों भेदों के भी माला और केवल । ये दो-दो भेद हैं । इस प्रकार रूपकालंकार के ८ भेद रुय्यक ने माने हैं और उन्हीं की भेद-व्यवस्था को विद्यानाथ ने भी मान लिया है[3]।

१- श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ।। -- का० सार०सं०१।११,पृ० २६८

२- अभेद प्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम् । सू० १५--अलं०सर्व०,पृ० ५०

३- (क) इदं तु निरवयवं, सावयवं,परम्परितं च त्रिविधम् । आद्यं केवलं मालारूपकं चेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विधैव । तृतीयं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनत्वेन द्विविधं सत्प्रत्येकं केवलमालारूपकत्वाच्चतुर्विधम् । तदेवमष्टौ रूपकभेदा: ।
- अलं० सर्व० पृ० ५२

(ख) तस्य प्रथमं त्रैविध्यम्-सावयवं निरवयवं परम्परितं चेति । सावयवं द्विविधम्-- समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति । निरवयवं द्विविधम् -- केवलं मालारूपं चेति । परम्परितस्यापि श्लिष्टनिबन्धनत्वेनाश्लिष्टनिबन्धनत्वेन च द्वैविध्यम् । तयोरपि प्रत्येकं केवल मालारूपतया चातुर्विध्यम् । एवमष्टविधो रूपकालंकार: ।
- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ४४४

परिणाम -

जहां प्रकृत के उपयोग के लिए आरोप्यमाण (उपमान) आरोप विषय के रूप में स्थित हो अर्थात् प्रकृत कार्य के उपयोग के लिए उपमान उपमेय बन जाता है वहां परिणाम अलंकार होता है[1]। विद्यानाथ के इस परिणाम लक्षण में आरोप्यमाण प्रकृत को उपयोगिता इस कथन से सब अलंकारों की व्यावृत्ति हो गयी है । एक शंका हो सकती है कि जैसे परिणाम में आरोप्यमाण प्रकृत का उपयोगी होता है उसी तरह समासोक्ति में भी वही उसका स्वभाव है तब इन दोनों का भेद कैसा ? इसके उत्तर में कहते हैं समासोक्ति में उपयोग गम्य है और इसमें वह वाच्य होता है अतः परिणाम में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता[2]। परिणाम अलंकार में कवि जिस आरोप्यमाण का प्रयोग करता है वह प्रकृतार्थ का उपरंजन तो करता ही है पर साथ ही उसकी प्रकृतार्थ में उपयोगिता भी होती है । अलंकार सर्वस्व में परिणाम अलंकार को दो प्रकार से प्रदर्शित किया गया है । एक से यह अर्थ निकलता है कि आरोप्यमाण प्रकृत रूप में परिणत होकर प्रकृतकार्योप-योगी होता है इसी के आगे 'प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन' से यह मालूम होता है कि प्रकृत अप्रकृत में परिणत होकर 'प्रकृतकार्योपयोगी' होता है[3]। विद्यानाथ ने रुय्यक

१- आरोप्यमाणयारोपविषयात्मतया स्थितम् ।
प्रकृतस्योपयोगित्वे परिणाम उदाहृतः ।।

- प्रताप०, अर्थां० प्र०, पृ० ४५२

२- समासोक्तावारोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वेऽप्यवाच्यत्वान्न परिणामेऽन्तर्भावः ।

- प्रताप०, अर्थां० प्र०, पृ० ४५४

३- आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।। सू० १६

परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोगः । - - - - -प्रकृतम-प्रकृतरूपतया परिणमति ।

- अलं० सर्व०,पृ० ६०

के मत का अनुसरण किया है । विद्यानाथ ने परिणाम अलंकार के समानाधिकरण्य और वैयाधिकरण से दो भेद किये हैं ।

संदेह -

जहां विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) कविसम्मत सादृश्य के कारण सन्देह के स्थल बन जाते हैं वह सन्देह अलंकार है[1]। भामह ने सर्वप्रथम ससंदेहालंकार के नाम से इसका निरूपण किया । दण्डी की संशयोपमा में इसका अन्तर्भाव विवक्षित है[2]। रुय्यक ने सन्देह में न केवल आरोप माना है अपितु अध्यवसाय भी उन्हें अभीष्ट है । अध्यवसाय में विषय का उपादान या तो सर्वथा नहीं होता जैसे कि अतिशयोक्ति में, और यदि होता भी है तो विषयी द्वारा उसके निगरण की प्रक्रिया अवश्य रहती है । साध्यवसाय सन्देह में भी हो सकता है । रुय्यक ने सन्देह के तीन भेद किये हैं[3]। विद्यानाथ ने भी सन्देह के तीन भेद माने हैं -- शुद्धा, निश्चयगर्भा और निश्चयान्ता[4]। शुद्धा में संशय में ही पर्यवसान होता है । निश्चयगर्भा में संशय से प्रारम्भ होकर मध्य में निश्चय होता है और अन्त में संशय होता है । निश्चयान्ता में संशय से उपक्रम और निश्चय में पर्यवसान होता है ।

१- विषयो विषयी यत्र सादृश्यात् कविसंमतात् ।
संदेहगोचरौ स्यातां संदेहालंकृतिश्च सा ॥

- प्रताप०, पृ० ४५४

२- किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि - - - - - चित्तमितीयं संशयोपमा ॥

- काव्यादर्श, २।२६, पृ० ८५

३- विषयस्य संदिह्यमानत्वे संदेहः ॥ सू० १७

- - - स च त्रिविधः । शुद्धो, निश्चयगर्भो, निश्चयान्तश्च ।

- अलं० सर्व०, पृ० ४५

४- सा त्रिविधा । शुद्धा निश्चयगर्भा निश्चयान्ता चेति ।

- प्रताप०, पृ० ४५४

भ्रान्तिमान् -

जहां कवि प्रतिभा से कल्पित उस विषय पर, जिसका विषयत्व (मुखत्वादि) छिपा दिया जाये, अनुभविता को आरोप्यमाण (विषयी) का अनुभव हो वहां भ्रान्तिमान् अलंकार होता है[1]। इस लक्षण में प्रयुक्त 'पिहितात्मनि' पद के द्वारा इस बात की ओर संकेत किया गया है कि विषय में विषयी का अनुभव स्वारसिक एवं कविप्रतिभा के द्वारा कल्पित होता है, रूपक की भांति आहार्य नहीं होता । इसलिए इस लक्षण की व्याप्ति रूपक आदि अन्य अलंकारों में न हो सकेगी । रुय्यक ने भ्रान्तिमान् शब्द का निर्वचन देते हुए कहा है कि भ्रान्ति रूप चित्त धर्म इस अलंकार में रहता है । अत: भ्रान्तिमान् कहना उचित होगा[2]। यह भ्रान्ति प्रकृत और अप्रकृत वस्तुओं में सादृश्य को देखकर होनी चाहिए । अलंकार सर्वस्व में भ्रान्तिमान् का लक्षण इस प्रकार से दिया है कि सादृश्य से दूसरी वस्तु की प्रतीति भ्रान्तिमान् है[3]। इस प्रकार भ्रान्तिमान् के लिए आवश्यक है कि विषय की विषयी के रूप में भ्रान्ति हो । भ्रान्ति में विषय का तिरोधान और विषयी की संवित्ति मानना आवश्यक है । रुय्यक के लक्षण में 'वस्त्वन्तरप्रतीति' शब्द इसी ओर संकेत करता है । संदेह में तो विषय और विषयी दोनों का ही समान रूप से आभास रहता है । अत: इसमें आरोप ही मानना पड़ेगा किन्तु भ्रान्तिमान् को अध्यवसाय मूलक मानना आवश्यक है । सादृश्य से वस्तु की भिन्न रूप में प्रतीति संदेह, भ्रान्ति एवं अपह्नुति में बराबर है ।

१- कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मत: ।।
- प्रताप०, पृ० ४५६

२- भ्रान्तिश्चित्तधर्मो विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान् ।
- अलंकारसर्वस्व, पृ० ६८

३- सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान् ।
- अलंकारसर्वस्व, पृ० ६८

अपह्नुति -

जहाँ विषय का निषेध कर अन्य का आरोप होता है वहाँ अपह्नुति अलंकार है[1]। भामह ने इस अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन किया है । उनके अनुसार अपह्नुति में उपमा किंचित् अन्तर्गत होती है[2]। उद्भट, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक आदि ने इस अलंकार का आधार सादृश्य माना है । दण्डी अपह्नुति को आवश्यक रूप से सादृश्य पर आधारित नहीं मानते हैं[3]। किन्तु अपह्नुति का सादृश्येतर आधार पर विस्तार मानने वाले दण्डी अपह्नुति को उपमा का भेद मानकर उपमापह्नुति कहते हैं[4]। रुय्यक का अपह्नुति लक्षण इस प्रकार है - विषय का अपह्नव (निषेध कर) वस्त्वन्तर (विषयी या अप्रकृत) की प्रतीति या विधान[5]। मम्मट का लक्षण रुय्यक के लक्षण से सर्वथा मिलता है[6]। रुय्यक और मम्मट के ही लक्षण को

१- निषिध्य विषयं साम्यादन्यारोपे ह्यपह्नुतिः ।

- प्रतापरुद्रीय, पृ० ४५७

२- अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा ।।

- काव्यालंकार ३।२१, पृ० ७५

३- अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति ।।

- काव्यादर्श २।३०४, पृ० १९३

४- उपमापह्नुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता ।
इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः ।।

- काव्यादर्श २। ३०९, पृ० १९५

५- विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः । सू० २०
वस्त्वन्तर प्रतीतिरित्येव । - अलं० सर्व०, पृ० ७९

६- प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सात्वपह्नुतिः ।

- काव्यप्रकाश १०। सू० १४५, पृ० ४७०

परवर्ती आलंकारिकों ने अपनाया । विद्यानाथ ने रुय्यक के लक्षण को आधार बनाया है । अपह्नुति में वस्त्वन्तर-प्रतीति होना एक आवश्यक तत्व है । विषय का निषेध भी इसमें होता है पर प्रतीति विषय की न होकर विषयी की होती है अतः इसमें आरोप स्पष्ट न होकर अध्यवसाय माना जा सकता है । किन्तु, अपह्नुति में न केवल प्रकृत का उपादान होता है अपितु उसका निषेध भी अप्रकृत का आरोप करने के लिये होता है । आरोप या अध्यवसाय दो वस्तुओं में कवि को दिखाई पड़ने वाले अतिसाम्य को लेकर होता है । इसलिए साधर्म्य या सादृश्य पर आधारित अपह्नुति को ही इस अलंकार का बीज मानना चाहिये ।

अपह्नुति के भेद -

विद्यानाथ ने अपह्नुति के तीन भेद माने हैं -- १- निषेध करके आरोप करना, २- आरोप करके निषेध करना तथा ३- छलादि शब्द के द्वारा उसे असत्य करना[१]। रुय्यक ने जहां छलादि शब्दों का प्रयोग होता है वहां अपह्नव और आरोप के क्रम बदलने से दो भेद किये हैं -- पहले में निषेध पहिले और आरोप बाद में तथा दूसरे में आरोप पहले और निषेध बाद में[२]। विद्यानाथ ने रुय्यक के आधार पर तीन भेद माने हैं[३]।

१- तस्यास्त्रैविध्यम् — अपह्नुत्यारोपः आरोप्यापह्नवः छलादिशब्दैरसत्यत्व-प्रतिपादनं च - - - - -- - ।

- प्रताप०, पृ० ४५७

२- एतस्मिन्नपि भेदेऽपह्नवारोपयोः पौर्वापर्यविपर्यये भेदद्वयं सदपि न पूर्ववच्चित्रतावहमिति न भेदत्वेन गणितम् ।

- अलं० सर्व०, पृ० ८०

३- तस्य च त्रयी बन्धच्छाया- अपह्नवपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वकोऽपह्नवः छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देशः ।

- अलं० सर्व० पृ० ७९

उल्लेख -

जहां एक ही वस्तु का निमित्तभेद के कारण अनेक के द्वारा अनेक प्रकार से उल्लेख हो वहां उल्लेख अलंकार होता है । अर्थात् उल्लेख अलंकार में विभिन्न गृहीताओं के द्वारा एक ही वस्तु का अर्थयोग, रुचि अथवा श्लेष के द्वारा अनेक प्रकार से उल्लेख होता है[१]। इस अलंकार में एक ही वस्तु का अनेक व्यक्ति निमित्त भेद से अनेकधा अनुभव करते हैं । प्राचीन आलंकारिकों में मम्मट तक इसका उल्लेख नहीं मिलता है । रुय्यक ने इस अलंकार का विशद् विवेचन किया है । परवर्ती सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है और प्राय: रुय्यक का ही अनुगमन किया है । रुय्यक के ही लक्षण की प्रतिध्वनि प्राय: सभी आचार्यों के उल्लेख अलंकार के लक्षण में देखी जा सकती है[२]। रुय्यक के अनुसार जहां एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण होता है, रूपों की बहुलता का उल्लेख न होने के कारण, वहां उल्लेख अलंकार होता है ।

उत्प्रेक्षा -

उल्लेख अलंकार तक विद्यानाथ ने आरोपमूलक अलंकार का वर्णन किया है । इसके बाद अध्यवसाय मूलक अलंकारों का उल्लेख किया है । अध्यवसाय के मूल में अभेद की प्रतीति रहती है । यद्यपि अभेद की प्रतीति आरोप में भी रहती है किन्तु अध्यवसाय में कुछ उत्कृष्ट रहती है । विद्यानाथ ने रुय्यक सम्मत उत्प्रेक्षा के आधार पर ही उत्प्रेक्षा का लक्षण किया है । रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का लक्षण देते हुए विषय की निगीर्यमाणता को साध्य अध्यवसाय या अध्यवसाय

१- अर्थयोगरुचिश्लेषै रुल्लेखनमनेकधा ।
गृहीतृभेदाभेकस्य स उल्लेख: सतां मत: ।।
- प्रताप०, पृ० ४५६

२- एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेख: । - - - - यत्रैकं वस्त्वनेकधा गृह्यते स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेख: ।
- अलं० सर्व०, पृ० ७०

में व्यापार की प्रधानता कहा है । अध्यवसाय का अर्थ है विषय का निगरण, इसी के द्वारा सहृदय को दो वस्तुओं में अभेद प्रतीति होती है[1]। जब विषय का निगरण सर्वथा नहीं होता वह निगरण की प्रक्रिया या निगीर्यमाणता में रहता है तो उसे साध्य अध्यवसाय कहते हैं और जब निगरण सर्वथा पूर्ण हो जाता है तो उसे सिद्ध अध्यवसाय कहते हैं । पहले को उत्प्रेक्षा और दूसरे को अतिशयोक्ति कहते हैं । विद्यानाथ ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार से दिया है - जहां अप्रकृत पदार्थ के धर्म सम्बन्ध के कारण प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना की जाये उसे विद्वान लोग उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं[2]। उक्त लक्षण में उपतर्कितम् पद से लक्षण कर्ता का तात्पर्य संभावना है । निश्चय नहीं । यही कारण है कि जिस धर्म सम्बन्ध के कारण उत्प्रेक्षा घटित होती है, वह केवल तादात्म्य संभावना का हेतु है उसे हम 'पर्वतोऽयं वह्निमान धूमात्' में पाये जाने वाले धूम की तरह निश्चयात्मक हेतु नहीं कह सकते । इस सम्बन्ध में चित्रमीमांसा में अप्पयदीक्षित ने कहा कि कई स्थानों पर इव शब्द के द्वारा भी संभावना की जाती है ऐसे स्थानों पर इव सादृश्यवाचक शब्द नहीं है, अत: यहां उपमा नहीं मानी जा सकती । उन्होंने दण्डी का प्रमाण देकर इस बात की पुष्टि की है कि उन्होंने उत्प्रेक्षावाचक शब्दों में इव का समावेश किया है, तथा विद्या-चक्रवर्ती के मत का संकेत किया है कि जब उपमान लोकसिद्ध हो तो इव उपमा वाचक होता है और जब वह लोकसिद्ध न होकर कल्पित होता है तो इव उत्प्रेक्षा-

---

१- अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा । सू० २१

विषयनिगरणेनाभेद प्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसाय: ।

- अलं० सर्व०, पृ० ८२

२- यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम् ।

प्रकृतं हि भवेत् प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ।।

- प्रताप०, अर्था० प्र०, पृ० ४६१

वाचक 'संभावना 'परक होता है । उत्प्रेक्षा के लक्षण में अन्यधर्मसम्बन्धात् पद इस बात का संकेत करता है कि जहां किसी धर्म को निमित्त बनाकर प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना की जायेगी वहां उत्प्रेक्षा होगी । साथ ही यह कल्पना सदा अप्रकृत के रूप में की गयी हो इस बात का संकेत करने के लिए अन्यत्वेनोपतर्कितम् कहा गया है । यदि प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना न होकर केवल संभावना मात्र पाई जायेगी तो वहां उत्प्रेक्षा अलंकार न हो सकेगा । उपतर्कितम् पद का प्रयोग अनुमान अलंकार का वारण करता है, क्योंकि अनुमान में लिंग द्वारा लिंगी का अवधारण या निश्चय हो जाता है, वहां तर्क या कल्पना नहीं होती । साथ ही यह भी आवश्यक है कि यह कल्पना प्रकृत से ही सम्बद्ध हो इसलिये प्रकृत पद का प्रयोग किया गया है । वस्तुत: प्रकृत शब्द से तात्पर्य केवल उपमेय (मुखादि) से ही न होकर विषयत्व मात्र से है । ऐसी स्थिति में उपमान (चन्द्रादि) भी प्रकृत हो सकते हैं । अन्यत्वेनोपतर्कितम् में अन्यत्वेन का अर्थ अन्य प्रकार से है, इस अर्थ के लेने पर हम देखते हैं कि जैसे एक धर्मी में अन्य धर्मी की तादात्म्य सम्भावना की जाती है, वहां अन्य धर्मी अन्य प्रकार है ही, ठीक उसी प्रकार जहां कोई एक धर्म हेतु रूप में, फलरूप में या स्वरूपत: संभावित किया जाता है, वहां भी वह धर्म अन्य प्रकार का ही होता है । इस प्रकार उक्त लक्षण हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा में भी घटित हो जाता है ।

उत्प्रेक्षा के भेद -

विद्यानाथ का उत्प्रेक्षा विभाग विशेष विस्तृत है उन्होंने उत्प्रेक्षा के १०४ भेद किये हैं[१]। उत्प्रेक्षा के भेदों में भी वह रुय्यक का ही अनुसरण करते हैं । रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के ९६ भेद किये हैं । रुय्यक ने निम्नलिखित आधार पर भेदोपभेद किये हैं -- उत्प्रेक्षा वाचक शब्द का प्रयोग अथवा अप्रयोग, उत्प्रेक्षा वस्तु के जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य रूप चार भेद, उसका भावरूप अथवा अभावरूप होना, उत्प्रेक्षा निमित्त का गुण अथवा क्रिया रूप में होना, उसकी उक्ति अथवा

१- प्रतापरुद्रीय, अर्थालंकार प्रकरण, पृ० ४६१-७७

अनुक्ति, उत्प्रेक्ष्य वस्तु का स्वरूप, हेतु, फल में से किसी एक रूप होना तथा प्रस्तुत की उक्ति अथवा अनुक्ति । वाच्योत्प्रेक्षा तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में से प्रत्येक के इन आधारों पर ९६ भेद होते हैं[१]। साथ ही रुय्यक ने अनेक सम्भव भेदोपभेदों के सम्बन्ध में अपनी अभिमति भी व्यक्त की है । रुय्यक ने स्वयं इसे स्वीकार किया है कि इन सभी भेदोपभेदों का कभी किसी अलंकार ग्रन्थ में प्रदर्शन सम्भव नहीं हो सकता[२]।

अतिशयोक्ति --

उत्प्रेक्षा अलंकार तक विद्यानाथ ने औपम्य-गर्भ अलंकारों का विवेचन किया है । उत्प्रेक्षा साध्य अध्यवसाय मूला है उसका निरूपण करने के बाद सिद्ध अध्यवसाय मूल अतिशयोक्ति का निरूपण किया है । रुय्यक के अनुसार - अध्यवसाय का अर्थ है विषय का निगरण, इसी के द्वारा सहृदय को दो वस्तुओं में अभेद प्रतीति होती है[३]। उत्प्रेक्षा में यदि अध्यवसाय प्रधान रहता है तो अतिशयोक्ति में अध्यवसित (विषयी) की प्रधानता रहती है[४]। इसी विवेचन के आधार पर रुय्यक की अतिशयोक्ति की परिभाषा है जिसे मावत: प्रतापरुद्रीयकार ने अपनाया है -- जहां विषय (उपमेय) का निगरण करते हुए केवल विषयी (उपमान) का ही उपनिबन्धन होता है वहां अतिशयोक्ति होती है जो कि कवि

१- अलंकारसर्वस्व, पृ० ८२-१०१

२- तदसावुत्प्रेक्षाया बहुप्रकारा: प्रचुरतया स्थितोऽपि लक्ष्ये दुःसाधत्वादिह न प्रपञ्चित: ।

- अलं० सर्व०, पृ० १०१

३- विषय निगरणेनाभेद प्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसाय: ।

- अलं० सर्व०, पृ० ८२

४- अध्यवसित प्राधान्ये त्वतिशयोक्ति: ।

- अलं० सर्व०, पृ० १०२

प्रौढोक्ति की आत्मा है[१]। विद्यानाथ ने अतिशयोक्ति को कविप्रौढोक्तिजीविता ध्वन्यालोककार के आधार पर कहा। आनन्दवर्धन ने सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति गर्भ माना है। उनका कहना है कि महाकवियों के द्वारा अतिशयोक्ति का प्रयोग अपूर्व काव्य सौन्दर्य का पोषण करता है। अतिशय का योग यदि विषय के औचित्य को दृष्टि में रखकर किया जाता है तो वह काव्य में उत्कर्ष का आधान करता है। सभी अलंकारों के स्वरूप में समाविष्ट हो सकने के कारण अतिशयोक्ति को अभेदोपचार में सर्वालंकार रूप कहा जाता है[२]। विद्यानाथ ने रुय्यक के ही आधार पर अतिशयोक्ति के भेद किये हैं[३]। अतिशयोक्ति के चार भेद हैं -- भेद में अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध में असम्बन्ध एवं असम्बन्ध में सम्बन्ध। इसके अतिरिक्त `कार्यकारणपौर्वापर्य` पांचवा भेद किया है[४]।

१- विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिजीविता ॥

- प्रताप०, पृ० ४७७

२- प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्य क्रिया - - - - - -
सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।

- ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० ४६८-५००

३- अस्याश्च पञ्च प्रकाराः। भेदेऽभेदः। अभेदे भेदः। सम्बन्धेऽसंबन्धः।
असम्बन्धे सम्बन्धः। कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च।

- अलंकार सर्वस्व, पृ० १०३

४- तस्याश्चातुर्विध्यम् -- भेदेऽभेदः, अभेदे भेदः, सम्बन्धेऽसंबन्धः,
सम्बन्धश्चेति। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपा- - - ।

- प्रताप०, पृ० ४७८

सहोक्ति -

विद्यानाथ के अनुसार जहां अतिशयोक्ति के कारण सहार्थ का अन्वय होता है तथा पर्यन्त में कल्पित औपम्य हो वहां सहोक्ति अलंकार होता है[१]। रुय्यक के अनुसार - उपमान और उपमेय में एक का प्रधान रूप में निर्देश और दूसरे का सहार्थ से सम्बन्ध सहोक्ति अलंकार कहलाता है। रुय्यक का सहोक्ति विवेचन व्याकरण से प्रभावित है। इनके अनुसार जिस अर्थ का निर्देश तृतीया विभक्ति में होता है वह प्रधान होता है। व्याकरण के अनुसार क्रिया प्रधान होती है और उसके साथ कर्ता का ही सीधा सम्बन्ध होता है। तृतीया विभक्ति में आई वस्तु का सम्बन्ध प्रथमा के माध्यम से ही होगा। सहोक्ति औपम्यमूलक अलंकार है। उसमें एक वस्तु उपमेय स्थानीय और दूसरी उपमान स्थानीय होती है पर यह उपमानोपमेयभाव नियत या वास्तविक न होकर कवि और सहृदय की विवक्षा के अधीन होता है। चूंकि सह शब्द के प्रयोग से एक वस्तु गौण बन जाती है अत: उसी के सहारे दूसरी वस्तु को प्रधान मान लिया जाता है। अत: सहोक्ति का गुण प्रधान भाव सह शब्द के प्रयोग पर अवलम्बित होने के कारण शब्द है आर्थ नहीं। कभी कहीं प्रधान विभक्ति से निर्दिष्ट की अप्रधानता और गुण विभक्ति से निर्दिष्ट की प्रधानता भी हो सकती है ऐसी स्थिति में सहोक्ति के मूल में अतिशयोक्ति-कार्यकारण-पौर्वापर्यविपर्यय रूप तथा अभेदाध्यवसाय रूप अनिवार्यत: रहती है। रुय्यक द्वारा सहोक्ति के स्वरूप, उसकी अतिशयोक्ति

१- सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तित:।
कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरितीष्यते ।।

- प्रतापरुद्रीय, पृ० ४८२

२- उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशे परस्य सहार्थ सम्बन्धे सहोक्ति: ।

- अलंकार सर्वस्व, पृ० १३१

मूलकता उसके भेदादि का विवेचन अत्यन्त मौलिक है[१]। उनके इसी विवेचन का अनुसरण विद्यानाथ ने किया है। विद्यानाथ के अनुसार - जहां भेद में अभेदरूपा अथवा कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा अतिशयोक्ति कारण एक का प्राधान्य से और दूसरे का सहार्थ के साथ सम्बन्ध होने से उपमानोपमेयभाव की कल्पना की जाती है वहां सहोक्ति है। जब दो पदार्थों में उपमानोपमेयभाव होता है तब उनमें एक उपमेय प्राकरणिक होता है और दूसरा उपमान अप्राकरणिक होता है। किन्तु जहां सहार्थ के साथ सम्बन्ध होने से दोनों प्रकृत होते हैं वहां अप्रकृतभाव नहीं होता है।

विनोक्ति -

विनोक्ति अलंकार सहोक्ति के प्रतिपक्षरूप वाला है। इसका लक्षण इस प्रकार है - एक की सम्बन्धि जिस किसी वस्तु के विना अन्य की अरम्यता अथवा रम्यता पराभूत हो जाये वहां विनोक्ति अलंकार है[२]। अर्थात् जहां किसी के सन्निधान विना अन्य की वस्तु रम्य अथवा अरम्य हो जाती है वह विनोक्ति है। वह दो प्रकार की है - रम्या और अरम्या। आचार्य रुय्यक और आचार्य मम्मट के विनोक्ति लक्षण का भाव भी यही है[३]।

१- अलंकारसर्वस्व, पृ० १३१-३४

२- विनासम्बन्धि यत्किंचिद्यत्रान्यस्य पराभवेत् ।
अरम्यता रम्यता वा सा विनोक्तिरिति स्मृता ।।

- प्रताप०, पृ० ४८४

३-(क) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

- काव्यप्रकाश १० । सू० १७०, पृ० ५०७

(ख) विनाकिञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ।। सू० ३०

- अलंकारसर्वस्व, पृ० १३६

समासोक्ति -

विद्यानाथ ने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार से किया है - जहां प्रस्तुतवर्ती विशेषणों के तोलन से बराबर करने से अप्रस्तुत गम्य हो उसे समासोक्ति कहते हैं[1]। अर्थात् जहां प्रस्तुत के विशेषणों से अप्रस्तुत व्यंग्य होता है वह समासोक्ति है। यहां साम्य तीन प्रकार का है - श्लिष्ट विशेषण से, साधारण विशेषण से एवं औपम्यगर्भ विशेषण से। विद्यानाथ ने रुय्यक के ही समासोक्ति अलंकार का भावत: अनुसरण किया है। रुय्यक के अनुसार विशेषणों के साम्य से जहां अप्रस्तुत गम्य होता है वहां समासोक्ति अलंकार होता है[2]। समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रकृत विषयक होता है और व्यंग्यार्थ अप्रकृत विषयक। इस अलंकार में दो अर्थों की प्रतीति होती है। एक वाच्यार्थ रहता है, दूसरा व्यंग्यार्थ। श्लेष में दो अर्थों की प्रतीति होती है [illegible] पर दोनों ही वाच्य रहते हैं। समासोक्ति में विशेषण में श्लेष भले ही हो पर विशेष्य में कभी श्लेष नहीं होता। रुय्यक ने समासोक्ति के तीन भेद किये हैं - समासोक्ति में विशेष्य तो कभी श्लिष्ट रहता ही नहीं, विशेषण भी सदा श्लिष्ट नहीं रहता। उसमें दो अर्थों का ज्ञान अवश्य होता है। समासोक्ति के विशेषण को अर्थद्वय प्रतिपादक होना चाहिये, चाहे वह श्लेष से हो या साधारण शब्द से या उपमागर्भ समास से[3]। इसी का अनुसरण

१- विशेषणानां तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्तिनाम्।
अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरितीष्यते।।

- प्रताप०, पृ० ४८६

२- विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति:।। सू० ३१

- अलंकारसर्वस्व, पृ० १४०

३- तच्च विशेषणसाम्यं श्लिष्टतया, साधारण्येनौपम्यगर्भत्वेन च भावात्त्रिधा भवति।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० १४२

करते हुए विद्यानाथ ने समासोक्ति में तीन प्रकार के साम्य का उल्लेख किया है[१]। प्रथम वह जहां श्लिष्ट विशेषणों द्वारा साम्य होता है, द्वितीय साधारण शब्द के द्वारा विशेषण साम्य होता है। इसमें प्रथम भेद की अपेक्षा समासोक्ति अस्फुट रहती है[२]। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थलों पर भी समासोक्ति मानी है जहां उपमागर्भ समास के द्वारा विशेषण साम्य होता है, तृतीय प्रकार औपम्यगर्भ वाले भेद में सर्वत्र व्यवहार का समारोप अपेक्षित है। अत: ४ भेद किये हैं -- लौकिक वस्तु में लौकिक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार का समारोप तथा शास्त्रीय वस्तु में शास्त्रीय व्यवहार और लौकिक व्यवहार का समारोप।

वक्रोक्ति -

वक्रोक्ति का सामान्य अर्थ है काव्योक्ति। भामह और दण्डी के ग्रन्थों में वक्रोक्ति नामक विशेष अलंकार नहीं मिलता। भामह ने वाणी की सुन्दरता के लिये वक्रोक्ति को आवश्यक बताया है[३]। चमत्कारहीन उक्ति अर्थात् जिसमें वक्रोक्ति नहीं है वह वार्ता है[४]। सर्वप्रथम रुद्रट ने वक्रोक्ति का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया। उन्होंने वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार का उल्लेख किया है

१- तत्र साम्यं त्रिविधम् - श्लिष्टविशेषणं साधारणमौपम्यगर्भं चेति।

- प्रताप०, पृ० ४८६

२- इयं च समासोक्ति: पूर्वापेक्षयाऽस्पष्टा।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० १४४

३- वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।

- काव्यालंकार, ५। ६६, पृ० १४१

४- गतो स्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण:।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

- काव्यालंकार, २।८७, पृ० ६३

जिसमें सुर या ध्वनि के परिवर्तन के सहारे बड़े चातुर्यपूर्ण ढंग से संवाद का अर्थ ही बदल दिया जाता है[1]। मम्मट ने रुद्रट की बात को पूरी तरह स्वीकार किया और उन्होंने सभङ्गश्लेष और काकु वक्रोक्ति दोनों को शब्दालंकार में सम्मिलित किया। रुय्यक ने मम्मट की बात का अनुमोदन करते हुए श्लेषमूलक और काकु-मूलक दोनों वक्रोक्तियों को अंगीकार किया। यद्यपि उन्होंने इन्हें अर्थालंकारों के अन्तर्गत रखा। विद्यानाथ ने रुय्यक का अनुसरण किया और इसे अर्थालंकार के अन्तर्गत रखा[2]। विद्यानाथ के अनुसार प्रकारान्तर से कहे हुए वाक्य की श्लेष या काकु के द्वारा प्रकारान्तर से जहाँ योजना होती है वह वक्रोक्ति कही जाती है[3]। अर्थात् जहाँ कुछ कहने की इच्छा से किसी ने कोई वाक्य कहा उसका तात्पर्य किसी ने कुछ अन्य ही समझ लिया तदनुसार वह अन्यथा योजना संगति करता है तब वहाँ वक्रोक्ति होती है। उक्ति में वक्रता अर्थात् कथन में विलक्षणता होती सभी अलंकारों में संभव है तथापि इस प्रकार का वैलक्षण्य अन्यत्र नहीं है। इसी वक्रोक्ति में ही है अतः यह सभी अलंकारों से/भिन्न है। इसे काकु से और श्लेष से दो प्रकार का माना गया है।

१- वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ।।
विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ।।

- काव्यालंकार २।१४, १६, पृ० ३८-४०

२- अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

- अलं० सर्व०, सू० ७८, पृ० ३२२

३- अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काक्वाश्लेषेण वा भवेत्।
अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते ।।

- प्रताप०, पृ० ४६३

स्वभावोक्ति -

इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि स्वाभाविक वर्णन या स्वभावोक्ति चमत्कारपूर्ण और प्रभावोत्पादक चित्रण होता है। भामह स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं। स्वभावोक्ति में पाये जाने वाले वक्रता तत्त्व के आधार पर भामह स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के अन्तर्गत अलंकार मानते हैं।[1] दण्डी का विवेचन अधिक स्पष्ट है। निःसन्देह स्वभावोक्ति में चमत्कार रहता है किन्तु उसकी मात्रा अत्यल्प होती है। अन्य अलंकारों अथवा वक्रोक्ति के लिये यह प्रारम्भिक बिन्दु है। इसीलिए दण्डी ने इसे अन्य अलंकार से पृथक् करके प्रथम अलंकार (आद्या अलंकृतिः) की संज्ञा दी है[2]। मम्मट ने निर्देश दिया है कि स्वभावोक्ति की आकर्षक एवं चमत्कारिक मात्रा को हम वैचित्र्य कहते हैं और इसी कारण स्वभावोक्ति की गणना अलंकार में करते हैं[3]। रुय्यक ने कहा कि सहृदय को काव्य में संवाद प्राप्त होता है और यह संवाद दो प्रकार का होता है -- चित्र संवाद और वस्तु संवाद। प्रथम का सम्बन्ध रसवर्णना और भाववर्णना से है और द्वितीय का अर्थ और वस्तुओं के वर्णन से है। दोनों वर्णन स्वाभाविक और अलंकार विहीन होते हैं। इन्हें ही रसवत् अलंकार और स्वभावोक्ति कहा जाता है। विद्यानाथ ने स्वभावोक्ति की अधिक चर्चा न करके संक्षेप में ही लक्षण

१- स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥

- काव्यालंकार, २। ९३, पृ० ६६

२- नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ॥

- काव्यादर्श, २।८, पृ० ७७

३- स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥

- काव्यप्रकाश १०।१११, पृ० ५०५

दे दिया है -- स्वभावोक्ति वह है जहां चारुता के साथ स्वाभाविक वस्तु का वर्णन होता है । अर्थात् स्वभावोक्ति में सुन्दरता के साथ जो जैसा है उसका यथावत् वर्णन होता है[१]।

तुल्ययोगिता -

यह गम्यमानौपम्य अलंकार वर्ग का अलंकार है । इस वर्ग के अलंकारों में उपमा गम्य होती है । भामह के अनुसार न्यून अर्थात् उपमेय का विशिष्ट अथवा उपमान के साथ गुण साम्य की विवक्षा से तुल्ययोगिता होती है जिसमें कार्य तथा क्रिया का समान योग रहता है[२]। दण्डी के अनुसार भी तुल्ययोगिता का यही स्वरूप है । उनके अनुसार उत्कृष्ट गुणों के साथ यह समीकरण स्तुति या निन्दा के लिए प्रयुक्त होता है[३]। इस प्रकार दण्डी भामह द्वारा प्रतिपादित तुल्ययोगिता अलंकार अपने अर्वाचीन रूप से भिन्न है । उद्भट ने ही तुल्ययोगिता का अर्वाचीन स्वरूप निर्धारित किया था उनके अनुसार उपमान और उपमेय की उक्ति से शून्य अप्रस्तुतों अथवा प्रस्तुतों का 'साम्याभिधायि वचन' तुल्ययोगिता है[४]। उद्भट के ही लक्षण का अनुसरण रुय्यक ने किया है[५]।

१- स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम् ।

- प्रताप०, पृ० ६५

२- न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्य क्रिया योगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ।।

- काव्यालंकार, ३।२७, पृ० ७७

३- विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित् ।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ।।

- काव्यादर्श, २।३३०, पृ० २०४

४- उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता ।।

- का० सार सं०, ५।७, पृ० ३७८

५- औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता । सू० २३

- अलंकारसर्वस्व, पृ० १११

रुय्यक के लक्षण में तीन विशेष तत्व हैं -- एक तो औपम्य का गम्य होना, दूसरा उसका पदार्थगत होना तथा तीसरा समानधर्म । विद्यानाथ का तुल्ययोगिता का लक्षण उद्भट और रुय्यक दोनों से ही मिलता है -- जहां केवल प्रस्तुतों में अथवा केवल अप्रस्तुतों में तुल्य-धर्म के कारण उपमा व्यक्त होती है वहां तुल्ययोगिता अलंकार है[1]। अर्थात् तुल्ययोगिता अलंकार में केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृतों में तुल्यधर्म के सम्बन्ध से औपम्य गम्य होता है ।

दीपक -

अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत की समस्तता में जहां तुल्य धर्म के द्वारा औपम्य गम्य होता है वहां दीपक अलंकार होता है । अर्थात् जहां समस्त प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में तुल्यधर्म के सम्बन्ध से औपम्य गम्य होता है वहां दीपक अलंकार है[2]। रुय्यक ने दीपक की परिभाषा बताते हुए कहा -- प्रस्तुतों तथा अप्रस्तुतों का दीपक होता है[3]। मम्मट के अनुसार - यदि प्रकृत और अप्रकृत धर्मियों में धर्म का एक बार ही उपादान हो वही एक बार उपादान बहुत सी क्रियाओं में एक कारक का हो तो उसे दीपक कहा जाता है[4]। कुछ आचार्यों जैसे - जगन्नाथ और जयरथ आदि ने

१- प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मत: ।
औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ।।

- प्रतापरु०, पृ० ५१६

२- प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु सामस्त्ये तुल्यधर्मत: ।
औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ।।

- प्रतापरु०, पृ० ५१८

३- प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु दीपकम् ।। सू० २४

- अलंकारसर्वस्व, पृ० ११४

४- सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।

- काव्यप्रकाश, १०।१०३, पृ० ४८७

दीपक को पृथक् अलंकार नहीं माना है । वस्तुत: तुल्ययोगिता और दीपक इन दोनों में से किसी एक को ही अलंकार मानना उचित है क्योंकि समान धर्म से सम्बन्ध, दोनों में ही एक तत्व है । दोनों ही अलंकारों से एक ही प्रकार की अनुभूति होती है जो कुछ थोड़ा भेद है उसे एक ही अलंकार के उपभेद के रूप में मान सकते हैं । जहां कहीं शुद्ध अप्रस्तुत का कथन है वहां प्रस्तुत भी भासित हो जाता है । अत: तुल्ययोगिता और दीपक का यह अन्तर कि एक में शुद्ध प्रस्तुत या शुद्ध अप्रस्तुत होते हैं पर दूसरे में दोनों एक साथ होते हैं बहुत बड़ा नहीं है । औपम्यगमीता भी दोनों में ही होती है । अत: इन्हें भिन्न मानना उचित नहीं है । रुय्यक ने दीपक के चार भेद माने हैं धर्म के आदि, मध्य या अन्त में रहने से दीपक के आदिदीपक, मध्य दीपक तथा अन्त दीपक भेद होते हैं । इनमें क्रिया एक ही होती है जिसका एकाधिक कारक से सम्बन्ध होता है, अत: इन तीन भेदों को एक क्रिया वाले दीपक का भेद कह सकते हैं । चौथा भेद वह है जिसमें कारक एक हो और क्रियाएं अनेक हों[1] । विद्यानाथ ने दीपक के तीन भेद ही माने हैं समान धर्म के आदि में रहने से आदि दीपक, मध्य में रहने से मध्य दीपक और अन्त में रहने से अन्त दीपक होता है[2] । विद्यानाथ ने तुल्ययोगिता और दीपक इन दोनों ही अलंकारों को पदार्थगत अलंकार कहा है ।

प्रतिवस्तूपमा -

प्रतिवस्तूपमा अलंकार का निरूपण भामह से उपमा भेद के रूप

१- अनेकस्यैकक्रियाभिसम्बन्धादौचित्यात्पदार्थत्वोक्ति: । वस्तुतस्तु वाक्यार्थत्वे आदिमध्यान्तवाक्यगतत्वेन धर्मस्य वृत्तावादिमध्यान्तदीपकाख्यास्त्रयोऽस्य-भेदा: ।

- अलं० सर्व० पृ० ११५

२- तस्य धर्मस्यादिमध्यान्तगतत्वेन त्रैविध्यम् ।

- प्रताप०, पृ० ५१८

में प्रारम्भ हुआ था[1]। भामह और दण्डी दोनों ने प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त को भिन्न अलंकार नहीं माना है। उद्भट ही सर्वप्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने प्रतिवस्तूपमा को न केवल पृथक् अलंकार माना अपितु दृष्टान्त (काव्यदृष्टान्त) से इसका पार्थक्य सुनिश्चित कर दिया[2]। मम्मट और रुय्यक दोनों ही आचार्यों ने प्रतिवस्तूपमा को दृष्टान्त से पृथक् माना है। इन्हीं आचार्यों का अनुसरण विद्यानाथ ने किया है। प्रतिवस्तूपमा के लक्षण में औपम्य की गम्यता का निर्देश रुय्यक के प्रभाव का ही परिचायक है। रुय्यक के अनुसार - वाक्यार्थगत के रूप में साधारण धर्म का दो वाक्यों में पृथक् निर्देश रहने पर प्रतिवस्तूपमा होती है। यहां वस्तु शब्द वाच्यार्थ का वाचक है। प्रत्येक वाक्यार्थ या प्रतिवस्तु में उपमा या साधर्म्य प्रतिवस्तूपमा का यौगिक अर्थ है[3]। विद्यानाथ ने रुय्यक के ही लक्षण का अनुसरण किया है -- यदि दो वाक्यों में पृथक्-पृथक् साधारण धर्म का निर्देश होता है तब वह गम्यौपम्य के आश्रय में रहने वाली प्रतिवस्तूपमा है[4]। अर्थात् जहां

१- समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ।।

- काव्यालंकार, २। ३४, पृ० ४३

२- उपमान सन्निधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्यत्र ।
उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता ।।

- का० सार० सं०, प्रथम वर्ग, पृ० ३०७

३- वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।
वस्तुशब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवाक्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्थाश्रयणात् ।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० ११८-१९

४- यत्र सामान्यनिर्देशः पृथग्वाक्यद्वये यदि ।
गम्यौपम्याश्रिता सा स्यात् प्रतिवस्तूपमा मता ।।

- प्रताप०, पृ० ५२०

वस्तुप्रतिवस्तुभाव से सामान्य का दो वाक्यों में निर्देश करते हैं तब उस निर्देश से जिसमें औपम्यगम्य है ऐसी प्रतिवस्तूपमा है । प्रतिवस्तूपमा के साधर्म्य और वैधर्म्य से दो प्रकार हैं ।

दृष्टान्त -

विद्यानाथ के अनुसार जहां दो वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव से साधारण धर्म को कहते हैं उसे वाक्यवेत्ता लोग दृष्टान्त कहते हैं[1]। दृष्टान्त अलंकार का प्रारम्भ उद्भट से होता है । उन्होंने इसे काव्य दृष्टान्त सम्भवत: इसलिए कहा था कि न्याय की अनुमान प्रक्रिया में समाविष्ट दृष्टान्त से भेद स्पष्ट रहे । उनके अनुसार अभीप्सितार्थ का जहां स्पष्ट प्रतिबिम्ब दर्शित किया जाये और यथा, इव, वा आदि का प्रयोग न हो- वहां विद्वानों द्वारा काव्य दृष्टान्त का प्रयोग होता है[2]। रुय्यक के अनुसार धर्मी (प्रकृत तथा अप्रकृत अथवा उपमान एवं उपमेय) के अतिरिक्त धर्म का भी जहां बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है उसे दृष्टान्त अलंकार कहते हैं[3]। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार धर्मी तथा धर्म दोनों को ही लेकर दृष्टान्त अलंकार हो सकता है । धर्मी के अभिप्राय से बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने का उल्लेख रुय्यक ने उपमा प्रकरण में भी किया था। मम्मट का लक्षण भी यही सूचित करता है कि जहां दो धर्मियों या धर्म में बिम्ब-

---

१- यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बयोच्यते ।
सामान्यधर्मो वाक्यज्ञै: स दृष्टान्तो निगद्यते ।।

- प्रताप०, पृ० ५२१

२- इष्टस्यार्थस्य विस्पष्ट प्रतिबिम्बनिदर्शनम् ।
यथेवादिपदै: शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ।।

- का० सार० सं०, ६।७५, पृ० ४१७

३- तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्त: ।। सू० २६
तस्यापीति न केवलमुपमानोपमेययो: । तच्छब्देन सामान्यधर्म: प्रत्यवमृष्ट: ।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० १२०

प्रतिबिम्बभाव हो वहां दृष्टान्त अलंकार होता है[1]। इस प्रतिबिम्बन की अभि-व्यक्ति साधर्म्य से भी हो सकती है और वैधर्म्य से भी। विद्यानाथ ने भी दृष्टान्त अलंकार के यही दो भेद माने हैं।

निदर्शना -

जहां उपमान के धर्म का उपमेय में निबन्धन कर देने से अन्वय का होना सम्भव नहीं है अत: उसके सम्बन्ध के लिए बिम्बप्रतिबिम्बभाव के करने का आक्षेप करते हैं वह निदर्शना है[2]। रुय्यक के अनुसार दो वस्तुओं का सम्बन्ध जो अन्वय की बाधा न रहने से संभव और अन्वय की बाधा होने पर असम्भव कहलाता है -- बिम्बप्रतिबिम्बभाव की प्रतीति कराता है तो निदर्शना होती है[3]। निदर्शना उपमामूलक अलंकार है। अत: जहां दो वस्तुओं में, जो दो पदों या एक वाक्य में वर्णित हैं, सादृश्य का अनुभव होगा वहां निदर्शना अलंकार होगा। रुय्यक का निदर्शना लक्षण उद्भट से प्रभावित है[4]। रुय्यक ने उपमानोपमेयत्व के स्थान पर प्रतिबिम्बकरण शब्द का प्रयोग किया है जो अधिक उपयुक्त है। विद्यानाथ के निदर्शना लक्षण में उद्भट और रुय्यक के लक्षण का समावेश है।

१- दृष्टान्त: पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।

- काव्यप्रकाश १०।१०२, पृ० ४८६

२- असंभवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययो:।
प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सा स्यान्निदर्शना ।।

- प्रतापा०, पृ० ५२३

३- सम्भवतासम्भवता वा वस्तु सम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० १२२

४- अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना ।।

- का० सार० सं०, ५।६१, पृ० ३८८

व्यतिरेक -

विद्यानाथ के अनुसार जहां उपमान एवं उपमेय में आधिक्य के अथवा अल्पत्व के कहने से भेद अर्थात् वैलक्षण्य प्रधान है ऐसे साधर्म्य को व्यतिरेक कहते हैं[1]। व्यतिरेक में कवि उपमेय का उत्कर्ष बताना चाहता है। इसके लिए वह या तो इन दोनों में विद्यमान सादृश्य का निषेध करता है या उपमेय को उत्कृष्ट बताकर आक्षेप द्वारा उपमान का अपकर्ष सूचित करता है या कभी उपमेय का अपकर्ष बताकर आक्षेप द्वारा उपमान का उत्कर्ष बताता है। वामन ने सर्वप्रथम इसे अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया कि वे केवल उपमेयाधिक्य को ही व्यतिरेक मानते हैं[2]। इसके बाद रुद्रट ने व्यतिरेक को उपमेयाधिक्य तथा उपमानाधिक्य दोनों तरह का माना है[3]। परवर्ती आलंकारिकों में मम्मट, जगन्नाथ आदि ने वामन का अनुसरण किया है और रुय्यक ने रुद्रट का। उनकी व्यतिरेक परिभाषा में उपमेयाधिक्य तथा उपमानाधिक्य दोनों का ही ग्रहण है। रुय्यक के अनुसार भेद की प्रधानता रहने पर, उपमान के उपमेय से आधिक्य अथवा विपर्यय में व्यतिरेक होता है[4]। रुय्यक का ही अनुसरण प्रतापरुद्रीयकार ने किया है। यद्यपि कुमारस्वामी ने

१- भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
आधिक्याल्पत्वकथनाद् व्यतिरेक स उच्यते ।।

- प्रताप०, पृ० ५२५

२- उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः।
उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद् अर्थादुपमानात् स व्यतिरेकः।

- का० सू० वृ० ४।३।२२, पृ० २६१

३- यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने।
यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये ।

- काव्यालंकार ७।८६, ८९, पृ० २३०-३२

४- भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः।

- अलंकारसर्वस्व, सूत्र २८, पृ० १२६

रत्नापण में रुय्यक के मत का खंडन किया है[1] । और मम्मट के व्यतिरेक लक्षण को ही उचित ठहराया है । मम्मट के मत में उपमानाधिक्य में व्यतिरेक अभीष्ट नहीं है । रुय्यक ने उपमेय का आधिक्य तथा न्यूनगुणत्व दोनों का समावेश करने के लिये व्यतिरेक का लक्षण किया है कि उपमान से उपमेय जहां अधिक गुणवाला या न्यूनगुणवाला हो वहां व्यतिरेक होता है । इस लक्षण के अनुसार उपमेयाधिक्य तो व्यतिरेक है ही दूसरे भेद के लिए रुय्यक ने उपमानाधिक्य का प्रयोग न करके उपमेय को ही न्यूनगुण कहा है । इससे रुय्यक का सम्भवत: यही अभिप्राय है कि व्यतिरेक में कवि की दृष्टि उपमान पर केन्द्रित न होकर उपमेय पर ही केन्द्रित होती है । इसी प्रकार का लक्षण विद्यानाथ ने भी दिया है कि जहां उपमान से उपमेय का आधिक्येन या न्यूनत्वेन प्रतिपादन करने से जो भेद प्रधान साधर्म्य उपात्त होता है वह व्यतिरेक है ।

मिश्रालङ्कार

विद्यानाथ ने शब्दालंकार और अर्थालंकार के अतिरिक्त अलंकार का तीसरा वर्ग मिश्रालंकार को भी स्वीकार किया है । इस तीसरे वर्ग में संसृष्टि और संकर को रखा है । संसृष्टि और संकर में अन्य आचार्यों के समान विद्यानाथ ने भी अनेक शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का समानाश्रयत्व स्वीकार किया है । उभयालंकार और मिश्रालंकार का भेद स्पष्ट है । उभयालंकार एक साथ शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित रह कर दोनों को अलंकृत करते हैं । पर मिश्रालंकार में दो अलंकारों के तत्व के मिश्रण से नया अलंकार रूप बन जाता है । यह मिश्रण केवल शब्दालंकारों के तत्व का भी हो सकता है और केवल अर्थालंकारों के तत्व का भी । शब्द और अर्थ के अलंकारों के परस्पर मिश्रण से नवीन अलंकार बन जाता है ।

विद्यानाथ के अनुसार जैसे स्वर्ण और रत्नों से बने हुए लौकिक

१- भेदव्यलक्षणं तु - - - - - - - काव्यप्रकाशकार: समदूषयत् ।

- प्रताप०, पृ० ५२८

अलंकारों में पृथक्-पृथक् सौन्दर्य होता है यदि उनका परस्पर सम्बन्ध कर दिया जाये तो उस सम्बन्ध से सौन्दर्य का अतिशय बढ़ जाता है जो कि अनुभवी लोगों को ही प्रतीत होता है। उसी प्रकार काव्यगत अलंकारों में भी सम्बन्ध से परस्पर मिश्रभाव से सौन्दर्यातिशय चारुत्वातिशय बढ़ जाता हुआ अनुभव से आता है[1]। विद्यानाथ ने मिश्रालंकारों (संसृष्टि और संकर) के बारे में जो कुछ भी कहा है वह रुय्यक के कथनों का अनुवाद मात्र है। रुय्यक के अनुसार मिश्रण दो तरह का होता है। संयोग की तरह या समवाय की तरह। संयोग की तरह मिश्रण वह है जहाँ भेद उत्कट रूप में वर्तमान हो। समवाय न्याय वहाँ होता है जहाँ उस भेद की स्थिति उत्कट रूप में नहीं होती। उत्कटरूप में रहना तिलचावल के मिलने की तरह होता है। और दूसरी स्थिति (अनुत्कटरूप में रहना) नीरक्षीर के मिलने के समान होता है[2]। तिलतण्डुलवत् अर्थात् संयोग रूप सम्बन्ध होने से संसृष्टि होती है और नीरक्षीर न्याय अर्थात् समवाय सम्बन्ध होने पर संकर होता है। यह संसृष्टि और संकर पृथक्-पृथक् अतिशय चारुत्व के हेतु होते हैं[3]।

१- यथालौकिकानामलंकाराणां हिरण्मयानां मणिमयानां च पृथक् सौन्दर्यहेतुनामन्योन्यसम्बन्धेन चारुत्वातिशयो दृश्यते तथैव काव्यालंकाराणां रूपकादीनां मिथः सम्बन्धेन सौन्दर्यातिशयः प्रतीयते।

- प्रताप०, मिश्रा० प्र०, पृ० ५७४

२-(क) तत्र संश्लेषः संयोगन्यायेन समवायन्यायेन च द्विधा। संयोग न्यायो यत्र भेदस्योत्कटतया स्थितिः। समवायन्यायो यत्र तस्यैवानुत्कटत्वेनावस्थानम्। तत्रोत्कटत्वेन स्थितौ तिलतण्डुलन्यायः। इतरत्र तु क्षीरनीरन्यायः।

- अलं० सर्व०, पृ० ३५५

(ख) स च सम्बन्धो द्विविधः - - - - - - - - - क्षीरनीरन्यायः।

- प्रताप०, पृ० ५७४

३- तिलतण्डुलन्यायेन सम्बन्धे संसृष्टिः। क्षीरनीरन्यायेन सम्बन्धे संकरः। अनयोः पृथक्चारुत्वातिशयहेतुत्वादलंकारद्वयान्तरत्वम्।

- प्रताप०, मिश्रा० प्र०, पृ० ५७४

संसृष्टि -

जहां पर अलंकार परस्पर तिलतण्डुल के सम्बन्ध की तरह संयोग करते हैं वहां संसृष्टि अलंकार होता है[1]। यहां पर विद्यानाथ ने रुय्यक का ही अनुसरण किया है[2]। संसृष्टि तीन तरह का होता है -- शब्दालंकारों में, अर्थालंकारों में और उभयालंकारों में[3]। आचार्य मम्मट के अनुसार इन अलंकारों (पूर्वोक्त) की जो भेद के साथ स्थिति है उसे संसृष्टि कहते हैं[4]।

संकर -

जहां पूर्वोक्त उपमादि या अनुप्रासादि एवं उभयालंकार का परस्पर नीरक्षीरन्याय से सम्बन्ध होता है उसे संकर कहते हैं। वह अङ्गाङ्गिभाव से,

---

१- तिलतण्डुलसंश्लेषन्यायाद्यत्र परस्परम् ।
संश्लिष्येयुरलंकारा सा संसृष्टिर्निगद्यते ।।

- प्रताप, मिश्रा प्र०, पृ० ५७५

२- तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संसृष्टि: - - - - - । एषां तिलतण्डुल-न्यायेन मिश्रत्वे संसृष्टि: ।। सू० ८५ ।।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० ३५७

३-(क) - - - - - संसृष्टिस्त्रिविधा । शब्दालंकारगतत्वेन, अर्थालंकारगतत्वेन उभयालंकारगतत्वेन च ।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० ३५७

(ख) सा त्रिविधा - शब्दालंकारगतत्वेनार्थालंकारगतत्वेनोभयालंकार गतत्वेन च ।

- प्रताप०, मिश्रा प्र०, पृ० ५७५

४- सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थिति: ।।

- काव्यप्रकाश १०। १३९, पृ० ५५२

संदेह से, एवं एक वाचकानुप्रवेश से तीन प्रकार का होता है[1]। विद्यानाथ का मत पूर्णत: रुय्यक के मत पर आश्रित है[2]। आचार्य मम्मट के अनुसार- संकर अलंकार उसे कहते हैं जहां उक्त अलंकार स्वयं में विश्रान्त न हों और परस्पर अनुग्राह्यानुग्राहक भाव धारण करें[3]। अर्थात् जहां कोई अलंकार स्वयं में ही इतना समर्थ न हो कि वह पूर्ण चारुता का सम्पादन कर सके अथवा वह स्वयं सत्ता में ही आ सके तथा वह अपनी पूर्णता के लिए पूर्ण चारुता सम्पादन के लिए जहां दूसरे अलंकार का मुखापेक्षी होता है और इस प्रकार एक से अधिक अलंकार जहां परस्पर उपकार करते हैं वहां संकर अलंकार होता है।

आचार्य विद्यानाथ के मिश्रालंकार प्रकरण के बाद ग्रन्थ सम्पूर्ण होता है। इस शोधप्रबन्ध के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि आचार्य विद्यानाथ परवर्ती काल के एक समर्थ आचार्य हैं। उन्होंने प्रतापरुद्रीय में काव्यशास्त्रीय और नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। आचार्य भरत के काल से लेकर परवर्ती काल तक कुछ गिने चुने ही ग्रन्थ हैं जिनमें इन दोनों ही सिद्धान्तों का सम्यक्रूपेण वर्णन हुआ है।

-0-

१- क्षीरनीरनयायत्र सम्बन्धः स्यात् परस्परम्।
अलंकृतीनामेतासां संकरः स उदाहृतः ।। तत्र्याङ्गाङ्गिभावेन संदेहेनैकवाचकानुप्रवेशेन च त्रैविध्यम्।

- प्रताप०, मिश्र प्र०, पृ० ५७६

२- क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः। सू० ८६
तच्च मिश्रत्वङ्गाङ्गिभावेन संशयेन एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत्संकरं त्रिभेदमुत्थापयति।

- अलंकारसर्वस्व, पृ० ३६०

३- अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः।

- काव्यप्रकाश १० । सू० २०७, पृ० ५५४

उपसंहार

उपसंहार

आन्ध्र प्रदेश में अलङ्कार सम्बन्धी जो साहित्य प्रकाश में आया है उसमें विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय का स्थान सर्वोपरि है । प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ के प्रणेता विद्यानाथ वारंगल के काकतीय वंश के राजा प्रतापरुद्रदेव द्वितीय के आश्रय में थे । विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ में इन्हीं प्रतापरुद्र की प्रशस्ति में उदाहरण दिये हैं । राजा प्रतापरुद्र के पिता का नाम महादेव और माता का नाम मुम्मडाम्बा था । प्रतापरुद्र ऐतिहासिक पुरुष थे । वह १२९५ ई० में अपनी नानी रुद्राम्बा के बाद सिंहासनारूढ़ हुए थे । विभिन्न इतिहासविदों ने प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर १२९५ ई० से १३२६ई०तक प्रतापरुद्र का समय निर्धारित किया है । प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित होता है कि यह ग्रन्थ १३१६ ई० के बाद ही लिखा गया है ।

प्रतापरुद्रीय का मूल प्रतिपाद्य विषय काव्यालङ्कार और नाट्यशास्त्र है । परवर्तीकाल में विद्यानाथ ऐसे लेखक हैं जिनकी रचना काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में आलोचनात्मक विवेचन तथा तत्सम्बन्धित परिपक्व सिद्धान्तों को परिलक्षित करती है । इसका विषय क्षेत्र बहुत व्यापक है । इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं -- नायक प्रकरण, काव्य प्रकरण, नाटक प्रकरण, रस प्रकरण, दोष प्रकरण, गुण प्रकरण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, मिश्रालङ्कार ।

विद्यानाथ के समय तक संस्कृत अलङ्कारशास्त्र की प्रायः सभी नवीन विचारधाराओं का प्रारम्भ हो चुका था । विद्यानाथ के ग्रन्थ प्रतापरुद्रीय पर भी पूर्वाचार्यों का प्रभाव रहा । विद्यानाथ अपने भिन्न-भिन्न विषयों में अलग-अलग आचार्यों से प्रभावित रहे हैं । विद्यानाथ ने मुख्यरूप से मम्मट, भोज, धनिक, धनंजय और रुद्रभट्ट की विचारधाराओं को आधार बनाया है । काव्य के लक्षण, प्रयोजन, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि आदि के विवेचन में विद्यानाथ ने मम्मट का आधार लिया है । इसके अतिरिक्त दोष तथा अलङ्कारों के भी सम्बन्ध में उन्होंने अंशतः मम्मट को ही आधार बनाया है । मम्मट के बाद विद्यानाथ ने नाटक प्रकरण में लगभग सभी परिभाषाएं दशरूपक और अवलोक के

आधार पर लिखे हैं। विद्यानाथ ने दोष और गुण-विवेचन में भोज का आश्रय लिया है। भोज के चौबीस शब्दगुणों को थोड़े बदलाव के साथ और कहीं पूर्णतया उसी रूप में सरस्वतीकंठाभरण से लिया है। काव्यप्रकाश की जो स्थिति काव्य के क्षेत्र में है वही अर्थालङ्कार के क्षेत्र में रुय्यक के ग्रन्थ अलंकारसर्वस्व की है। अलङ्कारों के वर्गीकरण तथा अधिकांश अर्थालंकारों की परिभाषा करते समय विद्यानाथ रुय्यक को अपना आधार बनाते हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त विद्यानाथ ने रस, गुण तथा नायक के वर्णन में कुछ स्थानों पर रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक तथा रसकलिका नामक ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण किया है। इन पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त भरत, दण्डी, भामह और वामन का भी उल्लेख विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ में किया है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का यद्यपि उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया है फिर भी विद्यानाथ इन आचार्यों से बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं।

यही नहीं प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर भी पड़ा है। यथा अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द, आचार्य विश्वेश्वर का अलङ्कारकौस्तुभ, वेलम दरबार के आश्रित विश्वेश्वर की चमत्कार-चन्द्रिका, देवशंकरपुरोहित का अलङ्कारमञ्जूषा, नरसिंह का नञ्जराजयशोभूषण आदि ग्रन्थों पर विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

विद्यानाथ ने विषयों के निर्धारण के लिए विभिन्न स्रोतों का सहारा लिया है। द्वितीय प्रकरण में काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों को एक विशिष्ट रूप से व्यवस्थित किया है। मानव व्यक्तित्व के समरूप प्रत्येक सिद्धान्त को उसके उपयुक्त स्थान पर रखा है। काव्य की परिभाषा देने के पश्चात् विद्यानाथ ने काव्य पुरुष का एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। जिसमें शब्दों और अर्थों से शरीर बनता है। अर्थसम्पन्नता से उसे जीवन प्राप्त होता है। उपमादि अलङ्कार कंठहार आदि आभरण की तरह हैं, श्लेष एवं अन्य उक्तियां मानों उसमें नायकत्व एवं अन्य गुणों का समावेश करते हैं। इसी प्रकार रीति, वृत्ति, शय्या, पाक, आदि काव्य सामग्रियों का भी चित्रीकरण किया है।

विद्यानाथ ने द्वितीय प्रकरण में पूर्वाचार्यों मम्मट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए शब्द और अर्थ की समष्टि को काव्य माना है। यद्यपि कुछ आचार्यों ने शब्द मात्र को ही काव्य स्वीकार किया है। विद्यानाथ ने काव्य के प्रयोजन और हेतु पर अलग से विचार नहीं किया है नायक प्रकरण में प्रसंगवश कुछ प्रयोजन बताये हैं जैसे कि कीर्ति और प्रतिष्ठा। प्राय: सभी आचार्यों ने काव्य के प्रयोजन में कीर्ति अथवा यश का मुख्यरूप से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त विद्यानाथ ने काव्य प्रयोजनों में हित की प्राप्ति, अहित की निवृत्ति सरस रूप में कर्तव्य का ज्ञान इन दोनों प्रयोजनों का भी उल्लेख किया है। काव्य के प्रयोजन के ही समान विद्यानाथ ने काव्य के हेतु का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। ग्रन्थ के मंगलाचरण के अन्तिम पद में काव्य हेतु पर संकेत मात्र किया है। इस स्थान पर उन्होंने काव्य एवं नाट्य के प्रधान जीवातु `सारस्वत प्रक्रिया` का उल्लेख किया है। जिसका निमित्त शक्ति अथवा प्रतिभा है। इस प्रकार विद्यानाथ ने केवल शक्ति अथवा प्रतिभा को ही काव्य का हेतु माना है।

काव्य की परिभाषा के पश्चात् विद्यानाथ ने काव्य वृत्तियों एवं शब्द वृत्तियों अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के बारे में बताया है। विद्यानाथ ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि जहां तक काव्य का सम्बन्ध है केवल तीन वृत्तियां हैं उनके अनुसार तात्पर्यार्थ और कुछ नहीं केवल व्यंग्यार्थ ही है। विद्यानाथ ने शब्द-वृत्ति, अभिधा, लक्षणा आदि पर जो विचार व्यक्त किये हैं वह काव्यप्रकाश पर आधारित है। संकेतित अर्थ को विषय करने वाला शब्द का व्यापार अभिधा है। विद्यानाथ ने अभिधा के रूढ़िपूर्विका और योगपूर्विका ये दो भेद किये हैं। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर उसके सम्बन्धी अर्थ में आरोपित शब्द व्यापार लक्षणा है। विद्यानाथ ने मम्मट की छ: प्रकार की लक्षणा न मानकर केवल चार प्रकार की लक्षणा मानी है। अभिधा और लक्षणा के पश्चात् शब्द की तीसरी वृत्ति व्यञ्जना का उल्लेख किया है। जब अभिधा और लक्षणा वृत्तियां विरत हो जाती हैं तो व्यंजना वृत्ति द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति होती है। विद्यानाथ ने व्यञ्जना के तीन भेद माने हैं -- शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और उभयशक्तिमूल। शब्द की इन तीनों

वृत्तियों के पश्चात् काव्य के तीन प्रकारों (उत्तम, मध्यम और अधम) का विवेचन है ।

उत्तम काव्य में व्यंग्य की प्रधानता रहती है जिसे ध्वनि कहते हैं । व्यंग्य की अप्रधानता में काव्य मध्यम प्रकार का होता है उसे गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं । जिस काव्य में व्यंग्य अस्फुट रहता है वह अधम काव्य होता है और उसे चित्रकाव्य कहते हैं । तीन प्रकार के काव्यों का निरूपण करने के बाद विद्यानाथ ने ध्वनि के भेद वर्णित किये हैं । ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद तो उन्होंने मम्मट के आधार पर किये हैं किन्तु बाद में मम्मट द्वारा बताये गये १०४५५ भेदों के स्थान पर केवल ५३०४ भेद बताकर बहुत सी अप्रयोज्य ध्वनियों के प्रकारों को अलग कर दिया है ।

उत्तम काव्य के बाद मध्यम काव्य के अन्तर्गत विद्यानाथ ने काव्यप्रकाश के समान गुणीभूत व्यंग्य काव्य के आठ भेद माने हैं -- अगूढ, अपराङ्ग, वाच्यसिद्ध्यंग, अस्फुट, संदिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर । तीसरे प्रकार के काव्य को अधम काव्य कहा है । विद्यानाथ ने व्यंग्यहीनता को नहीं वरन् व्यंग्य की अस्फुटता को अधम काव्य अथवा चित्रकाव्य माना है तथा अलङ्कारों को चित्रकाव्य का भेद माना है ।

काव्य के तीन भेद करने के बाद विद्यानाथ ने रीति, वृत्ति, शय्या और पाक का वर्णन किया है । तत्पश्चात् काव्य प्रकरण के अन्त में पद्य काव्य के तीन प्रकार बताये हैं -- गद्यमय, पद्यमय, गद्यपद्योभयमय । गद्य के अन्तर्गत विद्यानाथ ने केवल आख्यायिका नामक भेद माना है । पद्य के अन्तर्गत महाकाव्य नामक भेद माना है । गद्यपद्योभय काव्य को चम्पू कहा है । इन प्रकारों के पश्चात् क्षुद्रप्रबन्धों के अन्तर्गत ऐसी रचनाओं का निरूपण किया है जो कि उस समय प्रचलित थीं । इस प्रकार के पांच क्षुद्र प्रबन्धों का निरूपण किया है -- उदाहरण, चक्रवाल, भोगावलि, विरुदावली, तारावली ।

प्रतापरुद्रीय में जो अन्य विशिष्ट बात है वह है रस का विवेचन । विद्यानाथ ने सामान्यतया धनंजय, मम्मट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित विचारों को प्रस्तुत किया है । रस की परिभाषा में विद्यानाथ ने

दशरूपककार का अनुसरण करते हुए विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादनयोग्य स्थायी भाव को ही रसमाना है । विद्यानाथ ने धनंजय के ही समान रस की परिभाषा में सात्विक भाव को भी सम्मिलित किया है ।

इस अध्याय में विद्यानाथ ने रस सम्बन्धी मूलभूत प्रश्न उठाया है कि रस का आश्रय कौन है ? विद्यानाथ ने इसका उत्तर देते हुए रस का मुख्य आश्रय चरित्र नायक को माना है । किन्तु, रस प्रकरण के अंतिम श्लोक की अंतिम पंक्ति में कहते हैं कि संसार में रस का आश्रय अनुकार्य या नायक में है किन्तु नाटक में यह सामाजिक में है । यह कथन विद्यानाथ के स्वयं प्रस्तुत विचारों में अन्तर्विरोध उत्पन्न करता है ।

विद्यानाथ द्वारा प्रतिपादित रससम्बन्धी विवेचनों में रस संकर संबंधी उनकी मान्यता महत्वपूर्ण है । इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि यहां तक तो ठीक है कि एक जैसे रसों को एक स्थान पर रखा जाये किन्तु इससे सम्बन्धित रसों को न तो समझा जा सकता है न समझाया जा सकता है । वास्तव में जब एक रस सम्पूर्ण हो जाता है तो स्वत: दूसरे में विलीन हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त विद्यानाथ ने १८ शृङ्गारचेष्टाओं के नाम गिनाये हैं जिन्हें अधिकतर ग्रन्थकारों ने नायिका भेद के प्रसङ्ग में प्रस्तुत किया है और उन्हें नायिका के सात्विक अलङ्कार बताये हैं । विद्यानाथ ने इन शृंगार चेष्टाओं के बारे में यह स्पष्ट नहीं किया है कि इनमें से कौन सी मानसिक चेष्टाएं हैं और कौन सी शारीरिक । कौन पुरुषोचित हैं या स्त्रियोचित हैं ।

विद्यानाथ का गुण प्रकरण भोज के ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रथम अध्याय पर आधारित है । यत्र तत्र गुणों के क्रम में थोड़ा फेर-बदल करके भोज द्वारा उल्लिखित चौबीस शब्द-गुणों को ही प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ में दे दिया गया है । यहां तक कि उनकी परिभाषाएं भी भोज जैसी ही हैं । किन्तु भोज और विद्यानाथ में साम्य बस यहीं तक है । गुण के स्वरूप निरूपण में विद्यानाथ की स्वतंत्रता यहीं

से दिखाई देने लगती है । विद्यानाथ की यह मान्यता है कि गुण दो प्रकार होते हैं, एक तो वे जो कतिपय दोषों की अनुपस्थिति के कारण हैं दूसरे वे जो मूलत: सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये हैं अतएव दूसरी कोटि के गुण पहली कोटि से श्रेष्ठतर हैं । विद्यानाथ ने भोज के समान गुणों को शब्दगत और अर्थगत नहीं माना है । वे गुणों को केवल शब्दगत मानते हैं । विद्यानाथ का कथन है कि गुण वास्तव में संघटनाश्रय हैं । और केवल एक कोटि में आते हैं और काव्य की आत्मा रस को उदात्तता प्रदान करते हैं । यद्यपि विद्यानाथ आनन्दवर्धन के मत को नहीं स्वीकार करते किन्तु, फिर भी काव्य प्रकरण में विद्यानाथ ने गुणों को शौर्यादिवत् कहा है जिसमें आनन्दवर्धन की गुणालङ्कार धारणा की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है । कई स्थानों पर विद्यानाथ के विचारों में विसंगतियां दिखाई देती हैं जैसे गुणों के ही सम्बन्ध में यदि गुणों को केवल शब्द धर्म माना जाये तो उसे शौर्यादि की तरह आत्मा का उत्कर्षसाधक कैसे कहा जा सकता है । जबकि विद्यानाथ ने गुण प्रकरण में गुण को शब्द-धर्म माना है और काव्य प्रकरण में गुण को शौर्यादिवत् कहा है ।

प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ की अन्यतम विशेषता यह है कि इसमें नायक का विवेचन नाटक प्रकरण से अलग किया गया है और उसे अलग से नायक प्रकरण नाम दिया गया है । नायक प्रकरण इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय है । नायक प्रकरण को नाटक प्रकरण से पृथक् लिखने का कारण यह बताया है कि किसी पुण्यश्लोक का वर्णन करने से प्रबन्ध तथा प्रबन्ध निर्माता की कीर्ति और प्रतिष्ठा बढ़ती है । जैसे-रामायण ग्रन्थ और आदिकवि की महाप्रतिष्ठा का कारण श्रीराम के गुणों का वर्णन है । इसके अतिरिक्त विद्यानाथ ने विभिन्न ग्रन्थों और आचार्यों का उदाहरण दिया है जो कि उत्तम चरित्र के वर्णन से लोक प्रसिद्ध हुए । इसी प्रकार प्रतापरुद्रीय में उत्तम गुणों से युक्त अपने आश्रयदाता राजा प्रतापरुद्र के चरित्र वर्णन को उचित ठहराया है ।

नायक प्रकरण के औचित्य के बाद विद्यानाथ ने नायक के महाकुलीनता, औज्ज्वलता, महाभाग्यता, उदारता, तेजस्विता, विदग्धता और धार्मिकता ये आठ गुण बताये हैं और नायक के स्वरूप का वर्णन किया है । तत्पश्चात् नायक के

विशेष गुणों के आधार पर तथा नायक के नायिका के प्रति प्रेमव्यवहार के आधार पर द्विविध नायक-भेद प्रस्तुत किया है । नायकों के विशेष गुणों एवं स्वरूप के आधार पर धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरशान्त ये चार भेद किये हैं । शृङ्गारी नायकों के भी चार भेद स्वीकार किये हैं -- अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ । नायकभेद वर्णन के बाद नायिकाओं को अनुकूलता लाने में नायक के सहायक पीठमर्द, विट, चेट, विदूषक आदि का वर्णन किया है ।

नायक भेद और नायक के सहायकों का वर्णन करने के बाद नायिका भेद दिखाया है । विद्यानाथ ने नायिका भेद को अधिक विस्तार से वर्णित नहीं किया है उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित नायिका भेदों को अत्यधिक संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है, सम्भवत: विद्यानाथ ने प्रसंगवश ही नायिका भेद वर्णित किया है । प्रथमत: शृंगार नायिका के स्वाधीनपतिका, वासकसज्जिका, विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका ये आठ भेद बताये हैं इन आठों नायिकाओं के रति-विकास के आधार पर मुग्धा, मध्या और प्रौढा ये तीन-तीन भेद किये हैं इस प्रकार नायिका के चौबीस भेद बताये हैं । नायिका भेद के पश्चात् विद्यानाथ ने नायिका की सहायिकाओं का वर्णन किया है ।

प्रतापरुद्रीय की एक विशेषता यह है कि इसमें काव्यशास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी विवेचन हुआ है । इसके लिये विद्यानाथ ने नाटक प्रकरण में विशद विवेचन किया है । उदाहरण के लिए उन्होंने स्वरचित प्रतापरुद्रकल्याण नामक एक उत्कृष्ट नाटक का प्रवेश कराया है । जहां कहीं उदाहरण देना हुआ है इसी नाटक से दिया है । जहां तक काव्यालंकार और नाट्यशास्त्र दोनों विषयों की व्याख्या करने वाले किसी ग्रन्थ का सम्बन्ध है तो वह प्रतापरुद्रीय के अतिरिक्त विश्वनाथ का साहित्यदर्पण है । प्रतापरुद्रीय के नाटक प्रकरण का आधार दशरूपक एवं अवलोक है । इस प्रकरण में कई स्थानों पर विद्यानाथ ने दशरूपक के उदाहरण दिये हैं । नाटक प्रकरण के आरम्भ से लेकर

लगभग सभी परिभाषाएं तथा मुख्य सिद्धान्त एवं अन्य विचार दशरूपक से लिये गये हैं । नाट्य की परिभाषा, उसके दो रूप नृत्य और नृत्त, तांडव लास्य में अन्तर, कथावस्तु के तीन प्रकार, पंच संधियां, पांच अर्थप्रकृतियां एवं पंचावस्थाएं, पांचों संधियों के भेद, संध्यंग के प्रयोजन एवं प्रयोग, कथावस्तु में सूच्य-असूच्य तथा दृश्य-श्रव्य के विभाग, अंक, प्रस्तावना तथा विभिन्न भाग आदि पूर्णरूपेण शब्दश: दशरूपक से लिये गये हैं । कुछ स्थानों में थोड़ा सा पाठ्यन्तर है, कुछ स्थानों में दशरूपक की कारिका के स्थान पर विद्यानाथ ने संक्षिप्त गद्य में वृत्ति का उपयोग किया है । इसी प्रकार विद्यानाथ ने नाटक की परिभाषा तथा उसकी अवधारणा और प्रकरण, प्रहसन, डिम एवं व्यायोग को पूर्णतया दशरूपक से लिया है । कुछ अन्य रूपकों की परिभाषा भी विद्यानाथ ने दशरूपक से ली है । बहुत ही कम ऐसे स्थान हैं जहां विद्यानाथ ने अन्य ग्रन्थों का सहारा लिया है किन्तु, वे ग्रन्थ स्पष्ट नहीं हो पाये हैं । विद्यानाथ ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'एषा प्रक्रिया दशरूपकोक्तरीत्यनुसारिणी'।

विद्यानाथ के अन्तिम प्रकरण अलंकारों से सम्बन्धित हैं । एक शब्दालंकारों से सम्बन्धित है, दूसरा अर्थालंकारों से और तीसरा मिश्रालंकार से । शब्दालंकार प्रकरण में अलंकार की सामान्य परिभाषा करते हुए अलंकार को काव्य के चारुत्व का हेतु कहा है । विद्यानाथ ने अलंकारों के शब्द और अर्थों में विभेद करते समय अलंकारसर्वस्व के आश्रयाश्रयिभाव को माना है न कि काव्यप्रकाश के अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त को । अलंकारों के मूलाधार के प्रश्न पर विद्यानाथ ने प्राचीन आचार्यों का अनुसरण करते हुए उक्ति-वक्रता को ही अलंकार का मूलाधार माना है । अलंकारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में प्रतापरुद्रीय का बहुत महत्त्व है । सर्वप्रथम अलंकारों की तीन श्रेणियां गिनाई गई हैं -- शब्द, अर्थ और शब्दार्थ ।

शब्दालंकारों के अन्तर्गत यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्रालंकारों के अतिरिक्त तीन अनुप्रासों छेक, वृत्ति और लाट, इन छ:अलंकारों का उल्लेख किया है । शब्दालंकार प्रकरण में ही विद्यानाथ ने अर्थालंकारों का वर्गीकरण भी किया है । अर्थालंकारों को उन्होंने चार श्रेणियों में बांटा है -- वस्तुरूप, औपम्यरूप,

स्फुटरूप तथा अस्फुटप्रतीयमान । इस विभाजन में यह मान लिया गया है कि प्रत्येक अलंकार के मूल में व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ रहता है । अलंकारों के इन चार विभागों के बाद विद्यानाथ ने अलंकारों के अवान्तर विभाग भी किये हैं जो कि अधिकांशत: आचार्य रुय्यक के वर्गीकरण सिद्धान्त पर आधारित हैं । इस वर्गीकरण में साधर्म्य मूलक वर्ग के अन्तर्गत उन अलंकारों को रखा गया है जिनमें तुलना की आवश्यकता होती है । इसकी भेद, अभेद और भेदाभेद प्रधान तीन श्रेणियां की गयी हैं । इसके अतिरिक्त अध्यवसाय, विरोध, न्याय, शृंखलावैचित्र्य, अपह्नव और विशेषणवैचित्र्यमूलकभेद किये हैं । विरोध मूलक वर्ग में उन अलंकारों की गणना की गयी है जिनके मूल में विरोध की भावना निहित है । न्यायमूलक वर्ग में लौकिक तथा शास्त्रीय न्याय से सम्बद्ध अलंकार हैं । शृंखलावैचित्र्यमूलक वर्ग में ऐसे अलंकार हैं जो पद या वाक्य अन्य पद या वाक्य के साथ शृंखला के रूप में सम्बद्ध रहते हैं । अपह्नव-मूलक वर्ग विद्यानाथ की नूतन उद्भावना है । वास्तव में अनेक अलंकारों के मूल में अपह्नव या गोपन का तत्व रहता है । विशेषणवैचित्र्य के आधार पर विद्यानाथ ने उन अलंकारों को रखा है जिनमें विशेषण के वैचित्र्य के कारण प्रतीयमान अर्थ का प्राधान्य रहता है । उपर्युक्त वर्गीकरण रुय्यक के वर्गीकरण पर आधारित होने के बावजूद कहीं-कहीं भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । विद्यानाथ ने उपमा के भेद मम्मट के आधार पर किये हैं । अलंकारसर्वस्व और प्रतापरुद्रीय का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कुछ परिवर्तनों को छोड़कर प्रतापरुद्रीय में जो अलंकार दिये गये हैं वे अलंकारसर्वस्व पर आधारित हैं । भ्रान्तिमान् अलंकार तक तो पूरी समानता है । इसके बाद अनेक स्थानों पर बार-बार अलंकारसर्वस्व से साम्य दिखाई देता है । प्रतापरुद्रीय की अलंकारों की परिभाषाएं कहीं-कहीं शब्दत: और कहीं भावत: अलंकारसर्वस्व पर आधारित हैं । कहीं-कहीं कुछ परिभाषाओं को विद्यानाथ ने रुय्यक के लक्षणों से विशद् बनाया है । विद्यानाथ रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों के वर्णन में रुय्यक के बहुत निकट हैं । रुय्यक द्वारा दी गयी रूपक कोटि को विद्यानाथ ने उसी प्रकार ग्रहण कर लिया है यद्यपि ये विचार काव्यप्रकाश में भी दृष्टिगोचर होते हैं । उत्प्रेक्षा की विभिन्न कोटियों के सम्बन्ध में विद्यानाथ अलंकारसर्वस्व पर आधारित हैं किन्तु रुय्यक द्वारा गिनाये बहुसंख्यक उत्प्रेक्षाओं

को विद्यानाथ ने काफी कम कर दिया है ।

विद्यानाथ ने शब्दालंकार और अर्थालंकार के अतिरिक्त मिश्रालंकार वर्ग भी स्वीकार किया है । इस वर्ग में संसृष्टि और संकर को रखा है । इस प्रकार विद्यानाथ का प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ पूर्ण होता है । यद्यपि विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ में मम्मट, रुय्यक, धनञ्जय, आनन्दवर्धन, रुद्रभट्ट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का आश्रय भिन्न-भिन्न सिद्धान्त के लिये लिया है किन्तु इसके बावजूद उनके विचारों की स्वतंत्रता स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होती है । हम कह सकते हैं कि प्रतापरुद्रीय निश्चय ही परवर्ती काल का श्रेष्ठ ग्रन्थ है ।

-o-

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायकग्रन्थ सूची

१- आचार्य वामन और रीतिसिद्धान्त - काव्यालंकार सूत्र वृत्ति - आचार्य वामन कृत, काव्यालंकारदीपिका नामक हिन्दी व्याख्यायुक्त, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, सम्पादक - डा० नगेन्द्र, रामलालपुरी आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५४ ई०।

२- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति - आचार्य वामनकृत, हिन्दी व्याख्याकार पं० केदारनाथ शर्मा, चौखम्बा अमर-भारती प्रकाशन, वाराणसी।

३- अलंकारकौस्तुभ - विश्वेश्वरपंडितविरचित, संपादक - महामहोपाध्याय पंडित शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९८ ई०।

४- अलंकारमञ्जूषा - भट्टदेवशंकर पुरोहित विरचित, टिप्पणी- सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे, प्राच्य ग्रन्थ संग्रह, उज्जैन, १९४० ई०।

५- अलंकार मीमांसा - डा० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६५ ई०।

६- अलंकारसर्वस्वसञ्जीविनी - श्रीमद्राजानकरुय्यक प्रणीत, श्री विद्याचक्रवर्ति प्रणीत सञ्जीविनी टीका, अनुवादक और संपादक - डा० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६५ ई०।

७- हिन्दी अलंकारसर्वस्वम् - राजानक रुय्यक कृत, जयरथ कृत विमर्शिनी टीका युक्त, हिन्दी व्याख्याकार- डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी । प्रथम संस्करण १९७१ ई० ।

८- काव्यादर्श: - आचार्य दण्डी विरचित, `प्रकाश` संस्कृत हिन्दी व्याख्यायुक्त, व्याख्याकार- आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८ ई० ।

९- काव्यादर्श : - आचार्य दण्डी विरचित, नृसिंहदेवशास्त्री कृत कुसुमप्रतिमा संस्कृत व्याख्या, मेहरचन्द्रलक्ष्मणदास, लाहौर, द्वितीय संस्करण १९९० ई० ।

१०- काव्यालङ्कार - आचार्यभामह कृत, भाष्यकार- देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९६२ ई० ।

११- काव्यालङ्कार - रुद्रटप्रणीत, नमिसाधुकृत टीका, वंशप्रभा नामक हिन्दी टीका, हिन्दी व्याख्याकार - डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन माडल टाउन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६५ ई० ।

१२- हिन्दी काव्यालंकार - रुद्रटप्रणीत, नमिसाधुकृत टीका, प्रकाश हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार- श्री रामदेव शुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६६ ई० ।

१३- काव्यालंकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या - आचार्य उद्भट कृत, प्रतिहारेन्दुराज कृत लघुवृत्ति नामक टीका, हिन्दी व्याख्या - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६६ ई० ।

१४- काव्यप्रकाश भाग १ - श्री मम्मट प्रणीत, ज्योतिष्मती हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार - डा० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८२ ।

१५- काव्यप्रकाश भाग -२ ,, ,, प्रथम संस्करण १९८३ ।

१६- काव्यप्रकाश - आचार्य मम्मट कृत, मलकीकरोपनाम-युक्त भट्टवामनाचार्य विरचित बालबोधिनी टीका, भण्डारकर इंस्टीट्यूट पूना, पंचम संस्करण १९३३ ई० ।

१७- काव्यप्रकाश - आचार्य मम्मट, हिन्दी व्याख्याकार- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६० ई० ।

१८- काव्यमीमांसा - राजशेखर प्रणीत, जयकृष्णदास हरिदासगुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३१ ई० ।

१६- हिन्दी काव्यमीमांसा - राजशेखर कृत, प्रकाश हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार- डा० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १६६४ ।

२०- कादम्बरी - महाकवि बाणभट्ट विरचित, पं० कृष्णमोहनशास्त्री कृत चन्द्रकला एवं विद्योतिनी नामक संस्कृत हिन्दी व्याख्यायुक्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी १६५० ।

२१- काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन - डा० शोभाकान्त मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, १६७२ ई० ।

२२- कुवलयानन्द - अप्पयदीक्षितकृत, हिन्दी व्याख्या- डा० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्या भवन, बनारस, १६५६ ।

२३- काव्यानुशासन - श्री हेमचन्द्र विरचित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६०१ ई० ।

२४- चित्रमीमांसा - अप्पयदीक्षितकृत, व्याख्याकार - जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १६७१ ।

२५- दशरूपकम् - श्री धनञ्जय विरचित, धनिक कृत अवलोक टीका, समीक्षात्मक भूमिका एवं हिन्दी व्याख्या - डा० श्रीनिवास शास्त्री, साहित्यभण्डार, मेरठ, चतुर्थ संस्करण १६७६ ।

२६- ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धन कृत, लोचन टीका युक्त, हिन्दी व्याख्या आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, १६५२ ।

२७- ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धनाचार्य कृत, लोचन टीका सहित, हिन्दी व्याख्या - डा० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १६६३ ।

२८- ध्वन्यालोक : - श्रीमदानन्दवर्धन विरचित, लोचन टीका-युक्त, हिन्दी व्याख्या - आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १६८२ ।

२६- ध्वन्यालोक - श्रीआनन्दवर्द्धन विरचित, दीपशिखा टीका युक्त, टीकाकार- आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १६८३ ।

३०- ध्वनिसिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएं - डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १६७२ ।

३१- नाट्यशास्त्रम् - श्रीभरतमुनि प्रणीत, सम्पादक - पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बल्देव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १६२६ ई० ।

३२- नाट्यशास्त्र - श्रीभरतप्रणीत, लेखक - रघुवंश, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी,

३३- नाट्यशास्त्र - भरतमुनि प्रणीत, हिन्दी व्याख्या श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९७८ ।

३४- नञ्जराजयशोभूषण - श्रीनरसिंह प्रणीत, भूमिका लेखक और सम्पादक - ई० कृष्णामाचार्य, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९३० ई० ।

३५- नाटकलक्षणरत्नकोश - सागरनन्दी प्रणीत, `प्रभा` हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९७२ ।

३६- नैषधमहाकाव्यम् (पूर्वखण्ड) - महाकवि श्रीहर्षविरचित, मल्लिनाथ कृत `जीवातु` टीका, हिन्दी व्याख्या - पं० हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९५० ई० ।

३७- प्रतापरुद्रयशोभूषण - विद्यानाथ कृत, संपादक के० पी० त्रिवेदी, बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, बम्बई १९०९ ई० ।

३८- प्रतापरुद्रीय - विद्यानाथ कृत, रत्नापण टीका युक्त, भूमिका लेखक डा० वी० राघवन्, संस्कृत विद्या समिति, मद्रास, द्वितीय संस्करण १९७९ ।

३६- प्रतापरुद्रीयम् - विद्यानाथ कृत, रत्नापण टीका युक्त, हिन्दी व्याख्या - आचार्य मधुसूदन शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण १६८१ ।

४०- भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण - आचार्य नन्दिकेश्वर कृत, हिन्दी व्याख्या वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद १६६७ ई० ।

४१- भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त - डा० राजकिशोर सिंह, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ, १६८४ ई० ।

४२- भारतीय काव्यशास्त्र - डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १६८५ ई० ।

४३- भोजकृत शृङ्गारप्रकाश - डा० वी० राघवन्, हिन्दी अनुवाद - डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, तृतीय संस्करण १६८१ ई० ।

४४- वक्रोक्तिजीवितम् - आचार्य कुन्तक कृत, हिन्दी व्याख्या श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण १६६७ ई० ।

४५- विक्रमाङ्कदेवचरितम् प्रथम भाग (१-७ सर्ग) - महाकवि बिल्हण कृत, विश्वनाथशास्त्रि भारद्वाजकृत संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्यायुक्त, संस्कृत साहित्य रिसर्च कमेटी, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, १६५८ ई० ।

४६- रसगंगाधर - पंडितराजजगन्नाथ कृत संस्कृत व्याख्या बदरीनाथ झा, हिन्दी व्याख्या- मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १६५५ ई० ।

४७- साहित्यदर्पण - विश्वनाथ कृत हिन्दी व्याख्या-शालग्राम शास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १६५६ ।

४८- साहित्यदर्पण - विश्वनाथ कृत, सविमर्श 'शशिकला' हिन्दी व्याख्याकार - डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६५७ ई० ।

४६- संस्कृत नाट्य सिद्धान्त - डा० रमाकान्त त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १६६६ ई० ।

५०- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग -१ - एस० के० डे, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, प्रथम संस्करण, १६७३ ।

५१- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास भाग- २ - एस० के० डे, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, १६७३ ।

५२- संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १६८५ ।

५३- संस्कृत नाटक - ए० बी० कीथ, हिन्दी अनुवाद डा० उदयभानु सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६६५ ।

५४- संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान रवीन्द्रपुरी दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, १६७३ ई० ।

५५- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा - चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा शान्तिकुमार नानूराम व्यास, साहित्य निकेतन, कानपुर, १६६७ ई० ।

५६- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, सम्पादक - डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६६६ ।

५७- सरस्वतीकंठाभरण - भोजराज कृत, संपादक - आनन्दराम बोहरा, पब्लिकेशन बोर्ड आसाम, गोहाटी, प्रथम संस्करण, १६६६ ।

५८- शृङ्गारप्रकाश - महाराजा श्री भोजदेव रचित, गोमठ रामानुज ज्योतिषिक संस्थापक, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ प्रकटन विरल संस्था, मैसूर, १६६३ ।

५९- शृङ्गारतिलक - रुद्रभट्ट कृत, प्रस्तावना और सम्पादन - आर० पिशेल, हिन्दी अनुवाद-कपिलदेव पाण्डेय, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १६६८ ।

६०- हर्षचरितम् - महाकवि बाणभट्ट विरचित, चूडामणिशंकर की टीका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, षष्ठ संस्करण १९३७ ।

६१- हिन्दी नाट्यदर्पण - रामचन्द्रगुणचन्द्र कृत, हिन्दी व्याख्या और भूमिका, आचार्य विश्वेश्वर, सम्पादक - डा० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९६१ ।

६२- हिन्दी अभिनवभारती - आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत नाट्यशास्त्र विवृत्ति, प्रधान सम्पादक - डा० नगेन्द्र, सम्पादक तथा भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६० ।

६३- दक्षिणभारत का इतिहास - डा० के० ए० नीलकंठशास्त्री, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

--

English Books

1. History of Sanskrit poetics by P.V. Kane, Sundar Lal Jain Motilal Banarsidass, Delhi, Third revised edition, 1961.
2. A History of Sanskrit Literature by A.B. Keith, Oxford University Press, Ely House, London, First edition, 1920.
3. History of Sanskrit Poetics by S.K. De. Firma K.L. Mukhopadhyay 6/1A, Bancharam Akrun Lane, Calcutta, Second edition, 1960.
4. A History of Sanskrit Literature by A. Macdonell, Motilal Banarsidass, Delhi, 1962.
5. Summaries of Papers, Edited by Professor E.A. Solomon, Published by Local Secretary All-India Oriental Conference. Thirty-Second Session, Gujrat University, Ahamdabad 1984-85.